सस्ता साहित्य मंडल का ११६वां ग्रंथ

रुपए की कहानी

लेखक

घनश्यामदास बिड़ला

पारसनाथ सिंह

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

प्रकाशक :
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

स्वतंत्रता दिवस १९४४
मूल्य
ढाई रुपया

मुद्रक :
देवीप्रसाद शर्मा,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

समर्पण

कोई तीन साल की बात है, गांधीजी ने मुझसे कहा "हिन्दी में हुंडी और चलण पर एक ऐसी सरल पुस्तक लिखो जो हर कोई आसानी से समझ सके।" उसी आज्ञा का फल यह पुस्तक है।

सारी कहानी दो हिस्सों में सुनाई गई है। जब लिखना शुरू किया था तब तो सोचा था कि पूर्व भाग मीमांसा का होगा और उत्तर भाग रुपए की हुंडी का इतिहास होगा और सारा-का-सारा स्वयं मैं ही लिखूंगा। पर मीमांसा-भाग समाप्त करते-करते जब इतिहास-भाग के लिए मसाला इकट्ठा करने लगा तब स्मरण आया कि "फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर्स आफ कामर्स ऐण्ड इंडस्ट्री" के तत्वावधान में श्रीपारसनाथ जी ने, कुछ साल पहले, रुपए की हुण्डी का एक अच्छा इतिहास अंग्रेजी में लिखा था। इसलिए उपयुक्त यही लगा कि मैं श्रीपारसनाथ जी से कहूं कि इस ग्रंथ का इतिहास-भाग भी वही लिख दें और उसमें यथासम्भव आजतक की बातों का समावेश कर दें।

इस तरह मीमांसा-भाग मैंने लिखा और इतिहास-भाग श्रीपारसनाथ जी ने।

जिनकी आज्ञा से यह सब कुछ हुआ वे तो फाटक के भीतर बन्द हैं, इसलिए छपने के पहले इसे गांधीजी को दिखा देना असम्भव था। उन्हें बिना दिखाए ही यह छापाखाने में जा रहा है।

गांधीजी की आज्ञा थी कि इस जटिल विषय को सरल भाषा में लिखा जाय। हम दोनों ने कोशिश तो यही की है, पर कहां तक सफलता मिली है यह तो पाठक ही बता सकेंगे।

जिनकी आज्ञा से यह पुस्तक लिखी गई उन्हीं महापुरुष के चरणों में यह समर्पित की जाती है।

मकर संक्रान्ति, सं० २०००]

घनश्यामदास बिड़ला

(पूर्व भाग)

मीमांसा

विषय-सूची

रुपए की कहानी

१

इस पुस्तक के नाम को सुन कर शायद किसीका यह ख़याल हो कि यह चांदी के सिक्के की कथा है, जिसमें यह बताया गया है कि चांदी पहले खानों में से कैसे निकली, फिर कैसे गलाई गई, कैसे इसके पात बने, फिर टकसाल में कैसे रुपए ढाले गए, इत्यादि। बच्चों की बालबोधिनी में अक्सर ऐसी कथाएं आती हैं। पर यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। इस पुस्तक का सम्बन्ध है रुपए की करामात से।

इसे सुन कर भी शायद कोई हँस पड़े। 'कौन है नावाकिफ रुपए की करामात से कि इसकी भी कहानी लिखी जाय?' ऐसा वह कह तो सकता है। पर यह कथन अज्ञान का द्योतक होगा। रुपए की बाहरी ताकत से लोग चाहे अनभिज्ञ न हों, पर रुपए के पीछे कौन-सी शक्ति है जिसने इसे ताकत दी, इस बारे में आम जनता का ज्ञान बिलकुल अपूर्ण है।

उदाहरणार्थ. आम लोग तो यही मानते हैं कि रुपए की कीमत स्थिर है। जिन्सों की दर चाहे घटे-बढ़े, पर रुपए की दर तो सुमेरु की तरह अचल है। यह कथन उतना ही सत्य है जितना कि यह कहना कि "पृथ्वी अचल है। पृथ्वी नहीं, सूर्य, चांद और तारे ही घूमते हैं। यदि पृथ्वी घूमती तो रात के समय हमारे पांव ऊपर की ओर और सर नीचे की ओर होता।" कोई नादान ही ऐसी नादानी की बात कह सकता है। पर जैसे पृथ्वी घूमती है वैसे ही रुपए की कीमत भी घटती और बढ़ती है।

सन् १९२६-२७ में बड़े जोर से एक आन्दोलन हुआ था कि रुपए की दर १ शिलिंग ६ पेंस निर्धारित न होकर १ शिलिंग ४ पेंस निर्धारित हो। रुपए की दर के सम्बन्ध में इसी तरह का एक आन्दोलन सन् १९१९ में भी बड़े जोर-शोर के साथ चला था। उस समय सरकार ने रुपए की दर

२ शिलिंग निर्धारित की थी। प्रजा-पक्ष के लोगों का कहना था कि यह दर ऊँची है, १ शिलिंग ४ पेंस से ऊँची दर हर्गिज निर्धारित नहीं होनी चाहिए. इससे ऊँची दर टिक नहीं सकेगी और ऊँची दर टिकाने की कोशिश से देश को हानि है। हुआ भी अन्त में ऐसा ही, पर करोड़ों रुपए खो देने के वाद। इसके पहले भी एक आन्दोलन १८९३ और फिर १८९८ के करीव इसी तरह दर के सम्बन्ध में चला था।

यह रुपए की दर का झगड़ा क्या था? रुपए की दर आखिर है क्या? कैसे इसकी निर्धारित दर को टिकाया जाता है? घटा-बढ़ी दर में क्योंकर होती है? घटा-बढ़ी से हानि-लाभ क्या है? क्या कोई घटा-बढ़ी के लिए जिम्मेवार है? कौन इसकी व्यवस्था करता है? समाज में सिक्के का स्थान क्या है, और प्राचीन सिक्का-प्रथा और अब की सिक्का-प्रथा में क्या भेद है?

इन प्रश्नों के झमेले में शायद कोई पड़ता ही नहीं। इस विषय को जो समझना चाहते भी हैं वे यह मान कर सन्तोष करते हैं, कि यह प्रश्न अर्थ-शास्त्री ही समझ सकते हैं, यह चीज सर्वसाधारण के बूते के बाहर की है। फिर भी यह सही है कि रुपए की कथा जितनी रोचक है उतनी जटिल नहीं है। जटिल थोड़ी-सी है, तो अर्थ-शास्त्रियों ने बड़ी-बड़ी पेचीदा शब्दमाला का प्रयोग करके इसे और भी जटिल बना दिया है। सीधी भाषा में लिखने से यह सम्भव है कि हम इसे सरल बना दें।

पहले पहल तो हमें यह जानना चाहिए कि यह रुपया है क्या?

"भाई भलो न भैयो. सबसे बड़ो रुपैयो"—ऐसा जब कोई कहता है तब तो रुपए के निश्चित मूल्य को ध्यान में रख कर यह उक्ति नहीं कही जाती; क्योंकि रुपए की निश्चित निर्धारित मूल्य और "भैयो भाई" के बीच यहां तुलना नहीं है। यहां तो रुपए को धन का साधारण प्रतीक मान कर उसकी महिमा को बखानना है। और उस महिमा को शास्त्रीय विधि से समझने के लिए हमें गहरे पानी में उतरना होगा, रुपए के सब पहलुओं पर विचार करना होगा और उन पहलुओं से क्या हानि-लाभ है, समझना होगा।

पर मेरा प्रस्ताव है कि सबसे पहले हम यह समझ लें कि सिक्के के चलण की जरूरत क्या है और कैसे-कैसे इसकी व्यवस्था में प्रगति हुई।

सिक्के की आवश्यकता

एक पल के लिए हम यह कल्पना करें कि एक ऐसा समाज है जिसमें सिक्का है ही नहीं; और फिर हम अपने मन में एक ऐसा नक्शा खैंचें जो हमें यह बताए कि बिना सिक्के के उस समाज का रोजमर्रा की खरीद-फरोख्त और लेन-देन का व्यवहार कैसे चलेगा। मान लीजिए कि ऐसे बेसिक्के के समाज में एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है और कुछ नए वस्त्र भी हैं। दूसरा उसका पड़ोसी है। उसके पास कुछ कपास है, और कुछ भूसा भी है। एक तीसरे पड़ोसी के पास घी है, और कुछ तेल भी है।

अब ये तीनों आदमी सुबह उठकर कुछ तरकारी और दूध खरीदने के लिए निकलते हैं और दूध और तरकारी बेचनेवालों के पास पहुँचते हैं। दूधवाले को एक ने कहा कि मेरे पास कुछ कपड़ा है, उसे तुम ले लो और बदले में मुझे दूध दे दो। इसी तरह तरकारी बेचनेवाले से इसने कहा कि कुछ तरकारी दे दो और बदले में मुझसे कुछ अन्न ले लो। पर तरकारी बेचनेवाले और दूध बेचनेवाले—दोनों को न कपड़ा चाहिए, न अन्न चाहिए। इसलिए वे या तो कपड़े या अन्न से तरकारी और दूध का बदला करने से इनकार करेंगे, या दूध और तरकारी के बदले में इतनी ज्यादा मिकदार अन्न और कपड़े की मांगेंगे कि शायद ये सज्जन बिना दूध और तरकारी के रहना पसन्द करेंगे। नतीजा यह होता है कि बिना दूध और तरकारी के ही ये सज्जन वापिस घर लौट आते हैं।

दूसरे पड़ोसी के पास कुछ कपास और भूसा है। दूध बेचनेवाले को भूसे की जरूरत है, इसलिए भूसे से दूध का बदला करने पर तो वह राजी हो जाता हैं। पर कपास उसे नहीं चाहिए। इसलिए कपास पड़ोसी के पास ज्यों-की-त्यों अनचाही वस्तु के रूप में पड़ी रह जाती है।

इसके बाद ये तीनों पड़ोसी कुछ मसाला खरीदने निकलते हैं। मसालेवाले को कुछ कपड़े की जरूरत है। इसलिए प्रथम सज्जन का कपड़ा लेकर

वह बदले में उसे मसाला दे देता है। पर उसे अन्न नहीं चाहिए। इस उपरोक्त सज्जन का अन्न ज्यों-का-त्यों उनके पास रह जाता है। पड़ोसियों के पास कुछ घी है, तेल है, कपास है और भूसा है। उन्हें मसाला लेना है। पर मसालेवाले को न घी की जरूरत है, और न तेल, कपास या भूसा चाहिए। इसलिए वह इन चीजों के बदले में मस देने से इनकार कर जाता है।

अदला-बदली की व्यवस्था से असुविधा

अब प्रथम सज्जन को दूध, तरकारी, मसाला, ये तीन चीजें लेनी उनमें से उन्हें केवल मसाला मिला। इनके पड़ोसियों को भी तीनों लेनी थीं। उनमें से केवल एक को दूध मिला। अब ये सब लोग इसी में हैं कि जो चीजें इनके पास हैं उनकी चाह वाला कोई दूध, तरव और मसालाफरोश मिले तो इन लोगों को अपनी इच्छित वस्तुएँ मि और जब तक परस्पर की इस अदला-बदली की चाह वाले मनुष्य मिलते तब तक इन्हें अपनी इष्ट वस्तुओं के बिना गुजारा करना प है। इन लोगों के पास जो चीजें हैं उनकी जरूर किसी-न-किसी को है। वैसे ही जिनके पास दूध, तरकारी और मसाला है उन्हें भी इन चं को देकर दूसरी चीजें लाना है। पर जब तक परस्पर की अदला-ब वाले मनुष्य नहीं मिल जाते तब तक सभी को अपनी-अपनी इच्छा- के लिए बैठे रहना पड़ता है।

इस उदाहरण के आधार पर आप हजारों बेचनेवालों और हज खरीदनेवालों की कल्पना कर सकते हैं, जिनमें किसीको कोई चीज चाहि और किसीके पास कोई चीज आवश्यकता से ज्यादा है, जिसके लिए गाहक ढूंढ रहा है। इन चीजों की अदला-बदली के लिए ये हजारों आ गाहक ढूंढते-ढूंढते शाम तक थक जायेंगे और फिर भी शायद उनका स समय पर समाप्त न होगा। ऐसे समाज में समय की कितनी बरबादी हो कितनी अव्यवस्था होगी, भोले आदमी को चालाक आदमी कैसे ठग लेगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

इसके अलावा ऐसे समाज में यह जोखिम तो रहेगी ही, कि इस अदला-बदली में वस्तु की जात बिगड़ेगी, और तोल-जोख में चीजें बरबाद भी होंगी। समय की बरबादी, चीजों की बरबादी और चीजों की जात की बरबादी ! और रोज का झगड़ा, तकरार, ठगी, यह अलग। जैसे बिना राजा के राज्य में अंधेर अवश्यम्भावी है, वैसे ही बिना सिक्के के समाज में लेनदेन के राज्य में यह अंधेर अनिवार्य हो जाता है।

अंधेर को मिटाने के लिए, व्यवस्था-स्थापना के लिए, शांति-रक्षा के लिए जैसे मनुष्यों ने मिल कर मनु से राज्यसिंहासन पर बैठने की प्रार्थना की, और उन्होंने राजा बन कर सुख और शांतिका संचार किया, वैसे ही किसी समझदार राजा ने समाज के लेनदेन के क्षेत्र में अराजकता और इस गड़बड़ को मेटने के लिए सिक्के को राज्यसिंहासन पर बैठाया।

जैसे बुरी राज्य-प्रणाली, शांति और अमन का स्थापन करके भी, अन्य बातों में समाज को हानिप्रद हो सकती है, वैसे ही सिक्का-प्रणाली भी यदि बुरी तरह या बदनीयती से संचालित की जाय तो सिक्के के क्षेत्र में राजकता और नियम होते हुए भी, समाज के लिए हानिकारक साबित हो सकती है।

जो हो, सिक्के की समाज में क्या आवश्यकता है, इसके बिना कितनी असुविधा हो सकती है, इसका उत्तर ऊपर दिए हुए काल्पनिक उदाहरण से समझ में आ जायगा।

सिक्का शुरू-शुरू में कब चला, यह बताना तो असंभव है। पर हजारों साल पहले सिक्का था, इतना तो निश्चित है। प्राचीन समय में सोना, चांदी, तांबा, पत्थर, कौड़ी—इनके अलावा और भी वस्तुओं के सिक्के चलते थे।

वैदिक काल में यहां सोने के सिक्के चलते थे जिनके नाम निष्क, शतमान, सुवर्ण, पाद आदि थे। बाद चांदी के सिक्कों के नाम मिलते हैं—जैसे पण, कार्षापण, विंशतिक, त्रिंशतिक आदि। रुपया शेरशाह का चलाया हुआ बताया जाता है।

सिक्का राजा ने क्यों चलाया ?

यह प्रश्न हो सकता है कि सिक्का राजा ने ही क्यों चलाया ? व्यापारी भी तो चला सकते थे। या तो इन अदला-बदली करनेवालों ने ही क्यों न इसका संचालन किया ? इसका उत्तर कठिन नही है।

यदि लोग जिन्सों की अदला-बदली छोड़ कर सिक्के से हर चीज की अदला-बदली करें, जैसा कि सिक्के के आविर्भाव के बाद होता आया है, तो यह आवश्यक है कि सिक्के की साख इतनी जबरदस्त होनी चाहिए कि उस साख में किसीको वहम या शक करने के लिए रत्ती भर भी गुंजाइश न हो। यदि हम जिन्सों की जिन्सों से अदला-बदली करते हैं तो उन अदला-बदली की जानेवाली जिन्सों की जात, उनकी माप-तौल वगैरह, सब चीजों को सामने रख कर कितनी अमुक जिन्स से कितनी दूसरी अमुक जिन्स की अदला-बदली हो, इनका लेने और देनेवाले दोनों को विचार करना पड़ता है। इस विचार में बहस-मुबाहसा तो होता ही है, पर चूंकि किसी भी जिन्स की जात हर हालत में एक-सी नहीं बनी रहती, इसलिए जात की निरख की बार-बार जरूरत पड़ती है। इसमें समय की बरबादी होती है, बकझक होती है—फिर भी लेने-देनेवाले को पूरा सन्तोष नहीं होता।

इस बकझक को मिटाने के लिए ही तो सिक्का सिंहासन पर बैठा था। इसके माने यह थे कि सिक्के के सफलता से चलने के लिए यह आवश्यक था कि जैसे जिन्सों की जात और माप-तौल के बारे में रोजमर्रा की निरख की जरूरत पड़ती थी वैसे कोई जरूरत सिक्के की जात और माप-तौल की निरख के सम्बन्ध में न रहे—अर्थात् सिक्कों में जो धातु है उसकी जात सदा यकसां हो और उसकी तौल भी सदा यकसां हो। इस निश्चितता से ही तो सिक्के की धाक और साख जमती है। फिर यदि सिक्के की भी जात, माप-तौल पर लेने-देनेवालों के बीच बहस जारी रहे, तो सिक्के के राज्य में भी वही अराजकता आ जाती है जो जिन्सों की अदला-बदली में थी, और सिक्का ऐसी हालत में एक अजा-गल-स्तनवत् निकम्मी चीज बन जाता है।

प्राचीन समय में जब सिक्के का आविर्भाव हुआ तब सिक्के की कीमत इसी बुनियाद पर टिकी थी कि इसमें कितनी, कौनसी और कितनी अच्छाई की धातु है। धातु की कीमत पर ही तो आखिर सिक्के की साख थी। मान लीजिए कि एक सुवर्ण-मुद्रा में एक तोला खालिस १०० की अच्छाई का सोना है, तो उस मुद्रा की कीमत है—१ मुद्रा=१ तोला १०० की अच्छाई का सोना। जब एक मनुष्य एक गाय १ सुवर्ण मुद्रा में बेचता था तो वह यह मान लेता था कि मैंने एक तोला सोना १०० की अच्छाई का पाया है; याने उस मुद्रा की साख इस बात पर थी कि निश्चयात्मक रूप से उसमें १ तोला सुवर्ण है और वह सुवर्ण १०० की अच्छाई का है। गाय बेचनेवाले को इन दो बातों के सम्बन्ध में कभी कोई शक नहीं होना चाहिए कि मुद्रा में सोना १ तोला से कम भी हो सकता है, या तो अच्छाई १०० नहीं, ९८ भी हो सकती है। और यह निश्चय कैसे होगा?

सीधी बात है। जब तक उस मुद्रा की अच्छाई और वजन के बारे में कोई जोरदार व्यक्ति जामिन नहीं है तब तक उस मुद्रा की तौल और अच्छाई के बारे में लोगों के दिल में पूरा इतमीनान नहीं हो सकता। राजा को मुद्रा चलाने में क्यों बीच में पड़ना पड़ा, प्रजा ने ही क्यों नहीं मुद्रा चला दी, जिन्सों की अदला-बदली करनेवालों ने ही यह कारोबार क्यों न चला लिया, इसका उत्तर अब समझ में आ जायगा।

प्रजा यदि मुद्रा चलावे तो फिर उसमें भी एक ऐसे जबरदस्त व्यक्ति की जरूरत पड़ेगी, जिसकी साख आसमानी सुलतानी हरकतों से पैदा हुई बेबसी को छोड़ कर बाकी ध्रुव की तरह अचल हो। यदि लोभवश कोई मुद्रा का सोना कम कर दे या उसकी अच्छाई कम कर दे, तो फिर लोग तो चौपट हो जायँ; और मुद्रा चलानेवाला लोगों की श्रद्धा का अघटित फायदा उठा कर मालामाल हो जाय। और ऐसे धोखेबाज को फिर चाहे कारागार में ही क्यों न ठेल दिया जाय, पर लोगों को जो चौपट कर दिया गया उस घाटे की पूर्त्ति तो होने से रही।

इस तरह की धोखेबाजी न हो, लोगों की सिक्के की अच्छाई और तौल

में अटूट श्रद्धा बनी रहे, इस आश्वासन के लिए राजा को छोड़ अन्य कौन व्यक्ति उपयुक्त हो सकता था? इसके यह माने नहीं कि किसी राजा ने ऐसी धोखेबाजी नहीं की है। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं सही, जहां राजा ने भी लोभ का संवरण न करके ऐसा अघटित कर्म किया। पर ऐसे उदाहरण कम हैं। और यह बात भी है कि राजा के द्वारा इस तरह की गई धोखेबाजी के कारण जो क्षति हुई हो उसकी पूर्त्ति की संभावना है। साधारण नागरिक तो धोखा देकर नौ-दो-ग्यारह भी हो सकता है। इस-लिए इस काम के भार के लिए स्वभावतया ही राजा सर्वश्रेष्ठ माना गया।

कई मुल्कों में कई ऐसे सेठ भी हुए हैं जिनकी साख को लोगों ने राजा की साख से कहीं ऊंचा माना। यहां भी ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में जगत् सेठ को मुद्रा चलाने का अधिकार था, और वर्तमान समय में तो प्रायः हर मुल्क में सिक्के की व्यवस्था के लिए एक विशेष बैंक के हाथ में ही सिक्के-सम्बन्धी सारा कारोबार चला गया है। पर शुरू-शुरू में यह संभव नहीं था कि सिक्के की व्यवस्था किसी साधारण नागरिक के हाथ में हो। इसलिए राजा के हाथ में इस व्यवस्था का होना अनिवार्य हो गया।

इतिहास-लेखक एक युग को सुवर्ण-युग के नाम से पुकारते हैं। इसके बाद का युग रौप्य-युग हुआ, पीछे ताम्र-युग और अन्त में लौह-युग आया। सुवर्ण पृथ्वी के गर्भ में शुद्ध अवस्था में अन्य किसी धातु से अमिश्र मिलता है, और चांदी अन्य धातुओं से मिश्रित अवस्था में मिलती है। इसलिए चांदी एक युग में सुवर्ण की अपेक्षा दुर्लभ भी मानी जाती थी। यही कारण था कि उस प्राचीन काल में चांदी और ताम्र सुवर्ण से कहीं ज्यादा मूल्यवान माने जाते थे। जो हो, आज तो सोने और चांदी के सिक्के ही अधिक लोकप्रिय हैं, और इस लोकप्रियता के पीछे दृढ़ कारण भी हैं।

सिक्का सोने-चाँदी का क्यों?

अन्य किसी धातु या जिन्स के भी सिक्के कायम किए जा सकते हैं। मसलन, एक सेर गेहूँ का भी सिक्का हो सकता है। पर इसमें कितनी भारी अड़चनें हैं, यह सहज ही समझ में आ जायगा। यदि एक सेर गेहूँ का

एक सिक्का चलाया जाय, तो फिर १-१ सेर गेहूँ को अलग-अलग कोथलियों में हमें भर देना पड़ेगा। उसमें काम तो काफी बढ़ ही जायगा; पर जो साल भर की पुरानी कोथली होगी उसमें से यदि वह फट गई तो, कुछ गेहूँ निकल भी जायेंगे। इसलिए तौल का कोई भरोसा नहीं। गेहूं की जात भी २-४ साल के बाद कोथली में खराब हो सकती है। इसलिए नई कोथली, जिसमें नया गेहूँ होगा, उसे तो लोग स्वीकार कर लेंगे, पर पुरानी कोथली को कोई छूएगा भी नहीं, क्योंकि उसके गेहूँ की जात के सम्बन्ध में भी कोई खातिर नहीं। नतीजा यह होगा कि नई कोथली और पुरानी कोथली, याने नए और पुराने सिक्के, की कीमत में फर्क पड़ जायगा। पुरानी कोथली, अर्थात् पुराने गेहूँ के सिक्के, का बट्टा लगने लगेगा—अर्थात उसकी कीमत नई के मुकाबिले में नीची होगी। इसके अलावा गेहूँ की कोथली का सिक्का वजनी भी होगा। १०० सिक्कों को एक साथ उठाना करीब-करीब असम्भव-सा होगा। और भी अड़चन है। कोथलियों का कपड़ा किसी काम में न आकर बरबाद होगा, वह फिजूलखर्ची अलग। मेरा खयाल है कि इसमें कितनी असुविधा हो सकती है, इसे विस्तार से समझाने की जरूरत ही नहीं है। बताना तो यह है, कि यदि हम सुविधा-असुविधा का खयाल छोड़ दें, और कीमत की स्थिरता का खयाल भी छोड़ दें, तो सिक्का किसी भी चीज* का हो सकता है। ऐसे असुविधावाले सिक्कों का हमें प्राचीन समय में वर्णन भी मिलता है।

---

*संस्कृत व्याकरण में 'पंचगुः', 'पंचाश्वा', 'मौद्गिकम्' जैसे शब्द मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन समय में यहां पशु, अनाज आदि से चीजें 'खरीदी' जाती थीं। अंग्रेजी में pecuniary शब्द "आर्थिक" के अर्थ में व्यवहृत होता है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के pecunia शब्द से है, जिसका अर्थ है ढोर, अर्थात् गाय-बैल। कहते हैं कि महाकवि होमर ने जब कभी किसी चीज की कीमत बताई है तब बैलों की संख्या में—सो भारत की तरह ग्रीस में भी मूल्य मापने का काम इन पशुओं से लिया जाता था।

प्राचीन काल में धनिकों के धन की माप भी पशुओं से की जाती

सिक्का मेहनत की बुनियाद पर भी रचा जा सकता है। मसलन, एक मनुष्य की मेहनत के नोट निकाले जा सकते हैं, जो उस नोट के स्वामी को यह अधिकार देंगे कि वह नोट छापनेवाली बैंक या उसकी कोई व्यवस्था करनेवाली संस्था से एक मनुष्य की मजदूरी चाहे जब आह्वान कर ले।

पर इसमें भी असुविधा होगी। एक मनुष्य की मजदूरी—वह मोटे की या दुबले की, जवान की या बूढ़े की ? रोगी की या नीरोग की ? इन सब असुविधाओं को दूर करने के लिए स्वाभाविक ही यह तय पाया कि सिक्का ऐसी वस्तु का हो, जो ज्यादा सुलभ न हो, अर्थात् अति अधिक मिकदार में जिस वस्तु की पैदाइश न हो, जो जल्दी न छीजे, अर्थात् जल्दी से घिस न जाय; जिसकी जात में, सिक्का पुराना होने पर भी, कोई अन्तर न पड़े; और जिसकी जात अमुक अच्छाई की जांच-पड़ताल के बाद निश्चयात्मक रूप से कायम की जा सके; जिसकी थोड़ी-सी मिकदार में कीमत बड़ी हो; और जिसके, चाहे जितने टुकड़े किए जायँ, प्रत्येक टुकड़े की वजन के हिसाब से कीमत बनी रहे।

और चूंकि ऐसी वस्तुएँ सोना और चांदी ही थीं, प्रधान सिक्के की रचना इन्हीं धातुओं पर की गई। हीरे, पन्ने और अन्य रत्नों की रचना से थोड़े से वजन की काफी कीमत हो जाती. पर इनकी जात में इतना अन्तर होता है कि एक ही हीरा लाख रुपए रत्ती का भी हो सकता है, और सौ रुपए रत्ती का भी। सो सिक्के के वास्ते रत्न भी उपयुक्त नहीं थे। इसलिए वरमाल सोने-चांदी के गले में ही पड़ी।

थी। अमुक पुरुष के पास इतनी करोड़ गाएँ थीं, इसका तात्पर्य इतना ही है कि इतनी करोड़ गायों की उसके पास सम्पत्ति थी। अमुक ने इतनी करोड़ गाएं दान में दीं, यह भी दान की माप का द्योतक है। इससे यह पता लगता है कि जो स्थान आज सोने का या नोट का है वह किसी समय पशुओं का रहा होगा।

२

इस सिलसिले में हमें नोटों की रचना और उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना जरूरी है।

सिक्का, जैसा कि हमने पहले बताया है, अपनी कीमत स्वयं लेकर चलता है। एक सुवर्ण-मुद्रा १ तोला खालिस १०० की अच्छाई के सोने की है, तो वह कीमत उस मुद्रा के भीतर ही भरी पड़ी है। पर नोट में यह बात नहीं है। नोट एक दृष्टि से तो महज कागज का टुकड़ा है। कागज के टुकड़े की कीमत कैसी? पर नोट की कीमत इसलिए है कि हमें आवश्यकता हो तो नोट निकालनेवाली संस्था से हम चाहे जब उस नोट की कीमत तलब कर सकते हैं।

आजकल तो सभी मुल्कों की नोट निकालनेवाली संस्थाओं या प्रसारक कोठियों (Reserve Banks) ने नोट की स्वयंसिद्ध मुद्रा से अदला-बदली बन्द कर दी है। पर इससे नोट की साख में, देखने में, कोई अन्तर नहीं हुआ है, क्योंकि नोट के बदले में जिन्स या श्रम खरीदने में कोई कठिनाई नहीं है। नोट की जो कीमत है वह इसी आश्वासन पर व्यवस्थित है कि उसकी जिन्स या श्रम से अदला-बदली में कोई दिक्कत नहीं है, पर किसी कारणवश यदि नोट निकालनेवाली संस्था नेस्तनाबूद हो जाय या उस संस्था का दिवाला निकल जाय, तो फिर नोट की कीमत अखबार के टुकड़े से भी गई-बीती! इसके विपरीत, मुद्रा की कीमत चूंकि मुद्रा के भीतर ही है, इसलिए मुद्रा निकालनेवाला राजा हतश्री हो जाय या सिंहासनच्युत हो जाय तो भी मुद्रा के मालिक को कोई क्षति न होगी।

शायद नोट और सिक्के की तुलना के लिए साक्षात् विष्णु और विष्णु की मूर्त्ति की तुलना कुछ अंश तक उपयुक्त हो सकती है। साक्षात् विष्णु स्वयं विष्णु हैं, और पाषाण निरा पत्थर है। पर पत्थर की मूर्त्ति भक्त की दृष्टि

में प्राण-प्रतिष्ठा के बाद विष्णु-तुल्य ही इसलिए बन जाती है कि भक्ति-भाव में पूजने पर वह विष्णु की प्राप्ति करा देती है। कागज का टुकड़ा वैसे तो कागज ही है, पर नोट निकालनेवाली संस्था उसमें प्राणप्रतिष्ठा स्थापन करके उसे सजीव बना देती है—उसे कीमत का संपूर्ण प्रतिनिधित्व दे देती है।

पर शायद नोट की संपूर्ण उपमा हुण्डी से दी जा सके, क्योंकि नोट एक तरह की बेमीयादी हुण्डी है, जो चाहे जब नोट निकालनेवाली संस्था से सिकराई जा सकती है। इस संबंध में यह बता देना आवश्यक है कि रुपए की मुद्रा भी एक प्रकार का चांदी पर छपा हुआ नोट-मात्र ही है। रुपए के भीतर जो चांदी है उसकी कीमत पूरे एक रुपए की नहीं है। रुपए में पहले कुल १६५ ग्रेन अर्थात् ११/१२ तोला चांदी थी और उस चांदी की कीमत, आज से कुछ समय पहले के भाव से. (अर्थात् १०० तोले= ६२॥) कुल ०-९-२॥ पाई की होती थी। हाल में नया रुपया ढाला गया है जिसमें चांदी की मात्रा पहले से बहुत कम है अर्थात् १८० ग्रेन में कुल ९० ग्रेन। चांदी का भाव इस समय प्राय: १०० तोले= १२०) है। इस दर से भी नए रुपए की चांदी की कीमत प्राय: उतनी ही सी होती है। इसके माने यह हुए कि यदि रुपया चलानेवाली सरकार की अवहेलना करके, रुपए की मुद्रा के भीतर भरी हुई चांदी की कीमत के आधार पर ही, हम रुपए को बेचें, तो रुपए की कीमत हमें कुल प्राय: ॥~)॥ मिले। इसलिए रुपए के चांदी के सिक्के और नोट को हम स्वयंसिद्ध मुद्रा नहीं कह सकते।

पर वर्तमान समय में शायद ही ऐसा कोई मुल्क है जहां स्वयंसिद्ध मुद्रा कायम हो। १९३३ तक अमरीका का डॉलर स्वयंसिद्ध मुद्रा थी, पर वहां भी सिक्के के दामों में जब से सरकारी दस्तन्दाजी शुरु हुई और सिक्के के दाम गिराए गए तब से स्वयंसिद्ध मुद्रा, अर्थात् ऐसी मुद्रा जिसकी पूरी कीमत मुद्रा के भीतर ही हो, नहीं रही। जहां तक खयाल किया जाता है, आज सभी सुसभ्य देशों में नोटों का, अर्थात् प्रतीक-मुद्रा का ही चलण है।

इस प्रणाली अर्थात् नोटों के चलण के लाभ और हानियां अनेक हैं। इसका विश्लेषण आगे चल कर करेंगे।

नोट क्यों आया ?

पर स्वयंसिद्ध मुद्रा के बाद प्रतीक-मुद्रा अर्थात् नोट का आविर्भाव कैसे हुआ, इसका विचार भी कर लें।

जब संसार में लेन-देन बढ़ा और लाखों का लेखा और करोड़ों पर कलम चलने लगी तब स्वभावतया जिस मुद्रा को हमने 'कम वजनी और धनमूल्यवाली' माना था वह भी अधिक वजनी मालूम देने लगी। एक गाहक के यहां से हमें आज दस लाख रुपए का भुगतान मंगाना है और दूसरे को उतना ही भेजना है, तो यदि सब-का-सब लेन-देन सुवर्ण-मुद्रा में ही हो, तो करीब २५,००० सुवर्ण मुद्राएं—यदि एक सुवर्ण मुद्रा की कीमत ४० रुपए मान लें तो—हमें देनी और लेनी होंगी। इन मुद्राओं का वजन भी करीब ८ मन होगा। २५.००० सुवर्ण-मुद्रा के गिनने के लिए कितना समय चाहिए, और उस वजन को उठाने के लिए कितने आदमी चाहिए ! उसमें समय की कितनी बरबादी होगी, इसकी कल्पना आसान है। इसके अलावा यदि सिक्कों द्वारा भुगतान हो तो सिक्कों की घिसाई और उसके द्वारा होनेवाली धन की छीजत का भी प्रश्न तो है ही। इन सब असुविधाओं और क्षतियों के बचाव के लिए नोट अर्थात् प्रतीक-मुद्रा ने प्रवेश किया। इसमें न गिनने का इतना झंझट, न इतना वजन। १०० नोट यदि १०-१० हजार के दे दिए तो दस लाख का भुगतान समाप्त हुआ।

चेक क्यों चला ?

पर आगे चल कर व्यापार और लेन-देन ज्यादा बढ़ा तब तो प्रतीक-मुद्रा भी असह्य मालूम होने लगी और सारा लेन-देन चेक-द्वारा ही होने लगा। चेक एक तरह का आज्ञा-पत्र है, जो आज्ञा देनेवाला अपनी बैंक के नाम लिखता है कि इतना रुपया अमुक सज्जन को दिया जाय। और उस आज्ञापत्र पानेवाले को उतनी रकम बैंक से मिल जाती है। स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतिनिधित्व प्रतीक-मुद्रा को मिला, और उसके बाद एक कदम आगे

चले तो प्रतीक मुद्रा का स्थान चेक को मिला। सिक्के की प्रगति की यह कथा काफी दिलचस्प है।

हमारे देश में तो बड़े शहरों को छोड़ कर चेक का चलण कहीं नहीं है। चेक तो वहीं चल सकता है जहां प्रथम तो बैंक हों, दूसरे जहां लेन-देन का काम भी ज्यादा हो और बड़ी-बड़ी रकमों का लेन-देन हो। चूंकि गांवों में यह स्थिति नहीं है, इसलिए हमारे देश में तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चेक का चलण बड़े शहरों तक ही सीमित है; और नोटों का कस्बों और बड़े गांवों तक। छोटे गांवों में तो चांदी और तांबे के सिक्कों का ही चलण है। पर ये चांदी-तांबे के सिक्के भी तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, एक तरह के धातु पर छपे नोट—प्रतीक-मुद्रा ही हैं, क्योंकि उनकी स्वयंसिद्ध कीमत का उनकी निर्धारित कीमत से कोई मेल नहीं खाता।

नोट से लाभ

प्रतीक मुद्रा-प्रणाली के लाभ तो स्पष्ट हैं। वजन कम होता है। लेन-देन में, गिनती करने में, समय की बचत होती है। मुद्रा हाथों में से रोज-रोज निकले, उससे धातु की जो छीजत होती है उसकी बचत होती है। पर एक और भी लाभ है। मान लीजिए, सारे देश के लेन-देन के कारोबार के लिए १० करोड़ सुवर्ण-मुद्राओं की जरूरत है। यदि प्रति मुद्रा की ४० रुपए कीमत मान लें, तो इस हिसाब से ४०० करोड़ रुपए के सोने की, देश के लेन-देन की सहूलियत के लिए जरूरत होगी। पर यदि नोटों का चलण है तो यही काम बहुत थोड़े सोने से चल जाता है। आखिर नोट का काम तो इतना ही है कि वह उतनी निर्धारित मुद्राओं का स्वामित्व नोट के स्वामी को सौंपता है।

यह सही है कि आज ऐसा कोई मुल्क नहीं है जहां नोट के बदले बैंक सुवर्ण-मुद्रा दे दे। पर इससे नित्य-प्रति के व्यवहार में कोई बाधा नहीं पहुँची है। यदि सुवर्ण-मुद्रा भी हमें नोटों के बदले में मिलती तो उस मुद्रा का उपयोग भी हम जिन्स, सम्पत्ति या मनुष्य-श्रम

खरीदने में ही तो करते। और जब तक किसी मुल्क की साख सुरक्षित है तब तक सुवर्ण-मुद्रा प्रचलित न हो तो भी नोट क्रय-विक्रय में वही काम देता है, जो काम सुवर्ण-मुद्रा देती। इसलिए सुवर्ण-मुद्रा का अभाव किसीको नहीं खटकता। साख सुरक्षित है या नहीं, इसका पता भी तो, हमारे नोट की कीमत विदेशों में क्या है, इसीसे लगता है। इस प्रश्न का विवेचन तो आगे चल कर करेंगे; यहां तो मुद्रा के बजाय नोट-चलण में क्या-क्या किफायत है उसका दिग्दर्शन कराना है।

बताना तो यह था कि नोट का क्षेत्र इतना ही है कि वह उतनी निर्धारित मुद्राओं का स्वामित्व नोट के स्वामी को सौंपता है। मसलन, आपके पास दस सुवर्ण-मुद्रा का नोट है। (यह उदाहरण-मात्र है क्योंकि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, आज किसी भी मुल्क में स्वयंसिद्ध मुद्रा का चलण नहीं है) तो आप चाहे जब नोट-प्रसार करनेवाली बैंक या संस्था के पास जाकर अपना नोट देकर उसके बदले में १० सुवर्ण-मुद्राएं मांग सकते हैं, जिसके कि आप अधिकारी हैं, और वह बैंक आपको १० सुवर्ण-मुद्राएं दे देगी, जिसके लिए कि वह बाध्य है।

पर ऐसे किसी भी साधारण समय की कल्पना नहीं की जा सकती जबकि तमाम नोटवाले अपने नोट बैंक को पेश करके बैंक से नोटों के बदले में मुद्रा मांगेंगे। यदि देश के कारोबार के लिए १० करोड़ सुवर्ण-मुद्राओं के चलण की जरूरत है, और लोग अपनी सुविधा के कारण मुद्राओं से नहीं, पर प्रतीक-मुद्रा अर्थात् नोटों से अपना काम चलाना चाहते हैं, तो यह स्पष्ट है कि जब तक नोट चलानेवाली बैंक की साख साबित है तब तक कोई समझदार व्यक्ति नोट को भुना कर मुद्रा मांगने के झंझट में न पड़ेगा। इसलिए बैंक सावधानी के लिए १० करोड़ सुवर्ण-मुद्राओं के प्रतीकों के पीछे केवल ३ करोड़ सुवर्ण-मुद्रा अपने कोष में रखे तो भी पर्याप्त है।

इसके माने यह हुए कि यदि हम अपना कारोबार केवल सुवर्ण-मुद्राओं से ही चलाना चाहते हैं तब जहां १० करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के लिए ४०० करोड़ रुपए के सोने की जरूरत होगी वहां, यदि हम नोट-

प्रथा को अपना लें तो, कुल १२० करोड़ रुपए के सोने से ही काम चल जायगा—अर्थात बैंक १२० करोड़ रुपए के सोने के आधार पर आसानी से ४०० करोड़ रुपए की कीमत की प्रतीक-मुद्राओं का प्रसार कर देगी। बैंक को सोने में रोकना पड़ा कुल १२० करोड़ रुपया। नोट-प्रसार किए कुल ४०० करोड़ रुपए की कीमत के। नोट-प्रसारिणी बैंक का तलपट ऐसी हालत में इस प्रकार होगा—

४०० करोड़—नोट चलण मे डाले, इसकी कीमत आई	१२० करोड़—सोना खरीदा २८० करोड़—व्याज पर रोका
४०० करोड़	४०० करोड़

इस तरह २८० करोड़ रुपए का नाणा बेब्याज जो बैंक को मिल गया उसे लोगों को उधार देकर बैंक मुनाफा बना खाएगी। देश के लिए यह किफायतसारी अवश्य ही ग्राह्य चीज है। इस तरह नोट ने अपने गुणों से समाज को मुग्ध करके अपना सिक्का जमा लिया।

नोट से हानि

पर "जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार।" नोटों में गुण हैं तो अवगुण भी हैं। एक अवगुण तो प्रत्यक्ष है। चूंकि स्वयंसिद्ध मुद्रा की कीमत तो इसके गर्भ में ही है और प्रतीक-मुद्रा (नोट) की कीमत तो, जब तक प्रतीक-मुद्रा का प्रसार करनेवाली बैंक सलामत है, तभी तक कायम है, इसलिए राज-दुराजी के जमाने में नोटों में लोग सहज ही विश्वास खो बैठते हैं और स्वयंसिद्ध सिक्कों का संग्रह करके उन्हें दबाने लगते हैं।

इस महायुद्ध में पोलैण्ड, फ्रांस वगैरह मुल्कों में जहां-जहां राज गिरने की सम्भावना हुई वहां लोग नोटों में विश्वास खो बैठे। पर चूंकि स्वयं-सिद्ध मुद्रा का इन मुल्कों में चलण नहीं था इसलिए लोग जवाहरात या सोना—ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने लगे, या ऐसी वस्तुओं को लेकर देश के बाहर भागने लगे। यहां भी, जब फ्रांस की हार हुई, उस जमाने में लोगों ने

रुपयों का बुरी तरह संग्रह करना शुरू किया। यों तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रुपए का सिक्का भी एक तरह का नोट ही था, क्योंकि इसकी चांदी की कीमत तो कुल ९ आने २॥ पाई थी। पर रुपए के सिक्के के पक्ष में कुछ बातें थीं। आखिर इसकी स्वयंसिद्ध कीमत कागज के नोट की कीमत से तो ज्यादा ही थी। इसलिए लोगों ने घबड़ाहट में इसका संग्रह करना शुरू कर दिया।

यह संग्रह करने का मर्ज यहां तक बढ़ा कि छोटी रकमों के लेन-देन के लिए रुपए का सिक्का कुछ दिनों के लिए दुर्लभ-सा होने लगा था। सिक्कों की कोई कमी तो न थी, पर जब लोग भय से पागल-से हो जाते हैं उस समय बुद्धि से काम नहीं लिया जाता। इसलिए भयभीत लोगों ने चांदी के रुपयों की धरोहर इकट्ठी करके सिक्के का अकाल-सा पैदा कर दिया और अन्त में इस कठिनाई को दूर करने के लिए सरकार ने एक रुपए का नोट भी छापा और सिक्के दबा बैठने के विरुद्ध कानून भी बनाया। इस बीच में लोगों में भी विश्वास का पुनः संचार होने लगा। पर भय के या अविश्वास के जमाने में स्वयंसिद्ध मुद्रा की या तो चांदी के रुपए-जैसी अर्धस्वयंसिद्ध मुद्रा की साख तो कैसे सुरक्षित रहती है और प्रतीक-मुद्रा की साख कैसे नेस्तनाबूद होने लगती है, इसका आभास इस और पिछले महायुद्ध के इतिहास से मिल सकता है।

इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि स्वयंसिद्ध मुद्रा के मुकाबिले में प्रतीक-मुद्रा का सबसे बड़ा दोष तो यह है कि प्रतीक-मुद्रा की कीमत के स्थायित्व के बारे में या सुरक्षितता के बारे में घबड़ाहट के जमाने में पूरा यकीन तो कभी हो ही नहीं सकता। पर क्या इस सुरक्षितता के लिए इतनी बड़ी कीमत चुकानी वाजिब होगी, कि स्वयंसिद्ध मुद्रा का ही चलन रख कर हम सुवर्ण-मुद्राओं के भार का वहन करें, उनके गिनने-सम्हालने के झंझट में समय खोवें और उनकी छीजत—जो मुल्क के धन की छीजत होगी—उसे बरदाश्त करें? और इसके अलावा, जो काम १२० करोड़ रुपए के सोने से चल सकता है उसके लिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ४०० करोड़ रुपए की रकम को सोने में फंसा के रखें?

राज-दुराजी में अरक्षितता

आज हमारे देश में नोटों का कुल चलण प्राय: ८०० करोड़ रुपए की कीमत का होगा। पर कुछ समय पहले यह चलण २५० करोड़ रुपए का था। इसके माने यह हैं कि यदि रिजर्व बैंक, जो इन नोटों का प्रसार करनेवाली बैंक है, उसकी साख को ठेस पहुँचता तो इन २५० करोड़ के नोटों की कीमत को खतरा था।

पर ऐसी स्थिति की हम कल्पना करें तब तो यह जानना चाहिए कि इससे कहीं ज्यादा खतरा तो सरकारी प्रोमिसरी नोटों की रकम को हो सकता था और इन सरकारी प्रोमिसरी नोटों में तो प्रजा की कुल रकम लगभग १००० करोड़ के लगी हुई थी—अर्थात् नोटों की २५० करोड़ की कीमत से चौगुनी रकम तो प्रोमिसरी नोटों में लगी हुई थी। इससे पता लगेगा कि नोटों की सुरक्षितता की जब हम बात करते हैं तब हम भूल जाते हैं कि किसी भी राष्ट्र के पतन के कारण होनेवाली क्षति से बचने का तो कोई रामबाण उपाय है ही नहीं, और उस होनेवाली सारी क्षति में, नोटों की कीमत नेस्तनाबूद हो जाने के कारण होनेवाली क्षति का स्थान अपेक्षाकृत छोटा है।

नोट का स्वामी यह सहज ही कह सकता है कि सारी क्षति क्या होगी इससे मुझे क्या मतलब—मुझे तो अपने नोट की कीमत के नाश से होने वाली क्षति का ही दर्द है। पर इसका उत्तर तो यह है कि देश के सिक्के की नीति व्यक्ति की सुविधा के लिए नहीं, पर समष्टि की सुविधा के लिए बनाई जाती है, और इस दृष्टि से स्वयंसिद्ध मुद्रा से प्रत्येक मुद्रा की सुरक्षितता कम होने पर भी देश के लिए प्रतीक-मुद्राशैली का त्याग और केवल स्वयंसिद्ध मुद्रा की नीति का ग्रहण बेशी खर्चीला होगा।

३

प्रतीक-मुद्राशैली में एक दोष और है—यदि उसे दोष कहा जाय तो—और उस दोष का वर्णन करने से पहले कुछ तत्सम्बन्धी वातों का विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है।

हमने बताया है कि नोट-प्रसार करनेवाली संस्था यदि ४०० करोड़ रुपयों के पीछे १२० करोड़ रुपए का भी सोना रखे तो पर्याप्त होगा, क्योंकि जब तक बैंक की साख अक्षत है तब तक कौन नोट को भुना कर बदले में सुवर्ण-मुद्रा मांगेगा? इसलिए नोट की धाक अंशतः तो जो नोटों के पीछे सोना पड़ा है उस पर, बाकी नोट-प्रसारक बैंक की दक्षता, सावधानी और नेकनीयती पर है।

मान लीजिए कि १२० करोड़ के सोने के मद्दे ४०० करोड़ रुपए के नोटों के बजाय बैंक ने किसी भी कारणवश, अपनी मर्जी से या बाध्य होकर, ८००करोड़ रुपए के नोट चलणमें डाल दिए, तो जो सोने की मिकदार पहले प्रतिशत नोटों के पीछे ३० की थी वह सिर्फ १५ की रह गई। ऐसी हालत में सहज ही नोटों की साख में लोगों को कुछ शक होने लगेगा। और, मान लीजिए कि यदि नोट-प्रसारक बैंक ने ८०० के बजाय उसी १२० करोड़ रुपए की कीमत के सोने की पूंजी के बल पर १६०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिए, तब तो फिर नोटों की साख जोरों से डूबने लगेगी। और यदि १६०० करोड़ के बजाय ३२०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिए तब तो लोगों में घबराहट फैल जायगी और लोग नोटों से दूर भागने लगेंगे, क्योंकि ३२०० करोड़ के पीछे यदि कुल १२० करोड़ का ही सोना हो तब तो प्रति सौ नोट के पीछे केवल ३॥। रुपए का ही सोना रहा, जो बैंक की देनदारी को देखते हुए अत्यन्त अल्प कहा जायगा।

यह अनहोना-सा उदाहरण जानबूझ कर ही दिया है। कोई समझदार बैंक जानबूझ कर सुख-शांति के जमाने में ऐसी बेहूदी हद तक नहीं जाती।

पर असाधारण समय में ऐसी घटनाएं कई मुल्कों में हुई भी हैं। भारतवर्ष की ही बात लीजिए। इस समय जहां नोट प्रायः ८०० करोड़ रुपए के हैं वहां सोना कुल ४४ करोड़ रुपए का है।

नोटों का प्रसार करना आसान काम है। उसके लिए जरूरत है बस कुछ कागज की। टेढ़े समय में या तो सरकार को कोई कर्ज देनेवाला नहीं मिलता, या मिलता भी है तो बहुत कड़े सूद पर। इसलिए कई बार ऐसा हुआ है कि संकटापन्न सरकार ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति न तो टैक्स लगा कर की, न कर्ज लेकर—उसने बस नोट छापनेवाली मशीनों को दिन-रात चला कर अपना मतलब पूरा किया। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि जिस सरकार ने यह तरीका अख्तियार किया उससे औचित्य की सीमा का उल्लंघन हुए बिना न रह सका—और वह इतनी दूर आगे बढ़ गई कि उसका दिवाला निकल के ही रहा।

फ्रांस की इतिहासप्रसिद्ध क्रांति के समय वहां कुछ नोट जारी किए गए थे, जिन्हें assignat कहते थे। महन्त-मठाधीशों की जो जायदाद जब्त कर ली गई थी उसीकी पुश्ती या आधार पर ये नोट जारी किए गए थे। मगर उस जायदाद की कीमत से कहीं अधिक के नोट निकाल दिए गए, और इसका नतीजा यह हुआ कि इनकी कीमत बहुत नीचे गिर गई। कुछ काल बाद सरकार को मजबूर होकर इन नोटों को चलण से हटा लेना पड़ा।

२४ साल पहले रूस में, कम्यूनिस्ट क्रांति के समय भी ऐसी ही बात हुई। वहां चलण में जो सिक्का था उसका नाम रूबल (Rouble) था। क्रांति से पहले एक रूबल की कीमत प्रायः २ शिलिंग अर्थात् १।=) थी। मगर बाद इसकी कीमत यहां तक गिर गई, कि कुछ समय तक रूस में आध सेर रोटी के २५० रूबल और आध सेर चीनी के ९०० रूबल लगते थे।

फुलावट और गिरावट

इस तरह थोड़े सोने की पूंजी पर बेहद परिमाण में नोट निकालने की नीति को अंग्रेजी में Inflationary policy कहते हैं। हम इस अंग्रेजी

परिभाषा के लिए "चलण की फुलावटी नीति"—इस मुहाविरे का प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह किसी कारणवश नोट-प्रसारक बैंक यह भी कर सकती है कि १२० करोड़ की कीमत के सोने के मद्दे ४०० करोड़ रुपए की कीमत के नोट चलण में न रख कर केवल २०० करोड़ रुपए के नोट ही चलण में रखे, या तो और भी घटा कर १२० करोड़ के ही रखे। इस नीति को अंग्रेजी में Deflationary policy कहते हैं। हिन्दी में हम इसे "चलण की गिरावटी नीति" कह सकते हैं।

इस फुलावटी नीति या गिरावटी नीति का क्यों प्रयोग किया जाता है, इसका विवेचन भी आवश्यक है। पर यह विवेचन करने के पहले, नोट कैसे अधिक परिमाण में चलण में डाल करके फुलावट पैदा की जाती है और कैसे नोट कम करके गिरावट की जाती है, इस प्रयोग को भी हम समझ लें।

कोई नोट-प्रसारक बैंक विना सरकार की मर्जी के तो फुलावट या गिरावट ज्यादा हद तक कर ही नहीं सकती। इसलिए जब सरकारी मर्जी से यह काम होता है तो सरकारी सहयोग भी अपने-आप मिल जाता है। ऐसी हालत में यदि फुलावटी नीति का प्रयोग करना होता है तो एक तरीका तो यह है कि सरकार जितना खर्च करती है उससे कर कम उगाहती है—याने, मान लीजिए कि सरकार का खर्चा सालाना १००० करोड़ है, तो कर लगा कर सरकार ने उगाहा केवल ७५० करोड़, और बाकी जो २५० करोड़ का घाटा है उसको वैसा-का-वैसा रखा, अर्थात् कर वसूल करके उसकी पूर्त्ति नहीं की। नतीजा यह होता है कि कोष में आया ७५० करोड़, और कोष से निकला १००० करोड़। यह २५० करोड़ जो कोष से बेशी निकला वह सरकार ने कहां से निकाला ? बस, सरकार ने सीधा-सा काम किया। उसने २५० करोड़ के नोट छापकर, या तो बैंक से नोट छपवाकर उसे उधार लेकर लोगों को चुका दिया, और इस तरह २५० करोड़ चलण में ज्यादा प्रवेश कर गया।

यह तरीका तो तभी काम में लाया जाता है जब कि सरकार आर्थिक कठिनाइयों में फंसी हुई होती है, या तो दिवालिया बनने की

राह पर होती है। पर कभी-कभी अपने देश का व्यवसाय सुधारने के उद्देश्य से भी, हुण्डी की दर गिराने के लिए फुलावटी नीति की शरण लेनी पड़ती है। फुलावटी नीति से दामों में तेजी आती है, और मात्रा से सीमा के भीतर, इस नीति का प्रयोग करने से व्यवसाय पर अच्छा असर पड़ता है; मुल्क की पैदाइश और कारखाने पनपते हैं। विदेशी आयात पर इसका असर खराब पड़ता है। इसलिए धनी मुल्क भी कभी-कभी अपने लाभ के लिए इस नीति का सीमा के भीतर प्रयोग करते हैं। उसका तरीका इस तरह का है।

उदाहरण के बतौर हमने बताया है कि प्रसारक बैंक ने ४०० करोड़ के नोटों के पीछे १२० करोड़ का सोना बतौर इसकी पुश्ती के रखा था। सोने की कीमत १ मुद्रा की १ तोला सोना थी और उसीका प्रतीक १ मुद्रा का नोट था। इसके माने थे १ तोला सोना=१ मुद्रा=१ मुद्रा का नोट। अर्थात् १ नोट की कीमत १ तोला सोना थी। अब हमने यह निश्चय कर लिया कि हम अपने नोट की कीमत एक तोला सोना न रख कर केवल पौन तोला सोना ही रखेंगे। तो फिर प्रसारक बैंक के पास जो १२० करोड़ का सोना ४०० करोड़ के नोटों की पुश्ती के लिए था वह नोटों की ३० प्रतिशत कीमत का न रहकर ४० प्रतिशत कीमत का हो गया। फल यह हुआ कि १२० करोड़ के सोने के बदले में १६० करोड़ के नोट निकालने की हममें शक्ति हो गई। बस, हमने नए नोट निकाल कर बैंक और सराफों की मार्फत व्यापार में डाल दिए। व्यापार पनपने लगा। चीजों के दाम बढ़ने लगे।

एक हद के भीतर फुलावट नीति से व्यापार, व्यवसाय-वाणिज्य और कारखानों पर अच्छा असर क्यों होता है, विदेशी आयात पर बुरा असर क्यों होता है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

मौसिम के दिनों में फसल जब पकती है तब अक्सर बाजार में रुपए की टान होती है। उसकी वजह से व्यापारियों में दिक्कत न हो और रुपए की कमी की वजह से किसानों की जिन्स नीचे दामों में न बिक जाय, इसलिए बैंक ऐसी टान के समय में भी फुलावट करती है सही, पर वह

थोड़े समय के लिए, और स्वल्प मात्रा में। तरीका उनका वही है जो व्यापार-व्यवसाय की स्थायी उन्नति के लिए काम में लाया जाता है।

पर जो अस्थायी होता है उसमें सिक्के की कीमत नहीं बदली जाती। वहां तो केवल यही होता है कि नोट-प्रसारक बैंक अत्यन्त सस्ते ब्याज पर लोगों को रुपए उधार देती है। मान लीजिए कि ब्याज इतना सस्ता कर दिया कि लोगों को रुपया उधार लेकर कारोबार में लगाने में अत्यन्त लाभ प्रतीत होने लगा, तो फिर चारों तरफ से धड़ाधड़ लोग रुपया उधार लेना शुरू करेंगे और नोट-प्रसारक बैंक दूसरी बैंकों के जरिए रुपया उधार देना शुरू कर देगी। मान लीजिए, इस तरह २५० करोड़ रुपए के नए नोट छाप कर बैंक ने उधार दे दिए, तो चलण में २५० करोड़ रुपया और बढ़ गया।

और गिरावट पैदा करने के लिए ठीक इससे उल्टे उपायों का प्रयोग होता है—याने या तो सरकार कर ज्यादा वसूल करती है और खर्च कम करती है, या तो बैंक खुद ऊंचे ब्याज पर उधार लेकर बाजार से नोट खैंच लेती है। दोनों ही के कारण चलण में से नोट निकल आते हैं और चलण में गिरावट पैदा कर देते हैं। जहां फुलावट के कारण दाम चढ़ते हैं वहां गिरावट के कारण दाम गिरते हैं।

फुलावट या गिरावट के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की है। आवश्यकतानुसार नोट चलण में महज बढ़ गए या घट गए, केवल इसीलिए उस स्थिति को फुलावट या गिरावट की स्थिति नहीं कहना चाहिए। आवश्यकता से अधिक, और सो भी थोड़े से सोने पर, जब हद से बाहर नोटों का चलण बढ़ चले तो फुलावट, और पर्याप्त सोने पर आवश्यकता से कम नोटों का चलण हो जाय तो गिरावट की नीति कही जानी चाहिए। मसलन, बैंक ने यह नियम कर रखा है कि १००के नोट के चलण के पीछे ३० प्रतिशत सोना बैंक के कोष में रहेगा; अब यदि सोने का अनुपात ३० से नीचे जाता है तो हम क्रमशः फुलावट की ओर, और ऊपर जाता है तो गिरावट की ओर बढ़ रहे हैं।

विस्तार और संकोच

स्वभाव से और उचित परिमाण से, आवश्यकतानुसार जो नोटों के चलण में कमी या बेशी हो उसे स्वाभाविक संकोच या विस्तार कहना चाहिए।

मान लीजिए, देश में धन बढ़ा है, चीजों के दाम तेज हैं। विदेश के लोग हमारा माल धड़ाधड़ ले रहे हैं। हमने अपना माल बेच कर इस साल विदेशों से ५० करोड़ का सोना खरीदा। उसीके मद्दे १०० करोड़ के नोट चलण में रखे, हालां कि नियम के हिसाब से १५० करोड़ के भी नए नोट निकाल सकते थे। नए नोट, बिना सोने का कोष बढ़ाए नहीं निकाले। इसके अलावा पहले जो सोना १२० करोड़ का और नोट ४०० करोड़ के थे, अब वह सोना १७० करोड़ का और नोट ५०० करोड़ के हो गए। इस तरह कुल सोना, जो पहले नोटों के अनुपात से ३० प्रतिशत था, वह अब ३४ प्रतिशत हो गया। दूसरे, यह सारा काम जरूरत के मुताबिक हुआ। देश की सम्पत्ति बढ़ रही थी, दाम बढ़ रहे थे, चलण में ज्यादा नोटों की जरूरत भी थी। इसलिए जो हुआ, ठीक हुआ। यह स्वाभाविक विस्तार हुआ।

इसी तरह मान लीजिए, देश में भयंकर अकाल पड़ा, भूमिकम्प हुआ या प्लेग-महामारी हुई। इसके कारण देश की सम्पत्ति इस साल कम हो गई। बाहर से माल मंगाया ज्यादा, और भेजा कम। इसलिए हमें २५ करोड़ सोना कुल बाहर भेजना पड़ा। बैंक ने इस २५ करोड़ सोने के मद्दे ५० करोड़ के नोट चलण में से निकाल लिए। इस हिसाब से अब नोटों का चलण ४०० करोड़ से घट कर ३५० करोड़ रह गया, और सोना रह गया १२० करोड़ से घट कर कुल ९५ करोड़, जो नोटों की कुल कीमत का २७ प्रतिशत हुआ। पर चूंकि यह सब सावधानी से, आवश्यकतानुसार हुआ, और सोने का परिमाण भी ३० से गिर कर २७ प्रतिशत रह गया, इसलिए इसे स्वाभाविक संकोच कह सकते हैं।

अर्थशास्त्री आम तौर से फुलावट या गिरावट, इन दो ही परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं। पर मेरा खयाल है कि यह यथार्थ नहीं है। संकोच और गिरावट में कुछ भेद तो है ही, और इसी तरह विस्तार और फुलावट में भी भेद है। यह भेद अवश्य सूक्ष्म है, पर इस भेद को मान लेना ही शायद ज्यादा शास्त्रीय है; इसलिए मैंने यह भेद मान कर फुलावट—विस्तार, और गिरावट—संकोच, ऐसी अलग-अलग परिभाषाएँ रखी हैं। यह भेद इसलिए मान लिया है कि जहां फुलावट और गिरावट कृत्रिम उपायों से की जाती हैं, और विशेष हेतु को लेकर की जाती है, संकोच और विस्तार आवश्यकतानुसार स्वभावतया ही होते हैं। तो भी यह सही है कि यह भेद सूक्ष्म-सा ही है।

चूंकि फुलावट या गिरावट कृत्रिम उपायों से और विशेष हेतु के लिए की जाती है, इसलिए, यह क्यों की जाती है और इसका क्या फल होता है, यह समझना भी जरूरी है। पर इसी सिलसिले में एक और मत का उल्लेख आवश्यक है।

जिन्सों के दाम में घटा-बढ़ी के, मोटे तौर पर, दो कारण हो सकते हैं—एक तो उन जिन्सों से ही सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरा उस द्रव्य से सम्बन्ध रखनेवाला जिसके द्वारा दाम सूचित किया जाता है, जैसे नोट या धातु का सिक्का। एक चीज की कीमत कल दो पैसे थी, आज तीन पैसे है। अर्थशास्त्री इसका कारण दो जगह ढूंढ़ेगा। हो सकता है कि पैसे के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, पर वह चीज घट चली है—कल जितनी उपलभ्य थी आज उतनी नहीं है—और इस घटी के अनुपात से उसका दाम बढ़ गया है। और हो सकता है कि चीज के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, पर पैसे का परिमाण बढ़ गया है, और इस वृद्धि के अनुपात से उस चीज का दाम बढ़ चला है।

यहां जो सवाल पैदा होता है वह यों रखा जा सकता है, कि दाम बढ़ा वह चीज महंगी होने से या द्रव्य सस्ता होने से? अगर हम Value के अर्थ में मूल्य और Price के अर्थ में दाम शब्द व्यवहृत करें तो इसे यों रख सकते हैं कि उस वस्तु का अपना मूल्य चढ़ जाने के या द्रव्य का अपना मूल्य गिर जाने के कारण दाम बढ़ा?

वस्तुओं के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारण ढूंढ़ निकालना कठिन प्रयास है। एक फसल मारी गई अनावृष्टि से, दूसरी बाढ़ या जल-बाहुल्य से, तीसरी टिड्डियों के आक्रमण से। तीनों चीजें कम हो गईं, उनकी मांग ज्यों-की-त्यों बनी रही, फलतः उनका मूल्य बढ़ गया—अर्थात् उनके दामों में तेजी आ गई। सम्भव नहीं कि कोई भी ऐसा मत प्रतिपादित किया जा सके

जो अनावृष्टि, बाढ़ और टिड्डियों का आक्रमण-जैसे विभिन्न, असम्बद्ध कारणों को अपने घेरे में लाकर तज्जनित जटिलता को किसी भी हद तक सरलता में परिणत कर सके। वास्तव में जहां तीन कारण दिए गए हैं वहां तीन सौ तो क्या, तीन हजार भी हो सकते हैं। किसी वस्तु के मूल्य में इस कारण भी वृद्धि हो सकती है कि लन्दन के "टाइम्स" अखबार ने एक खास तरह की राय जाहिर कर दी—या राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने किसी पत्रकार के तत्सम्बन्धी प्रश्न को मजाक में उड़ा दिया—या किसी करोड़-पति ने स्वप्न देखा कि वह उस वस्तु के ढेर पर बैठा हुआ आसमान की ओर उठता जा रहा है। जहां दाम में घटा-बढ़ी किसी वस्तु के मूल्य में घटा-बढ़ी का प्रतिविम्ब है वहां इस घटा-बढ़ी पर कोई सूत्रात्मक मत या नियम प्रकाश नहीं डाल सकता—जिज्ञासु को प्रत्येक कारण का अलग अन्वेषण और उसकी अलग व्याख्या करनी पड़ेगी।

द्रव्य-परिमाण-मत

द्रव्य अर्थात् रुपए-पैसे के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारण न तो इतने अधिक हैं, न इतने विभिन्न। इसलिए इनके सम्बन्ध में Ricardo नामक अंग्रेज अर्थशास्त्री के समय से एक ऐसा उपयोगी मत चला आता है, और उसका नाम है "द्रव्य-परिमाण-मत" (Quantity Theory of Money)। जितने भी दाम होंगे, द्रव्य के ही रूप में होंगे। इसलिए द्रव्य के रूप में वृद्धि या ह्रास के जो भी कारण होंगे वे दामों के प्रसंग में सर्वत्र लागू होंगे।

इस मत का निचोड़ यह है :—

द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी का दामों पर उल्टा असर होता है और वे उसी अनुपात से तेज या मन्दे हो जाते हैं। मान लीजिए कि किसी वस्तु का दाम होता है ४ ग्रेन सोना। अगर सोने का मूल्य घट कर आधा हो जाय, तो उस चीज का दाम ४ ग्रेन की जगह ८ ग्रेन सोना हो जायगा।

अब यह देखना है कि द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी होती क्यों है। इसके चार कारण हो सकते हैं :—

(१) द्रव्य के परिमाण का घटना-बढ़ना। सोना या चांदी खानों से

ज्यादा निकली तो उसका मूल्य कम हो गया—कम निकली तो उसका मूल्य बढ़ गया। अगर सिक्के सोना-चांदी के हैं तो उनके मूल्य में भी वैसी ही घटा-बढ़ी होगी और चीजों के दाम में —उसी हिसाब से— फर्क पड़ेगा। अगर चलण में सोना-चांदी के सिक्कों की जगह कागजी नोट और इनका परिमाण बढ़ता-घटता है, तो इनके मूल्य में भी उसी प्रकार अन्तर पड़ेगा और चीजों के दाम उसी प्रकार तेज या मन्दे होंगे।

(२) हो सकता है कि द्रव्य का परिमाण ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, पर उसके चलण या रफ्तार में कुछ खास कारण या कारणों से तेजी आ गई। इस तेजी का असर वही होगा जो उस द्रव्य का परिमाण बढ़ने का होता। कारण यह कि रफ्तार में तेजी के माने हैं उतने ही द्रव्य का ज्यादा चक्कर लगाना, अर्थात् द्रव्य के परिमाण का बढ़-सा जाना। अगर चलण की रफ्तार धीमी हो गई तो इसका असर उल्टा पड़ेगा; क्योंकि इसका अर्थ होगा द्रव्य के परिमाण का घट-सा जाना। जब कोई रुपए को अपने पास रखना नहीं चाहता तब दाम चढ़ते हैं; जब लोग रुपए को दबाकर रख जाते हैं तब दाम गिरते हैं।

(३) द्रव्य की मांग, अवस्था-विशेष में, इस कारण कम हो जाती है कि लोग भुगतान के लिए चेक या हुण्डी-पुरजे का अधिकाधिक व्यवहार करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में दाम गिरते नहीं, ऊपर चढ़ते हैं; क्योंकि द्रव्य की मांग कम हो गई, द्रव्य का मूल्य गिर गया, चीजों के दामों में तेजी आ गई। चेक और हुण्डी भी तो आखिर द्रव्य के ही प्रतीक हैं। इनकी संख्या बढ़ गई तो एक प्रकार से वह द्रव्य ही बढ़ गया, क्योंकि अगर चेक-हुण्डी न होती तो उनके स्थान की पूर्ति नोटों को करनी पड़ती। इसलिए इस पहलू को यों भी बताया जा सकता है कि द्रव्य-परिमाण बढ़ गया, इसलिए द्रव्य के दाम गिर गए, और चीजों के दाम चढ़ गए।

(४) मगर इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि वाणिज्य-व्यापार और लेन-देन की वृद्धि के कारण द्रव्य की मांग बढ़ जाय। मांग की पूर्ति न की जाय और चलण में द्रव्य न बढ़ाया जाय तो स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में द्रव्य का मूल्य बढ़ेगा—अर्थात् चीजों के दाम गिरेंगे।

द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी के कारणों को समझाने के लिए ऊपर यह मान लिया है कि जहां एक बात बदलती है वहां और सब बातें समान बनी रहती हैं। पर प्रकृत जीवन में ऐसी अवस्था बहुत कम मिलती है। एक नही, अनेक बातें प्रायः साथ-ही-साथ बदलती रहती हैं और परस्पर-विरोधी शक्तियों की मुठभेड़-सी बनी रहती है। घटा-बढ़ी का जो अन्तिम कारण बताया गया है उस पर फिर एक नज़र डालिए। लिखा है कि द्रव्य की मांग बढ़ने से उसका मूल्य बढ़ेगा और चीजों के दाम गिरेंगे। मगर सम्भव है कि जहां एक ओर द्रव्य की मांग बढ़े वहां, दूसरी ओर, साथ-ही-साथ उसका परिमाण भी इतना बढ़ जाय कि उसके मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि न हो और दामों पर कोई असर न पड़े। वास्तव में वस्तु-स्थिति कभी-कभी इतनी जटिल होती है कि उसका पूरा विश्लेषण करना और यह जान लेना कि वह कौन-कौन से कारणों के फलस्वरूप बनी है, अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है। पर जटिल-से-जटिल अवस्था में भी द्रव्य के मूल्य में घटा-बढ़ी उपरोक्त कारणों से ही होती है—चाहे उनमें से एक मौजूद हो, चाहे एक से अधिक। मांग बढ़ेगी या परिमाण कम होगा तो उसके मूल्य में वृद्धि होगी। मांग घटेगी या परिमाण बढ़ेगा, तो मूल्य में ह्रास होगा। यह सरल या जटिल प्रत्येक अवस्था के लिए सत्य है।

उपरोक्त विश्लेषण को सामने रख कर ही हम "द्रव्य-परिमाण-मत" के शुद्ध स्वरूप को समझ सकते हैं, जो यह है कि सिक्का—चाहे वह स्वयं-सिद्ध मुद्रा हो चाहे प्रतीक मुद्रा—जब चलण में ज्यादा होता है तो जिन्सों के दाम—बढ़े चलण के अनुपात से—बढ़ जाते हैं; और सिक्का चलण में कम होता है तो, जितना कम होता है उसी अनुपात से, जिन्सों के दाम गिरते हैं।

यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। मान लीजिए कि अचानक सोने की नई खानें निकल आई और सोने की पैदाइश बेहद बढ़ चली। उसके कारण सोने के दाम गिर गए, यहां तक कि सोने के दाम पहले से आधे हो गए —तो स्वभावतया ही, यदि हम विदेशों में खरीद से ज्यादा माल बेचते रहे हैं तो बदले में पहले जितना सोना खरीदते थे उसके बजाय

ही माल के लिए दुगुना सोना हमें मिल सकेगा। सोना दुगुना मिलेगा, पर फिर नोट भी ज्यादा चलण में बढ़ेंगे। जैसे, पहले यदि १० करोड़ या सोना हम हर साल खरीदते थे और उसके मद्दे ३० करोड़ नए नोट चलण में रखते थे, तो अब उतने ही माल के बदले वेदेशों में हमें १० करोड़ के बजाय (क्योंकि सोने के दाम आधे हो) २० करोड़ का सोना मिलेगा, जिसके मद्दे हम आसानी से ६० करोड़ ए नोट चलण में रख सकेंगे। नए नोट चलण में आने से ब्याज गिरेगा, । मन्दा होगा और बहुतायत से उधार मिल सकेगा। कोई भी चीज होती है तो वह महंगी हो जाती है, ज्यादा होती है तो सस्ती होती चूंकि नाणा ज्यादा हो गया, इसलिए नाणा सस्ता हो गया। नाणा ा हो गया, इसके माने दूसरे शब्दों में यह हुए कि चीजें महंगी हो गईं। असल जब हम कोई चीज खरीदते हैं तो उस चीज का नाणे के साथ दला-मात्र होता है याने नाणा हम बेचते हैं और चीज खरीदते हैं। नाणा सस्ता होता है तो सस्ते में बिकेगा—अर्थात् जिन्सों के साथ नाणे अदला-बदली में, यदि नाणा सस्ता है तो, हमें नाणा ज्यादा देना गा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि चीजों के दाम मंहगे हो गए।

जब नोट चलण में बढ़ जाते हैं तो नाणा आसानी और सहूलियत और बहुतायत से कम ब्याज पर मिलने लगता है। ऐसी हालत में लोगों अपना व्यवसाय बढ़ाने की फिक्र होती है। नए कारोबार में रुपया ाने में किसीको हिचकिचाहट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि ापार पनपता है, हर चीज के दाम बढ़ते हैं। पर इस मत के पूर्णतया द्ध होने की कई एक शर्तें हैं। एक शर्त तो यह है कि द्रव्य का चलण बढ़ा—हे नोटों का या सिक्कों का—उतना ही यदि व्यापार और लेन-देन । बढ़ गया, तो फिर दाम नहीं बढ़ेंगे। दाम तो तभी बढ़ेंगे जब कि चलण पेक्षाकृत बढ़ गया हो—अर्थात् यदि व्यापार बढ़ा है रुपए में एक आना, ौर चलण बढ़ गया रुपए में दो आना, तभी नाणा मन्दा है, ऐसा हम हेंगे। ऐसी हालत में रुपए की छूट होगी और इसके कारण चीजों के दाम ढ़ेंगे।

इसके विपरीत यदि व्यापार या लेन-देन की जरूरत बढ़ी रुपए में एक आना और चलण बढ़ा पौन आना ही, तो यह कहा जायगा कि अपेक्षा-कृत चलण में संकोच हुआ है, और इसलिए चीजों के दाम झुकाव की ओर होंगे। असल में तो इस मत की सिद्धि के लिए हमें यह शर्त लगानी होगी कि यदि दो तुलनात्मक स्थितियां और हर बात में बिल्कुल यकसां है, तो फिर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि द्रव्य-परिमाण (नोट या सिक्कों का चलण) बढ़ने पर, जितना परिमाण बढ़ा उसी अनुपात से चीजों के दाम बढ़ेंगे और नाणा सस्ता होगा। और द्रव्य-परिमाण घटने पर, जितना परिमाण घटा उसी अनुपात से, चीजों के दाम गिरेंगे।

द्रव्य की पंगुता

यहां, फुलावट और गिरावट के सम्बन्ध में, हमें एक बात कहनी है जो, जाहिरा तौर पर, अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उसके विपरीत जान पड़ती है। हर हालत में फुलावट या गिरावट के नतीजे वही नहीं होते जो ऊपर बताए जा चुके हैं। संभव है, फुलावट होते हुए भी दाम समान-से बने रहें, या उनमें तेजी भी आए तो नाममात्र की। और संभव है, गिरा-वट होते हुए भी जिन्सों के दाम चढ़ जायं। आप कह सकते हैं कि "यह खूब रही! और अगर यह सच है, तो इससे तो 'द्रव्य-परिमाण-मत' का खोखला-पन ही साबित हुआ। आप दोनों बातों का सामञ्जस्य कैसे करते हैं?"

फुलावट होते हुए भी, अगर लोगों के खर्च करने का वेग उस हिसाब से नहीं बढ़ता और द्रव्य या पैसा पंगु-सा होकर बैठा या पड़ा रहता है तब दामों में उतनी तेजी नहीं आ सकती, जितनी फुलावट को देखते हुए संभव जान पड़ती है। इस महासमर में इंग्लैण्ड की बात लीजिए। वहां फुलावट काफी हो चुकी है, पर उस अनुपात में दाम नहीं बढ़ पाए हैं। कारण यह है कि लोग मौजूदा हालत में मनोवाञ्छित रीति से जिन्स नहीं खरीद सकते। उनके पास पैसा अधिक है, उनकी क्रयशक्ति बढ़ गई है, पर वह पैसा तरह-तरह के नियंत्रणों के कारण निष्क्रिय-सा पड़ा हुआ है। सरकार को लड़ाई के लिए हर तरह की जिन्स की जरूरत है—

और सख्त जरूरत है। अगर बाजार में उन जिन्सों को खरीदते समय सरकार को सर्वसाधारण की प्रतियोगिता का सामना करना पड़े, तो उसकी समस्या बड़ी जटिल हो जाय, और लड़ाई के लिए जैसी तैयारी होनी चाहिए, न हो सके। उस प्रतियोगिता को सरकार ने विभिन्न उपायों से बहुत कुछ रोक दिया है। इस कारण लोगों की क्रय-शक्ति अशक्त-सी हो गई है—उनके पास पैसा अधिकाधिक होते हुए भी वह उसे एक हद से आगे खर्च करने में असमर्थ हैं। फिर. दाम फुलावट के हिसाब से बढ़ें तो कैसे ?

मान लीजिए कि लड़ाई बन्द होते ही सरकार की नीति फुलावट से गिरावट की हो गई; तो क्या दाम गिरने लगेंगे ? आज आय-वृद्धि होते हुए भी व्यय करने के मार्ग बन्द हैं, इसलिए उस पैसे का दामों पर जो असर पड़ सकता था वह नहीं पड़ रहा है। पर, कल अगर वह मार्ग खुल गए, और लोग मनमाना खर्च करने के लिए स्वतन्त्र हो गए तो गिरावट के बावजूद भी जिन्सों के दामों में बेहद तेजी आ सकती है।

सारांश यह कि दामों की दृष्टि से प्रधानता इस प्रश्न की है कि कितना पैसा खर्च हो रहा है—न कि इस प्रश्न की, कि कितना पैसा मौजूद है। साधारण समय में यह भेद कोई खास अर्थ नहीं रखता, क्योंकि लोग अपने पैसे को मनमानी रीति से खर्च करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। पर इस महासमर-जैसे असाधारण समय में—जबकि पैसा होना एक बात है, उसे मनमानी रीति से खर्च करने की स्वतन्त्रता होना दूसरी बात—यह भेद विशेष महत्वपूर्ण है। फिर भी यह बात कोई ऐसी नहीं, जिसका "द्रव्य-परिमाण-मत" से मेल या सामञ्जस्य न हो सके। वास्तव में यह उसी मत के अन्तर्गत है, क्योंकि वह द्रव्य के परिमाण पर ही नहीं, उसके चलण या रफ्तार पर भी जोर देता है। हम अपने शब्दों को दोहराते हैं—"जब कोई रुपए को अपने पास रखना नहीं चाहता तब दाम चढ़ते हैं; जब लोग रुपए को दबा कर बैठ जाते हैं तब दाम गिरते हैं"। इस समय रुपया अधिक होते हुए भी दबा हुआ है, इसलिए दाम जितने ऊंचे हो सकते थे, नहीं हैं।

५

पर चलण के स्वाभाविक विस्तार और संकोच से जो असर चीजों के दामों पर पड़ता है उससे कहीं अधिक जोरदार असर चीजों के दामों पर चलण की फुलावट और गिरावट के कारण पड़ता है। चूंकि विस्तार या संकोच तो अपने-आप करीब-करीब स्वभाव से ही होता है, इसकी गति भी मन्द होती है और इसका असर भी सह्य और मृदु होता है।

पर चूंकि फुलावट और गिरावट जान-बूझ कर की जाती है, इसकी गति द्रुत होती है। इसलिए जितनी ही कस कर फुलावट या गिरावट की नीति काम में लाई जाय, उतना ही अधिक तात्कालिक असर इस नीति का जिन्सों की कीमत पर होगा। और खास कर फुलावट की नीति में तो—यदि अत्यधिक, बेपरिमाण, फुलावट की जाय तो—लोगों का नोटों से विश्वास इस कदर भाग जाता है कि वे नोटों को एक रात भी अपने पास रखना नापसन्द करते हैं और अपना पूंजी-पल्ला जिन्सों में ही रोकना पसन्द करते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि चीजों के दाम अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं। और व्याज की दर भी बढ़ने लगती है।

लड़ाई के बाद जर्मन मार्क और रूसी रूबल के चलण की फुलावट यहां तक बढ़ी कि साधारण समय में जितने नोट चलण में थे उससे कई लाख गुने नोट चलण में रख दिए गए। नतीजा यह हुआ कि नाणा कागज के टुकड़ों की तरह इतना सस्ता हो गया कि उसकी कोई कीमत ही नहीं रह गई और जर्मनी में जिस चीज के दाम साधारण समय में १-२ मार्क रहे होंगे उसके दाम लाखों मार्क तक हो गए। ज्यों-ज्यों मार्क छप-छप कर जोर से चलण में आने लगे, त्यों-त्यों बड़ी तेजी के साथ चीजों के दाम बढ़ने लगे—यहां तक कि हर मिनिट दाम ऊँचे जाने लगे। कहा जाता है कि जब एक नानबाई अपने गाहक को रोटी बेचकर उसके मार्क पाता था तो उसे यह चिन्ता होती थी कि ताजा रोटी बनाने के लिए आटा खरीदते-खरीदते

कहीं आटे के दाम बढ़ न जायं। इसलिए वह रोटी बेचते ही मार्क लेकर बेतहाशा दौड़ कर आटेवाले की दूकान पर पहुँच कर आटा ले लेता था और मार्क से पिण्ड छूटने पर ही शान्ति से सांस लेता था।

बेहद फुलावट के नतीजे

उस जमाने की इससे भी ज्यादा मजेदार कई सच्ची कहानियां प्रचलित हैं। जब मार्क की कीमत कौड़ी से भी कम होने जा रही थी, तब तो ऑस्ट्रिया और जर्मनी के लोगों का विश्वास इस बुरी तरह डुल गया कि कई लोगों ने तो अपनी कफन-काठी भी मरने के पहले खरीद कर रख दी ताकि बाद में कहीं दाम बेशुमार ज्यादा न बढ़ जायँ !

एक प्रतिष्ठित भारतीय कोठी का कुछ मार्क एक जर्मन व्यापारी से पावना था। वह मार्क हजारों की तादाद में था, जिसकी साधारण समय में हजारों रुपए कीमत थी। भारतीय कोठी ने जब जर्मन व्यापारी से रुपया मांगा और लिखा कि आप हमारे मार्क भेज दीजिए, तो जर्मन व्यापारी ने जवाब लिखा कि "महाशय, आपके २५,००० मार्क पावने थे, पर मैं जो यह खत आपको लिख रहा हूं उसके टिकिट और लिफाफे के दाम ही तो ढाई लाख मार्क हो जाएंगे। इस हिसाब से यदि मैं हिसाब लगाऊं तो उल्टा मेरा ही आप से पावना निकलेगा।"

कहते हैं, ऑस्ट्रिया में दो भाई थे, जिनमें से एक के पास २०-३० हजार क्राउन थे, जिसके कारण वह सम्पन्न माना जाता था। और दूसरा शराबी था, जो नित्य जितना कमाता था उसका एक बड़ा हिस्सा शराब में बरबाद कर देता था और शराब की बोतलें घर में जमा रखता था। जब क्राउन की फुलावट हुई तब, जो भाई सम्पन्न था उसके क्राउन तो कौड़ी के हो गए, पर जो शराबी था उसकी खाली बोतलों की कीमत लाखों क्राउन हो गई ! नाणे की फुलावट क्या-क्या करामात दिखाती है, इसका यह एक मजेदार उदाहरण है। अस्तु।

मान लीजिए कि हमारे यहां २५० करोड़ रुपए के नोटों का चलण

है, उसे बढ़ा कर २५,००० करोड़ के नोटों का कुल चलण कर दिया जाय--अर्थात् सौगुना चलण बढ़ा दिया जाय, तो स्वभावतया रुपए की साख सौआं हिस्सा रह जायगी। और जो मेंथी की सब्जी आज दो पैसे सेर मिलती है उसके दाम २०० पैसे सेर, अर्थात् एक सेर मेंथी की कीमत करीब-करीब ३ रुपए हो जायगी !

ऊपर हमने बताया है कि नाणा चलण में ज्यादा होता है तो चीजों के दाम पनपने लगते हैं और सस्ते ब्याज में उधार मिलने लगता है। पर यह सस्ते ब्याज की बात केवल नियंत्रित विस्तार तक ही सीमित है—अर्थात् व्यापार को पनपाने के लिए या केवल मौसिमी टान को मेटने के लिए ही जब हम चलण में सिक्का ज्यादा डालते हैं, और सो भी नियंत्रण के साथ स्वल्प मात्रा में, तभी तक ब्याज मंदा रहता है। पर जहां फुलावट की नीति जोर से शुरू की और चलण में लोगों का विश्वास कंपित हुआ कि ब्याज की दर जोर से बढ़ने लगती है।

जर्मनी में फुलावट के जमाने में चीजों के दाम कैसे बढ़ गए, इसका उदाहरण हमने ऊपर दिया है। उस जमाने में ब्याज की दर भी यहां तक बढ़ी थी कि एक जमाने में ब्याज १२०० प्रतिशत–अर्थात् १०० सिक्के का ब्याज एक साल का १२०० रुपया हो गया। आपने यदि कुल १०० सिक्के उधार दिए तो एक साल के बाद आपको अपने देनदार से १२०० सिक्के ब्याज के मिल गए। ऐसी विषम स्थिति हो गई थी।

यह कुछ अनहोनी-सी बात लगती है कि इतनी ऊंची ब्याज की दर हो सकती है—और सो भी एक सुसभ्य देश में। काबुली ब्याज़ कड़ा होता है। पठान लोग गरीबों को अत्यंत ऊंचे ब्याज पर उधार देते हैं। पर यह १२०० प्रतिशत का ब्याज तो काबुलियों से भी बाजी मारता है। पर उस समय की परिस्थिति को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जैसा कि हमने पहले बताया है, जब फुलावट-नीति जोर से शुरू होती है तो चलण का मूल्य धड़ाधड़ गिरने लगता है। मान लीजिए, जिस चलण का मूल्य आज एक मात्रा है उसका मूल्य एक साल में शतांश रह

गया, और भय यह हो कि शायद महीने-बीस दिन के बाद $\frac{१}{२००}$ रह जाय या इससे भी कम हो जाय, तो फिर चलण अपने पास कोई नहीं रखेगा। इसलिए जिस नानबाई का हमने उदाहरण दिया है वह बेतहाशा दौड़ कर मार्क का आटा खरीद कर ही दम लेता था। ऐसी जहां हालत हो वहां फिर चलण को अपने पास कौन रखे? जिसने उधार दिया वह तो मारा गया, क्योंकि साल भर के लिए यदि किसी ने १०० मार्क उधार दिए और मार्क के दाम गिर कर साल भर में $\frac{१}{२००}$ रह जाय, तो जो मार्क उसे वापिस मिलेंगे वे सौ के बजाय आधे मार्क का सा काम देंगे। इसके माने यह हुए कि यद्यपि उसे वापिस १०० मूल रकम और १२०० ब्याज के, कुल १३०० मार्क मिले, पर १३०० की कीमत $\frac{१}{२००}$ के हिसाब से $\frac{१३०० \times १}{२००} = ६\frac{१}{२}$ मार्क ही कुल रह गई। इतना ब्याज पाने पर भी कर्ज देनेवाला घाटे में ही रहा। यही कारण है कि इस तरह की फुलावट की नीति के जमाने में नाणा प्रचुर मात्रा में होते हुए भी ब्याज की दर बेहद बढ़ जाती है, क्योंकि उधार देनेवाले को बड़ी जोखिम उठानी पड़ती है।

फुलावट का कर्ज पर असर

फुलावट में प्रतीक की साख में ठेस पहुंच गई और प्रतीक की मिकदार चलण में ज्यादा हो गई। इसलिए, जैसा कि पहले बता चुके हैं, जिन्सों के दाम भी बढ़ गए। पर किसी कर्जदार को एक सौ का देना था और पावनेदार का उतना ही पावना था तो—यद्यपि जब दोनों का लेन-देन हुआ था तब प्रतीक स्वयंसिद्ध मुद्रा का सच्चा प्रतिनिधि रहा हो—आज प्रतीक स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतिनिधित्व खो बैठा, तब भी पावनेदार को वही सौ मिलेंगे, और देनेवाले को वही सौ देने पड़ेंगे। फुलावटके कारण प्रतीक की करामात कम हो गई, इससे लेन-देन की निर्धारित रकम पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

पहले जो एक रुपया दस सेर गेहूं खरीद सकता था, अब फुलावट के कारण रुपए की साख गिर गई और जिन्सों के दाम बढ़ गए, इसलिए चाहे दस सेर गेहूं के बदले ८ सेर ही खरीद सके, पर पावनेदार देनदार से

यह नहीं कह सकता, "भाई साहब—मैंने जब आपको उधार दिया तब रुपए की साख सोलह कला संपूर्ण थी। प्रतीक के स्वामी को बैंकवाले आठों पहर छूट से स्वयंसिद्ध मुद्रा देते थे। अब वह बात नहीं रही। फुलावट की नीति के कारण प्रतीक हतश्री हो गया। इसकी कलाएं घट गईं। १० सेर गेहूं के बजाय अब इसके बदले में ८ सेर गेहूं ही मिल सकते हैं। इसलिए मेरा रुपया जो पहले सोलह कलावाला था उसीको लौटाने की आपकी जिम्मेवारी है। इसलिए आप या तो मुझे स्वयंसिद्ध मुद्रा का प्रतीक लौटाइए, और यदि आप मुझे घटे दाम का रुपया लौटाना चाहते हैं तो सौ के ऋण के बजाय आपको सवा सौ देना होगा।" यदि पावनेदार ऐसी बात कहे तो देनदार अवश्य ही कहेगा, "तुम कहां आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो? मालूम होता है, तुम्हारे दिमाग की कोई कील गिर भागी है, इसलिए बेहतर है कि तुम अपनी चिकित्सा कराओ।"

लाभ और हानि

पर बावजूद इस प्रश्नोत्तरी के यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस फुलावट की नीति के कारण पावनेदार को घाटा हुआ, और देनदार को लाभ; क्योंकि पावनेदार का जो पावना था, वह था पूर्णकला रुपया या सुवर्ण-मुद्रा, और अब वापिस मिल रहा है उसे घटी कीमत का प्रतीक, जो पुराने रुपए की अपेक्षा कम जिन्स खरीद सकता है। पर चूंकि कानून का यह तकाजा है कि फुलावट या गिरावट के कारण प्रतीक की कीमत में चाहे जो घटा-बढ़ी हो (उस घटा-बढ़ी को निश्चित रूपेण मापने का कोई साधन नहीं है, और यदि हो भी तो वह सरकार को मान्य नहीं है) उससे पावनेदार या देनदार के पावने देने की रकम पर कोई असर नहीं होगा—अर्थात् यदि स्वयंसिद्ध मुद्रा के चलण के समय का १०० का पावना देना है, तो वह फुलावट-नीति के समय भी १०० का ही पावना देना माना जायगा।

करोड़ों का देना-पावना हर मुल्क में होता है और उस देने-पावने की रकम ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, इसलिए सर्वसाधारण को प्रतीक की कीमत गिर गई है या बढ़ गई है, इसका थोड़ी घटा-बढ़ी में कोई पता भी नहीं

चलता। पर पता न भी रहे तो भी उसके असर से लोग बंचित नहीं रहते। यदि दाम चढ़ते हैं तो सभी को उसका फल भुगतना पड़ता है, और गिरते हैं तब भी यह सभी को लागू पड़ता है।

एक सावधान और सम्पन्न व्यक्ति ऑस्ट्रिया में कैसे दरिद्र हो गया और उसका भाई, जो शराबी था, कैसे धनिक बन गया, इसका उदाहरण हम पहले दे आए हैं। यद्यपि फुलावट के कारण प्रतीक-मुद्रा की दर कितनी गिर गई है, इसकी माप-तौल का सर्वसाधारण को पूरा पता नहीं चलता, पर जाननेवाले तो जानते ही हैं कि फुलावट के कारण प्रतीक की कीमत कम हो जाती है और इसके फलस्वरूप पावनेदार को, नकद रुपया रखनेवाले को, जिन्सों की खपत करनेवाले को, मजदूरपेशा लोगों को, और जिनकी आय निर्धारित है उनको (जैसे जमींदार, पेन्शनयाफ्ता लोग, नौकरीपेशा लोग, कर वसूल करनेवाली संस्थाएँ—जैसे सरकार, म्युनिसिपैलिटी, कॉलेज, स्कूल इत्यादि) हानि होती है; और कर्जदार लोग, कारखानेवाले, माल पैदा करनेवाले, (जैसे किसान, जुलाहा, बढ़ई, लोहार, चमार आदि) इन लोगों को लाभ होता है।

गिरावट की नीति में, जिन्हें फुलावट में लाभ होता है, उनको हानि है, और फुलावट में जिन्हें नुकसान है, उनको लाभ है।

६

इस फुलावट या गिरावट के कारण हमारी मुद्रा की कीमत पर विदेशों में क्या असर होता है, इसका भी जरा विवेचन कर लें।

हमने पहले बताया है कि प्रतीक-मुद्रा तो स्वयंसिद्ध मुद्रा की प्रतिनिधि-मात्र है—अर्थात् एक सुवर्ण-मुद्रा की कीमत का प्रतीक हम नोट-प्रसारक बैंक के पास पेश करें, तो हम एक सुवर्ण-मुद्रा पाने के अधिकारी होंगे और बैंक एक सुवर्ण-मुद्रा देने के लिए वाध्य होगी। पर यह अधिकार और जिम्मेवारी, दोनों-के-दोनों फुलावट-नीति के प्रवेश करते ही समाप्त हो जाते हैं, और गिरावट-नीति के आने पर दोनों और भी सुरक्षित बन जाते हैं।

कारण स्पष्ट है। थोड़े से सोने की पूंजी पर एक तरफ तो अत्यधिक और वेपरिमाण प्रतीक चलण में डाल दिए जायं, और दूसरी तरफ प्रतीक के स्वामी का प्रतीक के बदले में स्वयंसिद्ध मुद्रा पाने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहे और बैंक प्रतीक-मुद्रा के बदले में सुवर्ण-मुद्रा देने के लिए वाध्य हो—ये दोनों बातें असंगत हैं; क्योंकि १२० करोड़ की कीमत के सोने के आधार पर यदि ३२०० करोड़ के नोट चलण में डाल दिए जायं और उनमें से यदि २०० करोड़ की कीमत के नोटवाले भी अपने अधिकार का उपयोग करें और बैंक से नोट भुना कर सुवर्ण-मुद्रा मांगें, तो बैंक को अपना दरवाजा बन्द करने के सिवा कोई चारा न होगा। कुल पूंजी ही यदि १२० करोड़ है,तो फिर २०० करोड़ के नोटों का भुगतान बैंक चुका ही कैसे सकती है? ज्यादा से ज्यादा—३२०० करोड़ के नोटों में से—कुल १२० करोड़ ही तो चुका सकती है। बाकी के नोटों के पीछे जब कोष में सोना ही नहीं रहता, तो फिर नोटों की पुश्ती ही नेस्तनाबूद हो जाती है, और इसलिए नोटों की साख शून्यवत् रह जाती है। इसलिए जहां फुलावट-नीति के प्रयोग का विचार हुआ कि प्रतीक मुद्रा के स्वामी का सुवर्ण-मुद्रा पाने का अधिकार समाप्त हुआ।

गिरावट की नीति में, इसके विपरीत, यह अधिकार और भी ठोस बन जाता है; क्योंकि चलण के नोटों के परिमाण के मुकाबिले में बैंक के कोष में स्थित सोने का परिमाण और भी बढ़ जाता है। इसलिए स्वभावतया प्रतीक-मुद्रा की साख बढ़ जाती है। पर फुलावट-नीति में तो प्रतीक नाममात्र का प्रतीक रहता है। पहले प्रतीक की कीमत जो एक सुवर्ण-मुद्रा थी, फुलावट होने पर अब उसकी कोई निश्चित कीमत नहीं रही। अब प्रतीक की कीमत उसकी साख की घटा-बढ़ी के अनुसार घटती और बढ़ती रहती है। और वह साख फुलावट के परिमाण के पीछे कमो-बेश होती रहती है। यदि फुलावट ज्यादा होती है तो, जैसा कि ऊपर बताया है, प्रतीक की कीमत ज्यादा गिर जाती है, और यदि फुलावट अपेक्षाकृत कम होती है तो प्रतीक की कीमत कम गिरती है।

जब तक प्रतीक और स्वयंसिद्ध मुद्रा का कानूनन सम्बन्ध था, दोनों गँठजोड़े-से बंधे थे, तब तक तो प्रतीक की निर्धारित कीमत कायम थी। पर जहां प्रतीक और स्वयंसिद्ध मुद्रा का तलाक हुआ कि कीमत की स्थिरता गायब हुई। यद्यपि कहने के लिए तो प्रतीक फिर भी एक सुवर्ण-मुद्रा का नोट ही होगा, जैसा कि इंग्लैण्ड में एक पाउण्ड का नोट आज भी एक पाउण्ड का नोट ही कहलाता है, पर उसके माने यह नहीं कि उसके पीछे एक पाउण्ड की सुवर्ण-मुद्रा पड़ी है, जिसे हम चाहे जब बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से मांग लेंगे और वह हमें दे देगी। इस तलाक के बाद असल में तो प्रतीक की कीमत कटी पतंग की तरह हो जाती है, और जैसे हवा के झोंकों के बल पर पतंग गिरती है या उठती है, उसी तरह प्रतीक की कीमत भी चलण की फुलावट की कमी-बेशी के आधार पर झिलोरे खाती रहती है।

प्रतीक की कीमत और विदेशी बाजार

यह सही है कि सर्वसाधारण को फुलावट या गिरावट के कारण प्रतीक की दर में क्या घटा-बढ़ी हुई, इसका कोई पता नहीं चलता; क्योंकि उनकी नजरों के सामने तो सिवाय जिन्सों की कीमत की घटा-बढ़ी के और कोई ऐसे लक्षण नहीं आते जिनसे उन्हें प्रतीक की नई कीमत का

प्रत्यक्ष ज्ञान हो। उनके सामने रुपए की वही पहलेवाली शक्ल है; वही देनदार-पावनेदार की रकम है; वही रुपए का नाम है।

पर विदेश में लोग हमारे प्रतीक की कीमत के सम्बन्ध में इतने अन्धकार में नहीं रहते। उन्हें हमारे प्रतीक की कीमत का और उसमें रोज होनेवाली घटा-बढ़ी की करीब-करीब सही माप-तौल मिल जाता है; और इसलिए, जैसे मनुष्य अपने चेहरे को स्वयं नहीं देख सकता किन्तु दर्पण की सहायता से अपने मुंह की बदसूरती या सुन्दरता की सही माप-तौल कर सकता है, उसी तरह हमारे प्रतीक का विदेशी लोग क्या दर-दाम करते हैं, इससे उसकी कीमत का अधिक सही ज्ञान हमें हो सकता है। विदेशी बाजार एक तरह दर्पण का काम देते हैं, क्योंकि उन्हींके द्वारा हमें अपने प्रतीक की सही कीमत का पता लगता है।

पर विदेशी बाजार हमारे दर्पण क्यों बन जाते हैं? यदि विदेशों से हम माल न तो खरीदें और न उन्हें बेचें, तब तो किसको फुर्सत है कि हमारे चलण की क्या कीमत होनी चाहिए, इसपर कोई विदेशी बहस करने बैठेगा। पर चूंकि हम विदेशों में जिन्स मोल लेते हैं और बेचते हैं, इसलिए हमारे चलणी प्रतीक की कीमत को हर समय कूतते रहना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। यह क्यों?

मान लीजिए, आप लन्दन के बाजार में कुछ चीजें मोल लेते हैं, तो उनका दाम आप यदि भारतीय नोटों में चुकाना चाहेंगे तो कोई दूकानदार आपको माल न बेचेगा; इसलिए आपको वह दाम अंग्रेजी नोटों में चुकाना पड़ता है। अंग्रेजी नोट आप कहां से लाते हैं? आपके घरवाले हिन्दुस्तान में किसी विदेशी बैंक को रुपया देते हैं और उसकी कीमत का अंग्रेजी द्रव्य खरीद कर आपको उसी बैंक की मार्फत भेज देते हैं, जो आपको अंग्रेजी नोट या सिक्कों की शक्ल में मिल जाता है। पर इसी तरह यदि सब लोग यहां से इंग्लैण्ड भेजनेवाले ही होंगे, और मंगानेवाला कोई न रहेगा, तब तो कारो-बार अपने-आप कुछ दिन के बाद बन्द हो जायगा। पर चूंकि जैसे भेजने-वाले हैं वैसे ही लन्दन से द्रव्य मंगानेवाले भी हैं, इसीलिए यह दुतरफा

कारोबार चलता रहता है, और जब हम रुपए से अंग्रेजी पाउण्ड खरीदते हैं (लन्दन धन भेजने के लिए) या तो पाउण्ड बेच कर रुपया खरीदते हैं (लन्दन से धन मंगाने के लिए) तब जिस कीमत से या तो हम रुपया बेच कर पाउण्ड खरीदते हैं, या पाउण्ड बेच कर रुपया खरीदते हैं, उससे हमें पता लग जाता है कि हमारे प्रतीक (चलण) की विदेश में क्या कीमत है ।

विदेश में कीमत कैसे बनती है ?

प्रश्न का उत्तर यह है कि हर चीज की कीमत लेने और बेचनेवालों की गरज पर अवलम्बित है । वैसे ही इस विषय में भी होता है ।

पर इसे ज्यादा स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है । यदि हम विदेशों में माल ज्यादा लेते हैं और कम बेचते हैं , जैसे कि हमने १०० का माल तो लिया और ६० का बेचा, तो हमें विदेशों को ४० चुकाना बाकी रहा । यह ४० हम कैसे चुकाएँगे ?

इसके तीन तरीके हो सकते हैं ।

एक तरीका तो है पावनेदार को सोना भेज कर । सोने के सभी ग्राहक होते हैं, और तमाम मुल्कों ने करीब-करीब सोने की एक निर्धारित कीमत कायम कर रखी है, उस निर्धारित कीमत पर, हर मुल्क की नोट-प्रसारक बैंक प्रायः सोना खरीदने को तैयार रहती है । इसलिए पावनेदार को सोना भेज कर हमारा कर्ज चुकाने में तो कोई कठिनाई है ही नहीं । पर हर साल सोना भेज कर तो वही मुल्क माल खरीद सकता है जिसके पास सोने की बड़ी-बड़ी खानें हों और जहां सोने की बड़ी मिकदार में पैदाइश भी हो । इसलिए सोना भेज कर दाम चुकाने का यह तरीका चाहे १-२ साल के लिए भले ही चले, पर हर मुल्क के लिए निरन्तर इस तरीके का चलाना व्यावहारिक नहीं हो सकता ।

दूसरा तरीका है—जहां माल खरीदा वहीं लोगों से धन उधार लेकर माल का दाम चुकाया । यह तरीका भी विशेष समय के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर निरन्तर नहीं चल सकता । निरन्तर उधार कौन देता जायगा ?

आखिर कभी तो वापिस चुकाना ही होगा। इसलिए यह तरीका भी निरन्तर नहीं चल सकता।

अब एक तीसरा तरीका है, जो दाम चुकाने के लिए सर्वदा व्यावहारिक होता है। यह तरीका यह है कि अपने यहां बनी चीजों को या अपनी सेवा या श्रम को विदेश में बेचकर उससे जो द्रव्य मिले, हम उसीसे अपना विदेशी देन चुकावें।

उपरोक्त तीन तरीकों में से प्रथम दो तरीके तो सर्वदा और बड़े परिमाण में चल ही नहीं सकते। तीसरा ही एकमात्र तरीका है, जो हमें विदेश के भुगतान चुकाने में हमारा सहायक हो सकता है। हर मुल्क के लिए यह लाजिमी है कि या तो वह विदेशी व्यापार से मुंह मोड़े या विदेश में माल लेने और बेचने की कीमत को एक हद तक समतल पर रखे—अर्थात् जितना-सा ले उतना-सा ही बेचे।

इसके कुछ अपवाद हैं सही। मान लीजिए कि हमारे पास ऐसी चीजें हैं जिनके विना दुनिया का काम ही नहीं चल सकता है, तो विदेश-वाले हमसे हमारी जिन्सें खरीदते जाएँगे और बदले में हमें सोना भेजते जाएँगे। या तो ऐसा भी हो सकता है, जैसा कि इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में था। इंग्लैण्ड ने तमाम दुनिया को कर्जदार बना रखा था, इसलिए यद्यपि इंग्लैण्ड बेचता था कम, खरीदता था दुनिया में ज्यादा—उस ज्यादा खरीदे हुए माल की कीमत—अपने कर्जदारों से ब्याज-वसूली का जो धन आता था, उसीसे चुका देता था। पर ऐसे अपवादों को छोड़ कर यह मानना होगा कि विदेशी खरीद और बिक्री की कीमत को समतल पर लाना हमारे लिए आवश्यक है।

पर जब तक हम इस लेवा-बेची को समतल पर नहीं लाते तब तक यदि विदेशों में हम जितना बेचते हैं उससे हम ज्यादा खरीदते हैं, तो उसकी कीमत चुकाने के लिए हमें हर समय अपने द्रव्य याने मुद्रा को बेच कर विदेशी द्रव्य याने विदेशी मुद्रा खरीदने की जरूरत बनी रहती है। इसके कारण हमारे प्रतीक का दाम विदेशों में झुकाव की ओर–अर्थात् गिरने की ओर होगा। और यदि हम विदेशों में जितना लेते हैं उससे वहां ज्यादा बेचते हैं, तो उस बेचाण की कीमत को स्वदेश लाने के लिए या तो हमें वहां सोना मिल

जायगा, अन्यथा हम हर समय विदेशी द्रव्य-प्रतीक के बेचवाल और अपने चलण-प्रतीक के लेवाल रहेंगे। नतीजा यह होगा कि हमारे प्रतीक की कीमत विदेशों में चढ़ाव की ओर होगी।

जब फुलावट की नीति होती है तब, हमने बताया है कि, हमारे प्रतीक की कीमत कम हो जाती है। पर किस समय कितनी कीमत गिरी, उसका सही अन्दाज भी, जैसा कि ऊपर बताया है, विदेशी बाजारों से ही लगता है। विदेशों में हमारे द्रव्य की कीमत कैसे भिन्न-भिन्न, पर तमाम संजोगों के कारण, कायम होती है, इसकी कुछ कल्पना उपरोक्त चित्रण से ही की जा सकती है। इन तमाम संजोगों में कई संजोग ऐसे होंगे जो विदेशों में हमारे चलण की कीमत को चढ़ानेवाले होंगे, और कई ऐसे संजोग होंगे जो हमारे चलण की कीमत को गिरानेवाले होंगे। इन सब संजोगों के जोड़-बाकी के बाद शेष जो संजोग कीमत बढ़ाने या घटाने के पक्ष का रह जाता है उसीका फिर एकपक्षीय असर होता है।

जब फुलावट की नीति हमारे यहां बरतती है तो हमारी जिन्सों के दाम हमारे देश में तो बढ़ते हैं; पर चूंकि विदेशों में तो न फुलावट है, न गिरावट, स्पष्ट है कि वहां दाम साधारणतया स्थिर रहेंगे—अर्थात् न चढ़ेंगे, न गिरेंगे। "साधारणतया"—पाठकों का ध्यान इस क्रिया-विशेषण की ओर आकृष्ट किया जाता है। अवस्था-विशेष में—जैसा कि आगे चल कर बताया गया है—एक देश में दाम गिरने से दूसरे देश या देशों में भी मन्दी आ सकती है।

अच्छा, तो हमने कहा कि फुलावट की नीति के कारण अपने देश में हमारी जिन्सों के दाम बढ़ते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि हमने फुलावट-नीति धारण की; उस समय हमारे यहां गेहूँ का दाम १ रुपए का १० सेर था। और यह भी मान लीजिए कि उसी जमाने में हमारे १ रुपए के सिक्के की कीमत किसी एक विदेशी मुल्क में १ मार्क जितनी थी। इसके माने हुए कि हमारे यहां और वहां, दोनों जगह १ मार्क में १० सेर गेहूँ मिल सकते थे। (१ रुपया=१ मार्क। १ रुपया=१० सेर गेहूँ। इसलिए १ मार्क=१० सेर गेहूँ।) अब हमारे यहां तो फुलावट की

नीति जारी हो गई, उसके कारण गेहूं के दाम अन्य जिन्सों के दामों के साथ चढ़ गए और अब एक रुपए में केवल ८ सेर ही गेहूँ मिलता है। पर उस विदेश में तो आज भी वही भाव हैं जो पहले थे, याने १ मार्क का भाव १० सेर गेहूँ ही है। (इस उदाहरण में हमने यह मान लिया कि और तमाम स्थिति दोनों मुल्कों में यकसां हैं, इसलिए जिन्सों के दाम भी, यदि हमारे यहां फुलावट न हो तो यकसां रहते।)

अब मान लीजिए कि हमने उस विदेश में एक मार्क की कोई चीज खरीदी; उसकी कीमत चुकाने के लिए बदले में हमने वहां गेहूँ बेचा। अब गेहूँ यहां मिलता है १ रुपए का ८ सेर। वहां भाव है १ मार्क का १० सेर गेहूँ। हमें १ मार्क वहां भेजना चाहिए, क्योंकि हमने १ मार्क की वस्तु ली है। तो हमको एक मार्क चुकाने के लिए वहां दस सेर गेहूँ बेचना पड़ा, जिसका कि हमें यहां स्वदेश में $१\frac{१}{४}$ रुपया देना पड़ा। इसके माने यह हुए कि पहले जहां १ रुपए की कीमत १ मार्क थी, अब $१\frac{१}{४}$ रुपए की कीमत १ मार्क हुई। दूसरे शब्दों में हमारे रुपए की दर १ मार्क से गिर कर .८० मार्क रह गई। $\frac{\text{१ मार्क}}{१\frac{१}{४}\text{ रुपया}}$ = .८० मार्क। अर्थात् २० प्रतिशत कीमत गिर गई।

विदेशी मुल्कों में हमारे द्रव्य की कीमत को शास्त्रीय भाषा में हुण्डी की दर कहते हैं। जब हमारे चलण की कीमत विदेशों में बढ़ती है तो हम कहेंगे कि हमारी हुण्डी की दर तेज है। हमारे चलण की कीमत गिरी, तो कहेंगे कि हुण्डी की दर मन्दी है।

७

हुण्डी की दर गिरने से या ऊंची होने से हमारे मुल्क के उद्योग-धंधों और आयात-निर्यात पर क्या असर होता है, और वह असर कैसे होता है, इसका विवेचन भी कर लें।

यह तो अब समझ में आ ही गया होगा कि फुलावट-नीति की रचना चलण में प्रतीक की बहुतायत की बुनियाद पर खड़ी की जाती है,और इसके फलस्वरूप जिन्सों के दाम चढ़ जाते हैं। जिन्सों के दाम क्यों चढ़ जाते हैं, यह पहले हम समझ चुके। नाणे की अधिकता के माने हैं कि नाणा सस्ता है। नाणा सस्ता है, इसी भाव को हम दूसरी भाषा में यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि चीजें महंगी हैं। यदि फुलावट-नीति द्रुत गति से आती है, तो फिर लोग मुद्रा की साख में विश्वास भी खो बैठते हैं। इससे भी लोगों की रुचि मुद्रा में धन रोकने से हट कर जिन्सों में धन रोकने की ओर ज्यादा बढ़ जाती है। ये सब-के-सब जिन्सों के दाम तेज करने के हेतु बन जाते हैं।

पर एक और चीज है, जो जिन्सों के दाम बढ़ाने में सहायक होती है। वह है विदेश से आनेवाली चीजों का ऊंचा पड़ता। जब हमारी हुण्डी की दर गिर जाती है तो विदेश में तो, हमारे यहां आनेवाली चीज के दाम चाहे वही पुराने दाम हों पर हुण्डी गिर जाने से यहां का पड़ता अपने-आप ऊंचा हो जाता है।

मसलन, हमें एक घड़ी विदेश से मंगानी है। उसकी कीमत, मान लीजिए १० मार्क है। पुराने हिसाब से १० मार्क के माने थे १० रुपए। पर चूंकि अब हमारी हुण्डी की दर २० प्रतिशत, जैसा कि हम ऊपर बता चुके, गिर गई, इसलिए १० रुपए के हमें कुल ८ मार्क ही मिलते हैं। इसके माने यह हुए कि १० मार्क खरीदने के लिए हमें अब १२॥ रुपए की जरूरत है। इसके माने यह भी हो गए कि जिस घड़ी का पड़ता पहले १० रुपए का था वह अब १२॥ रुपए का हो गया।

इसी तरह हमारी निर्यात की चीजों का पड़ता भी बढ़ जाता है; वह इस तरह—मान लीजिए कि हम यहां से वाहर रूई भेजते हैं, और १ गांठ रूई के दाम जर्मनी में १०० मार्क पहले थे। उसके माने थे, पुरानी हुण्डी के हिसाब से, १०० मार्क=१०० रुपए। अब भी मान लीजिए, जर्मनी में रूई की कीमत वही १ गांठ के १०० मार्क है। पर चूंकि हुण्डी की दर गिर गई, इसलिए १०० मार्क को बेच कर हम रुपया खरीदते हैं तो, .८० मार्क=१ रुपया, इस हुण्डी की दर से हमें १०० मार्क के १२५ रुपए उपलब्ध होते हैं। इसके माने हुए कि रूई के निर्यात के लिए पड़ता लगता है १२५ रुपया प्रति गांठ, जो पहले १०० रुपया प्रति गांठ था।

विदेशों से आनेवाली और विदेशों को जानेवाली चीजों का जब पड़ता बढ़ जाता है तो उन चीजों के चढ़े दाम देख कर अन्य चीजों के दाम भी अपने-आप ऊंचे जाने लगते हैं। इस तरह अन्य कारणों के अलावा विदेशों से सम्बन्ध रखनेवाली चीजों का पड़ता ऊंचा होने की वजह से भी जिन्सों के दामों को ऊंचा जाने में सहायता मिलती है।

हुंडी की दर और उद्योग-धंधे

अब इस परिस्थिति में उद्योग-धंधों पर क्या असर होता है? इसका उत्तर तो साफ है। जब जिन्सों के दाम ऊंचे जाते है तो कारखानेदार का मुनाफा भी वढ़ता है। यह सही है कि जिन्सों के दाम ऊंचे जाते हैं तो कच्चे माल के दाम भी बढ़ते हैं। पर इतना होने पर भी कारखानेदार या अन्य माल उपजानेवाले लोगों (जैसे किसान, जुलाहा, खटीक इत्यादि) के मुनाफे की वृद्धि में कोई रुकावट नहीं होती। बतौर उदाहरण, हम एक कारखानेदार के काल्पनिक पड़ता का जरा विश्लेषण कर लें। हर १०० रुपए के माल पर, मान लीजिए, कारखानेदार का खर्च नीचे लिखे अनुसार होता है:—

रुपया	
५०	कच्चा माल
२५	मजदूरी

१०	घिसाई
५	ब्याज
१०	मुनाफा
१००	

अब मान लीजिए फुलावट-नीति के कारण जिन्सों के दाम बढ़े और जिस माल का कारखानेदार को पहले १०० रुपया मिलता था उसका अब १२५ रुपया मिलेगा। इसके साथ-साथ, मान लीजिए, कच्चे माल का दाम भी बढ़ा और मजदूरी भी उसी अनुपात से बढ़ी, तो फिर मुनाफे पर क्या असर होगा? नीचे के तलपट से इसका स्पष्ट अन्दाज लग जायगा।

	पुरानी कीमत रुपया	नई कीमत रुपया
कच्चा माल	५०	६२॥
मजदूरी	२५	३१।
घिसाई	१०	१०
ब्याज	५	५
मुनाफा	१०	१६।
	१००	१२५

उपरोक्त तफसील से पता लगेगा कि जहां कच्चे माल और मजदूरी का दाम २५ रुपया प्रतिशतक बढ़ा वहां घिसाई और ब्याज में पुराने और नए खर्च में कोई फर्क नहीं पड़ा। कारण प्रत्यक्ष है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, फुलावट और गिरावट के कारण लेन-देन की रकम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। १०० रुपए हमने कर्ज ले रखा था तो आज भी हमें १०० रुपया ही चुकाना है। इसलिए ब्याज पर कोई असर नहीं पड़ता। और घिसाई पर भी क्या असर पड़ेगा? इसलिए मुनाफा जो पहले १० रुपए एक अदद पर था, वह अब १६। हो गया। या तो यों भी हो सकता है कि कारखानेदार की आज यह शक्ति है कि पहले जहां

बाहर की चीज का पड़ता १०० रुपए का था और कारखानेदार मुनाफे को अक्षुण्ण रखते हुए १०० रुपए से कम में नहीं बेच सकता था, आज वह विदेशी माल का पड़ता १२५ रुपया होने पर भी १० रुपए का ही मुनाफा रखे तो ११८ रुपया १२ आने में बेच सकता है।

इस हिसाब से यह सही है कि कारखानेदार का मुनाफा बढ़ गया, और यदि वह अपने दाम नहीं घटाता तो मुनाफा १० के बजाय १६। हो गया, याने ६२॥ प्रतिशत बढ़ गया। पर साथ ही यह भी जानना चाहिए कि जिन्सों के दाम बढ़ने के कारण उस मुनाफे की ताकत ६२॥ प्रतिशत नहीं बढ़ी। यदि जिन्सों के दाम औसतन सवाए हो गए हैं, जैसा कि हमने हिसाब लगाया है, तो फिर दाम बढ़ने के पहले जो करामात १३ रुपए में थी वही आज १६। में है। मान लीजिए कि पहले १३ रुपए में १ मन पाट मिलता था और अब पाट के दाम बढ़ कर सवाए हो गए--अर्थात् १६। हो गए, तो पहले के १३ और अबके १६। रुपए की क्रय-शक्ति में कोई फर्क नहीं पड़ा। खैर।

तो अब इस परिस्थिति के दो असर साथ-साथ हुए। एक तो स्वदेशी उद्योग-धंधों पर, और दूसरा विदेशी आयात पर और निर्यात पर। स्वदेशी उद्योग-धंधों पर अच्छा असर हुआ। विदेशी आयात मुरझाने लगा, और निर्यात पनपने लगा।

सबसे पहले स्वदेशी उद्योग-धंधों को लीजिए।

यह स्वाभाविक है कि जब मुनाफा बढ़ता है तो कारखानेदार या माल उपजानेवाले को ज्यादा माल पैदा करने की चाह होती है। ऊपर के हिसाब में हमने मान लिया है कि मजदूरी भी अन्य जिन्सों के दामों के साथ-साथ बढ़ने लगती है। पर व्यवहार में ऐसा होता नहीं। जब जिन्सों के दाम बढ़ते हैं तो मजदूरी भी जब तक उसी अनुपात से नहीं बढ़ती तब तक कारखानेदार को हमारी कूत से भी मुनाफा अधिक रहता है। इसके फलस्वरूप कारखानेदार माल ज्यादा पैदा करने लगता है; कार-खाना बढ़ाने भी लगता है। नए-नए कारखाने भी खुलने लगते हैं। अधिक

इसका प्रभाव बाहर से आनेवाली चीजों पर भी पड़ता है। चूंकि कारखानेदार का मुनाफा बढ़ा है, इसलिए उसमें यह ताकत आ जाती है कि वह मुनाफे को थोड़ा कम करके भी विदेशी चीजों के मुकाबिले में अपना माल सस्ता बेच सके। विदेशी चीजों का ऐसी प्रतिद्वंद्विता में टिकना मुश्किल हो जाता है। विदेशी आयात पर इससे बुरा असर पड़ता है।

इसके विपरीत, निर्यात पर अच्छा असर होता है, क्योंकि जब ऊंचे पड़ता की वजह से यहां दाम ऊंचा हो गया पर विदेशों में हमारी चीज का दाम वही पुराना है, तब यहां के उपजानेवाले थोड़ा सा यहां भाव मंदा कर दें तो विदेश में भाव पुराने दामों से भी सस्ता हो जायगा। और इस तरह विदेशों में हमारे माल की बिक्री बढ़ेगी। सारांश यह कि अपनी मुद्रा की कीमत गिरा देने से हमारे कल-कारखाने, उद्योग-धंधे सब पनप उठते हैं; विदेशी आयात पर प्रहार होने लगता है; विदेशी निर्यात जागने लगता है। इस तरह देश की समृद्धि बढ़ने लगती है।

दर गिरने से लाभ स्थायी या अस्थायी ?

यह प्रश्न हो सकता है कि जरा हुण्डी के हेरफेर से या मुद्रा की कीमत कम कर देने से समृद्धि बढ़ने का क्या वास्ता? वास्ता है। वह इस तरह से।

एक आलसी मनुष्य है; वह न खेत बोता है, न मेहनत करता है। इसलिए दारिद्र्य ने उसके घर पर प्रभाव जमा रखा है। अब किसीने उससे कहा कि हम तुम्हें रोजमर्रा कुछ मिठाई खिलाएंगे, कुछ तमाशे दिखाएंगे और कुछ अच्छे कपड़े भी देंगे, बशर्ते कि तुम अपने खेत को मेहनत के साथ जोतो और उसमें जो फसल हो उसका आधा हिस्सा हमें दे दो। वह आलसी मिठाई और अच्छे कपड़ों के प्रलोभन में आकर काम करने लगता है, और अन्त में अच्छी फसल तैयार कर लेता है। फसल के आधे हिस्से की आमदनी वह प्रलोभन देनेवाले सज्जन को सौंप देता है। इस सज्जन को तो, उसने जितना मिठाई इत्यादि पर खर्च किया था उसकी पूरी कीमत उस फसल के आधे हिस्से में से वसूल हो जाती है, और उस आलसी को अच्छा खाने-पहनने को मिला, और आधी फसल मिली जिससे उसकी

समृद्धि वढ़ गई। इसके अलावा उसकी आदत भी तो वदली। काम करते-करते वह आलसी कर्मशील बन गया। प्रलोभन देनेवाले सज्जन का कुछ व्यय नहीं हुआ, और आलसी कर्मण्य बन गया।

अव कोई कहे कि हुण्डी की दर गिरने और समृद्धि से क्या वास्ता? तो यह भी कहा जा सकता है कि आलसी के मिष्टान्न-भोजन से उसकी समृद्धि का क्या वास्ता? पर वात यह है कि गिरती हुई हुण्डी की दर, या दूसरे शब्दों में, गिरती हुई मुद्रा की कीमत माल उपजानेवालों के दिलों में एक तरह का उत्साह और तृष्णा पैदा करती है, जो उन्हें ज्यादा काम करने के लिए खदेड़ती है; और इस तरह देश की समृद्धि पर इसका अच्छा असर होता है।

ठीक इसका विपरीत असर गिरावट की नीति का होता है।

हमने यह बताया है कि यह अच्छा असर मुद्रा की गिरती हुई कीमत का होता है। पर एक दफा कीमत गिरा दी गई, फिर भी क्या उसका असर होता है?

होता है, पर आंशिक। हमने पंप का पहिया घुमाया और पानी कुए में से निकलने लगा। जब पहिया घुमाना वन्द कर दिया तब पानी भी निकलना वन्द हो गया। इसी तरह जब हुण्डी की दर गिरती ही रहती है तब तो चीजों के दाम भी बढ़ते ही चले जाते हैं और उससे पैदा होनेवाले नतीजे—जैसे उद्योग-धंधों की उन्नति, अधिक माल की पैदाइश, बेकारों को रोजगार, विदेशी आयात को ठेस, निर्यात की पुष्टि इत्यादि अपना प्रभुत्व जमाए रखते हैं। उसी तरह हुण्डी की गिरी हुई दर भी एक जगह आकर जब स्थिर हो जाती है और लोगों को उसकी स्थिरता में विश्वास आ जाता है, तब गिरती हुई हुण्डी से जो नतीजे पैदा हुए थे वे धीरे-धीरे करके रफा होने लगते हैं—अर्थात् पंप में से पानी निकलना धीरे-धीरे बन्द हो जाता है।

पर इसके माने यह नहीं कि हुण्डी गिरा कर फिर स्थिर कर दी तो उसका कोई असर ही नहीं हुआ। जो पानी कुए से निकल आया उसकी भी तो कोई कीमत है। उस निकले हुए पानी से हमने सिंचाई की,

धान पैदा किया; उससे हम पुष्ट बने। पुष्ट बन कर हमने मेहनत ज्यादा की। उस मेहनत से फिर नई सम्पत्ति पैदा की, और इस तरह से समृद्धि-चक्र जो चला तो फिर चलता ही गया। इस दृष्टि से गिराई हुई मुद्रा की दर का लाभ भी एक दृष्टि से स्थायी-सा हो गया।

पर यह भी कोई कह सकता है कि फिर हुण्डी की दर गिरने से इस तरह लाभ होता है तो हम दर को गिराते ही क्यों न जायँ? स्थिर करें ही क्यों? इस रामबाण औषधि से अघाना ही क्यों? अफसोस! मकर-ध्वज के सेवन से शरीर की चपलता अवश्य बढ़ती है, पर वह स्वयं मनुष्य की क्षुधा को नहीं मेटता। और ज्यादा सेवन से तो शरीर का अन्त भी हो सकता है। फिर यदि हम मुद्रा की दर को गिराते ही चले जायँ तो एक समय ऐसा आ सकता है कि जब मुद्रा की साख में किसीको श्रद्धा ही न रहे और मुद्रा स्वयं नेस्तनाबूद हो जाय। और फिर तज्जनित हानि-लाभ भी कहां रहे? जब शरीर ही नहीं तो प्राण कहां? मुद्रा ही मर मिटे, तो उससे होनेवाले हानि-लाभ कहां रहे? और यदि मुद्रा की कीमत गिरा देना ही एक जादू का डंडा हो, जो एक पल में समृद्धि पैदा कर दे, तो फिर हर मुल्क ही इसका प्रयोग क्यों न करे? और यदि हर मुल्क इसका प्रयोग करने लग जाय तो दो देशों के बीच जो हुण्डी की घटा-बढ़ी से हानि-लाभ होना है वह होने ही नहीं पाए। दो लकीर पास-पास में हों, और एक बड़ी हो, तो दूसरी छोटी कहलायगी। पर यदि बड़ी को काट कर छोटी कर दी जाय तो, जो पहले छोटी थी वह अब बड़ी कहलायगी।

हुण्डी गिरने के माने भी तो यही हैं कि हमने अपनी मुद्रा की दर गिरा दी; अन्य मुल्कवालों ने नहीं गिराई। ऐसी हालत में अपेक्षाकृत हमारी मुद्रा सस्ती हो गई। पर यदि दूसरे देशवालों ने भी गिरा दी, तो फिर हमारी हुण्डी की दर दूसरे देशों के मुकाबिले में नीची नहीं रही। और ऐसी हालत में विदेशी आयात-निर्यात पर कोई अच्छा-बुरा असर नहीं हुआ। बताना तो यह है कि हुण्डी गिरने का असर पूर्णतया स्थायी नहीं है; एक अंश में स्थायी है। मकरध्वज-सेवन का कुछ तो लाभ शरीर को मिलता ही है। हुण्डी गिराने से समाज की आर्थिक स्थिति को जो एक मर्तबा लाभ मिलता

है उसका स्थायी असर भी रह ही जाता है। ठीक इसके विपरीत, गिरावट-नीति द्वारा मुद्रा की दर चढ़ा कर समाज की आर्थिक स्थिति को हानि पहुँच जाती है, वह भी स्थायी नुकसान कर बैठती है। छाती में जो सेल लगा उसका घाव तो रुझ गया, पर उसका दाग तो रह ही गया, और वह जगह भी सदा के लिए नाजुक बन गई।

कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि संसार की बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं की तह में एक छोटी-सी घटना हुई है, जिसको इतिहास लिखने-वालों ने कम महत्व दिया। प्रशिया के फ्रेडरिक दी ग्रेट को महान बनने का मौका यों मिला कि ऑस्ट्रिया का शाहन्शाह मर गया। पर ऑस्ट्रिया का शाहन्शाह भी तो इसलिए मरा कि वह एक रोज कुकुरमुत्ते की तरकारी बेहद परिमाण में खा गया। 'विधि का लिखा को मेटनहारा' यह उक्ति सही है। पर विधि भी जब कोई बड़ी होनहार को घड़ने बैठता है तब शुरुआत एक नगण्य चीज से करता है। ऑस्ट्रिया के शाहजादों के खून ने यूरोप में खून की नदियां बहा दीं। दुर्योधन और अर्जुन, जब दोनों श्रीकृष्ण के पास महाभारत–युद्ध के लिए सहायता मांगने गए तब यदि दुर्योधन श्रीकृष्ण के सिरहाने न बैठ कर पैताने बैठता, या तो श्रीकृष्ण की सेना न लेकर स्वयं श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में लेता, तो महाभारत-युद्ध का अन्त क्या होता, यह बताना कठिन है।

पर कोलम्बस ने अमेरिका का आविष्कार किया; और नई दुनिया से व्यापार-रोजगार चमक उठा। उसके कारण यूरोप भर में सरसब्जी फैल गई, ऐसा यूरोप के आर्थिक इतिहासज्ञ मानते हैं। अमेरिका की भूमि क्या मिली, यूरोप के लिए तो गड़ा सोना मिल गया। और केलीफोरनिया में तो सचमुच सोने की खानें मिल गईं जिन्होंने यूरोप की समृद्धि की खूब वृद्धि की। इन सबका यूरोप पर कितनी मात्रा में असर हुआ, यह चाहे न मापा जा सके, पर जो जाहोजलाली की बाढ़ यूरोप में आ गई उसने उसको सदा के लिए सम्पन्न कर दिया, इसमें कोई शक नहीं।

इसलिए हुण्डी गिरने का असर चाहे अस्थायी हो, पर एक मर्तबा

मिला हुआ सहारा कमजोर शरीर के पनपने में काफी सहायता पहुंचा देता है।

फुलावट—नियंत्रित और अनियंत्रित

फुलावट-नीति के शुभ परिणामों का भी हमने जिक्र किया और अति मात्रा में उसके बुरे नतीजे का भी वर्णन किया। यहां यह समझ लेना चाहिए कि जहां फुलावट-नीति केवल व्यापार-रोजगार को चमकाने के लिए, उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए काम में लाई जाती है, वहां फुलावट स्वल्प मात्रा में, और नियन्त्रण के साथ, उपयोग में लाई जाती है।

हम बता चुके हैं कि जब फुलावट द्रुत गति से अनियन्त्रित होकर चलती है तब ब्याज सस्ता नहीं, मंहगा—अत्यन्त मंहगा हो जाता है। मंहगा ब्याज भी रोजगार-व्यापार के लिए घातक है। इसलिए स्वेच्छा से जब फुलावट-शस्त्र का प्रयोग होता है तब सारी नीति पर इस हिसाब से नियन्त्रण रखा जाता है कि जिससे सिक्के की साख में से लोगों की श्रद्धा न टूटे; लोगों में इसके सम्बन्ध में भय या घबराहट का संचार न हो; ब्याज की दर साधारणतया ठीक हो और दामों में तेजी इतनी ही आवे जितनी कि संचालक चाहते हों। इसके माने यह हुए कि ऐसी नीति तो स्वेच्छा से ही काम में लाई जाती है, और उसी हालत में काम में लाई जा सकती है जबकि देशकी सरकार प्रजा का विश्वासभाजन हो, बलिष्ठ हो और देश और परदेश में उस सरकार और उस देश की पूरी धाक हो। और चूंकि यह सारा-का-सारा खेल अपने देश में उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देने के लिए और लोगों में नई आर्थिक जागृति पैदा करने के लिए खेला जाता है इसलिए यह फुलावट भी स्वल्प मात्रा में ही होती है।

पर इसके विपरीत, जहां फुलावट अनियन्त्रित होती है—जैसा कि रूस, जर्मनी वगैरह के सम्बन्ध में हम ऊपर बता चुके हैं—तब इसका परिणाम दूसरी तरह का होता है। यह सही है कि उस फुलावट में भी कल-कारखाने बेहद पनपते दिखाई देते हैं, पर मुद्रा की शक्ति का इस जोर से ह्रास होता चला जाता है कि वह करोड़ों का मुनाफा हजारों के मुकाबिले में भी बलहीन

होता है। और दूसरी तरफ सरकार और देश की साख में इतने जोर का धक्का पहुँचता है, कि जिनके पास पूंजी होती है वे तबाह हो जाते हैं। लोग अपना माल-मत्ता, सम्पत्ति आदि बाहर भेजने लगते हैं। परस्पर की साख में भी विश्वास हट जाता है। अन्तरराष्ट्रों में देश की साख कौड़ी की रह जाती है। सारा आर्थिक तन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।

ऐसी स्थिति अवश्य ही अवांछनीय है, और यह स्पष्ट है कि जान-बूझ कर ऐसी स्थिति को कोई निमन्त्रण नहीं देता। यह तो मजबूरी से ही आती है। देश का दिवाला निकलने का दूसरा नाम यह उग्र फुलावट है, जिसे राज-दुराजी के जमाने में ही सरकार बलात् बाध्य होकर अपनाती है। सरकार को जब राजतन्त्र चलाने के लिए कर-संग्रह में भी कठिनाई आने लगती है तब कागज, स्याही और प्रेस की शरण लेकर इस जोर से नोट छापना शुरू करती है कि इस ताण्डव नृत्य को देख कर एक छिन के लिए भी कोई अपने पास नोट रखने की हिम्मत नहीं करता।

हम बता चुके हैं कि चलण का मूल्य स्थिर नहीं, पर घटता-बढ़ता है। तो भी जन-समाज के मन पर एक ऐसी थोथी और बेबुनियाद छाप पड़ी हुई है कि चलण का मूल्य स्थायी है। यदि ऐसा नहीं होता तो जिस निर्भयता के साथ लोग रुपया उधार देते हैं और सरकारी कागजों में लगाते हैं वैसा कभी नहीं होता। पर मनुष्य तो प्रायः वर्तमान का पुजारी होता है, और पुरानी स्मृति कटु भी हो तो उसे भूल जाता है। इसलिए जब तक कोई भयंकर युद्ध, विप्लव या आकस्मिक घटना के कारण चलण की कीमत बुरी तरह नहीं गिरने लग जाती तब तक साधारण मनुष्य को तो पता भी नहीं चलता कि चलण की कीमत गिरी है क्या! साधारण फुलावट यदि नियन्त्रित हो तब तो आम जनता को पता भी नहीं चलता कि पर्दे के पीछे क्या नाटक खेला जा रहा है। तो भी जिन्सों के दामों के आंकड़ों का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें सहज ही पता लग जायगा कि पिछले सौ सालों में चलण के मूल्य में घटा-बढ़ी होती ही रही है।

जिन्सों के दामों के आंकड़े कैसे तैयार होते हैं इसका संक्षिप्त विवरण भी जान लेना चाहिए। मान लीजिए कि हमारे देश के गरीब किसान अधिकतर गेहूँ, बाजरा, मोठ, चना, घी, तेल, दियासलाई, कपड़ा, गुड़, इत्यादि—४० या ५० चीजों का उपयोग करते हैं। तो आंकड़े तैयार करने वाले विशेषज्ञ उन सब जिन्सों के दामों का एक गड़-पड़ता निकाल लेते हैं। वह गड़-पड़ता साधारण तरह से यों निकाला जाता है कि जिस साल को हम बुनियादी साल मानते हैं उसके गड़-पड़ता का अंक सौ मान लिया जाता है। मान लीजिए, सन् १९१४ को हमने बुनियादी साल माना। उस साल में

गेहूँ का भाव था	५ रुपया मन
जौ का भाव था	४ रुपया मन

तेल का भाव था	२० रुपया मन
घी का भाव था	४० रुपया मन
गुड़ का भाव था	५ रुपया मन
कपड़े का भाव था	४ आने गज

(यह महज उदाहरण है, इसीलिए ४०-५० चीजों के दाम न देकर सिर्फ ६ जिन्सों के दाम दिए हैं ।)

तो हमने उस साल की जिन्सों की कीमत १०० के अंक पर कायम कर दी । अब १९४१ में मान लीजिए:—

गेहूँ का भाव था	६। रुपया मन (याने २५ प्रतिशत बढ़ा)
जौ का भाव था	५ रुपया मन (याने २५ प्रतिशत बढ़ा)
तेल का भाव था	१५ रुपया मन (याने २५ प्रतिशत घटा)
घी का भाव था	८० रुपया मन (याने १०० प्रतिशत बढ़ा)
गुड़ का भाव था	२॥ रुपया मन (याने ५० प्रतिशत घटा)
कपड़े का भाव था	६ आने गज (याने ५० प्रतिशत बढ़ा)

तो—

१ वस्तु में	२५	प्रतिशत	बढ़ा
१ "	२५	"	बढ़ा
१ "	२५	"	घटा
१ "	१००	"	बढ़ा
१ "	५०	"	घटा
१ "	५०	"	बढ़ा

तो १२५ प्रतिशत कुल बढ़ा; और ६ जिन्सों द्वारा १२५ प्रतिशत को विभाजित किया तो फल यह निकला कि एक जिन्स पर २०$\frac{५}{६}$ प्रतिशत वृद्धि हुई ($\frac{१२५}{६}$=२०$\frac{५}{६}$ प्रतिशत)—अर्थात् जिन्सों की दर १०० से बढ़ कर १२०$\frac{५}{६}$ हो गई । तात्पर्य यह हुआ कि जिस चलण की क्रय-शक्ति १९१४ में १०० थी वह १९४१ में २०$\frac{५}{६}$ प्रतिशत कम हो गई । दूसरे शब्दों में, चलण का दाम २०$\frac{५}{६}$ प्रतिशत गिर गया ।

सूचक अंक

इस तरह जिन्सों की दर के जो अंक तैयार किए जाते हैं उन्हें हम "सूचक अंक" के नाम से पुकार सकते हैं। अब १९१५ से १९४० तक के सूचक अंक नीचे की तालिका में देते हैं। इससे पता लगेगा कि चलण की क्रय-शक्ति में कितनी घटा-बढ़ी हुई है, अर्थात् चलण की कीमत किस कदर घटती या बढ़ती रही है।

कलकत्ते में कुछ खास चीजों के थोक दाम

१९१४ = १००

१९१५	औसत	११२	१९२८	औसत	१४५
१९१६	,,	१२८	१९२९	,,	१४१
१९१७	,,	१४५	१९३०	,,	११६
१९१८	,,	१७८	१९३१	,,	९६
१९१९	,,	१९६	१९३२	,,	९१
१९२०	,,	२०१	१९३३	,,	८७
१९२१	,,	१७८	१९३४	,,	८९
१९२२	,,	१७६	१९३५	,,	९१
१९२३	,,	१७२	१९३६	,,	९२
१९२४	,,	१७३	१९३७	,,	१०२
१९२५	,,	१५९	१९३८	,,	९६
१९२६	,,	१४८	१९३९	,,	१०८
१९२७	,,	१४८	१९४०	,,	१२०

पर यह भी सही है कि चलण की कीमत के स्थायित्व में जितनी श्रद्धा यूरोपवासियों की रही उतनी इस देश के लोगों की न रही। हमारे पिछले इतिहास में समय-समय पर इतने राज्य बदलते रहे हैं, इतने दंगे-फसाद होते रहे हैं कि इनके कारण भारतवासियों को स्वभाव से ही सोने-चांदी में मोह ज्यादा रहा। इसके विपरीत इंग्लिस्तान में, बाहर के आक्रमणों से

मुक्त रहने की वजह, वहां के लोगों में काफी अमन-चैन रहा। नतीजा यह हुआ कि स्वभाव से ही चारों ओर शान्ति और व्यवस्था दिखाई देती रही, और इसलिए उन्हें अपनी सरकार की साख में श्रद्धा भी ज्यादा रही। लंदन नाणे का एक वृहत् बाजार बन गया और अंग्रेजों की देखा-देखी हमने भी सरकारी कागजों में और तरह-तरह के शेयरों में रुपया लगाना सीख लिया।

चलण की कीमत गिरती आई है

पर बताना तो यह था कि चलण की कीमत स्थायी नहीं रही, और दूसरी बात यह बतानी थी कि चलण की कीमत गिरा कर अपना उल्लू सीधा करने का तरीका इतिहास में हर सल्तनत ने--जब वह विपद्‌ग्रस्त हुई तब--बिना किसी हिचकिचाहट के अख्तियार किया है। रोम की प्राचीन सरकार ने हजारों साल पहले अपने चलण को अंशतः खोटा करके अपना खजाना भरा; तभी से हर सल्तनत ने यह पाठ सीख लिया। और चलण के दाम गिरा कर प्रजा की बिना जानकारी के कर-वसूली का यह अद्‌भुत् तरीका मौके-मौके पर हर सरकार ने विपद् के समय अपने लाभ के लिए कामयाबी के साथ आजमाया।

बात यह है कि सिक्का जैसा भी हो, अच्छा या बुरा, उसके चलण का संपूर्ण अधिकार तो हर देश की सरकार के पास रहता है। और इस अधिकार का दुरुपयोग करके भी यदि कोई सल्तनत अपना दिवाला दबा सके और राज्यच्युत होने से अपने-आपको बचा सके तो कौन ऐसी संयमी सल्तनत हो सकती है जो इस अधिकार का दुरुपयोग करने के लोभ का संवरण कर सके? इसलिए जहां किसी सल्तनत पर आफत आई, कोई बड़ा बलवा होने को है या कोई बड़ा युद्ध छिड़ गया और धन की बड़ी राशि की जरूरत आ पड़ी और प्रजा सीधी तरह से देने को तैयार नहीं, यदि जबरन लिया जाय तो क्रांति की आग धधक उठती है, लोगों की रही-सही सहानुभूति भी गायब हो जाती है, तो ऐसे विकट समय में सबसे सीधा और सहज मार्ग कर-वसूली का यही रह जाता है कि नोट छापे जाओ

और उनीसे अपना खर्च चलाए जाओ। धन की जरूरत पड़ी और सीधी अंगुली से घी न निकला तो फिर चलण के दाम गिरा कर टेढ़ी अंगुली से —चाहे वह फिर अधिकार का दुरुपयोग ही क्यों न हो—घी निकाला !

पर एक बात और है। चलण के दाम गिराने में ऐसी विपद्ग्रस्त सरकार का तो स्वार्थ रहता ही है, पर प्रजा के एक दल-विशेष की भी सहानुभूति रहती है। हमने पहले बताया है कि चलण के दाम गिरने से कर्जदार और बंधी मालगुजारी देनेवाले और अन्य ऐसे लोग, जिनका दायित्व बंधी हुई रकम में हो, उन्हें लाभ होता है। इसलिए ऐसे सब लोग चलण के दाम गिरने के स्वभाव से ही पक्षपाती होते हैं, और विपद्ग्रस्त सरकार को तमाम ऐसे लोगों की सहानुभूति अपने-आप मिल जाती है। प्रख्यात अर्थ-शास्त्री श्री केयन्स ने सच कहा है :—

"चलण का मूल्य जब गिरता है तब उसका लाभ केवल सरकार तक ही सीमित नहीं रहता। किसान, कर्जदार और अन्य लोग, जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र में एक निर्धारित रकम देनी पड़ती है—मसलन ब्याज या माल-गुजारी इत्यादि—वे सब-के-सब इस लाभ में शरीक हो जाते हैं। जैसे आर्थिक क्षेत्र में आजकल व्यापारी लोग समाज के एक रचनात्मक और क्रियात्मक अंग माने जाते हैं, वैसे ही प्राचीन समय में किसान इत्यादि एक विशिष्ट अंग माने जाते थे, और सल्तनत पर इनका प्रभाव तो पड़ता ही रहता था। कोई भी सांसारिक परिवर्तन, जो द्रव्य के मूल्य को ठेस पहुंचाता था, वह नए आदमियों के लिए एक रसायन का काम कर जाता था। यह परिस्थिति पुराने लोगों की दौलत का नाश करके नए लोगों के पास दौलत ला देती थी। जिन्होंने धन संग्रह करके रखा था उनका खातमा करके व्यवसायशील लोगों को यह परिस्थिति सहायक हो जाती थी। कुदरत का यह खेल ऐसा लगता है मानो संग्रह और क्रिया के बीच के संग्राम में द्रव्य के मूल्य का गिरना क्रिया का पक्ष लेता रहा हो। द्रव्य के मूल्य के गिरने की प्रवृत्ति ने बपौती धन और उस पर चक्रवृद्धि ब्याज खानेवाले इन्सान की खासियत पर काफी आक्रमण किया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि बपौती संपत्ति को अकर्मण्य होकर भोगने की वृत्ति को इसने जबरदस्त धक्का मारा।

इस परिक्रिया ने हर पीढ़ी को बपौती सम्पत्तिके उत्तराधिकार से एक तरह से वंचित-सा कर दिया। जो हो, विपद्ग्रस्त सरकार की जरूरतें और कर्ज-दार वर्ग की आवश्यकताएं, इन दो प्रभावों ने मिल कर, कभी एक तो कभी दूसरी शक्ति ने, द्रव्य के मूल्य का लगातार घटाना जारी रखा है। यह क्रिया ईसा के ६०० साल पहले, जब पहले-पहल सिक्का चला, तभी से न्यूनाधिक रूप से चलती आ रही है।"

फुलावट का यह एक दिलचस्प पहलू है। किस तरह समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों का स्वार्थ सिक्के के मूल्य के साथ बंधा है, किस तरह जान-बूझ कर समाज की कुछ श्रेणियां चलण के मूल्य को गिरा देने के पक्ष में रहती हैं और असाधारण समय में लुढ़कती हुई सल्तनत के लिए भी चलण का मूल्य गिराना कितना उपयोगी शस्त्र है, यह ऊपर के कथन से जाहिर होता है।

फुलावट एक तरह का कर—प्रच्छन्न कर है, यह कम लोग जानते हैं। पर यह ध्रुवसत्य है कि एक कमजोर सरकार भी, जिसके कर लगाने के अन्य सब साधन सूख गए हों, और जिसके लिए कोई भी कर उगाहना असंभव-सा हो गया हो, इस अन्तिम शस्त्र का उपयोग करके प्रच्छन्न कर उपार्जन कर सकती है। इस प्रच्छन्न कर का यह मजा है कि कोई कितना ही सरकार का विरोधी क्यों न हो, वह भी इस कर से बच नहीं सकता। इस पहलू को कुछ और विश्लेषण के साथ समझाने की जरूरत है।

जहां हमने "द्रव्य परिमाण मत" का जिक्र किया है वहां यह बतला दिया है कि अन्य सब स्थिति समान रूप से बर्तती हों तो जितना ही चलण में हम द्रव्य का अधिक प्रवेश करावेंगे उसी अनुपात से द्रव्य का मूल्य गिरेगा और जिन्सों के दाम चढ़ेंगे। इसका फिर एक उदाहरण दे देना अच्छा होगा।

मान लीजिए कि सामान्य अवस्था में हमारे यहां २५० करोड़ रुपए के नोट चलण में हैं, जिनकी सोने की कीमत १० करोड़ तोला सोना है। (एक तोला सोने की कीमत=२५ रुपए। इसलिए १० करोड़ तोला सोना×२५=२५० करोड़ रुपए) तो यदि हमने चलण मे २५० करोड़ रुपए के नोट और छाप कर डाल दिए, तो भी सोने की कीमत तो वही १० करोड़ तोले की रहेगी। पर चूंकि चलण में नोट अब ५०० करोड़ के हो गए, इसलिए जहां पहले २५० करोड़ रुपए के नोटों की कीमत १० करोड़ तोला सोना थी, अब ५०० करोड़ रुपए के नोटों की कीमत १० करोड़ तोला सोना रही—अर्थात् नोटों की सोने की माप में जो कीमत पहले थी उससे आधी हो गई। इसके माने यह भी हुए की जिन्सों की कीमत दुगुनी हो गई—अर्थात् नोटों का चलण दुगुना हुआ, उसके अनुपात से नोटों का मूल्य तो आधा रह गया, पर जिन्सों का मूल्य दुगुना हो गया।

अब सरकार को जो नए २५० करोड़ रुपए नए नोट छापने के कारण हासिल हुए वह सारा-का-सारा धन उन लोगों की जेब से निकला, जिनके पास चलण की धरोहर थी—अर्थात् ऐसे लोगों की जेब से निकला जो रुपया उधार देने का काम करते थे—जैसे बैंक, साहूकार इत्यादि, या तो जिन्हें जेब-खर्च के लिए भी अपनी जेब में कुछ नोट रखने पड़ते थे। इस २५० करोड़ की क्रय-शक्ति अवश्य ही पहले के मुकाबिले में घट गई, क्योंकि जिन्सों के दाम जो चढ़ गए। पर जब फुलावट-नीति पहले-पहल शुरू होती है तब लोगों के अज्ञान के कारण जिन्सों के दाम अचानक नहीं चढ़ जाते, और इसलिए नए २५० करोड़ की क्रय-शक्ति भी शुरू-शुरू में पहले से बिल्कुल आधी शायद न होगी। अब सरकार इस तरह से यदि २५० करोड़ का कर उगाहती तो सैकड़ों झमेले होते, पचासों तरह का विरोध होता, कर-कानून बनाना पड़ता। इसके विपरीत, इस तरह से चुपचाप नोट छाप कर चलण में प्रवेश करा देने से सरकार ने चुपचाप अपना काम बना लिया।

इस कर से बचना असंभव-सा है

कोई कह सकता है कि क्या इस कर से कोई बच भी सकता है? हां, कल्पना में बच सकता है, पर व्यवहार में शायद ही। आखिर यह कर उसी की जेब से निकलता है, जिसके पास द्रव्य की धरोहर हो। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यह कर एक तो इस तरह के लोगों की पाकेट से निकलता है जो उधार रुपया देते हैं; दूसरे, ऐसे लोग जिन्हें क्रय-विक्रय के लिए रोजगार-धंधे के लिए कुछ-न-कुछ रुपया तो सिलक में रखना ही पड़ता है, उनकी जेब से भी यह कर निकलता है।

अब ये दोनों तरह के लोग कर से इस तरह बच सकते हैं कि उधार देनेवाले तो उधार देना बन्द कर दें, घर में जवाहरात इत्यादि रख छोड़ें, और क्रय-विक्रयवाले नोट का व्यवहार तक करना छोड़ दें। पर यह नामुमकिन है। सूद पर उधार देनेवाले शायद उधार देना बन्द करके अपना धन जिन्सों में रोक दें, पर नित्य की खरीद-फरोख्त के लिए रुपए

का व्यवहार बन्द करना, यह दवा मर्ज से भी कहीं ज्यादा कष्टप्रद है। हम गहरे उतरने पर देखेंगे कि रोजमर्रा की खरीद-फरोख्त के लिए जो रुपया हम उपयोग में लाते हैं उसके कारण हर व्यक्ति पर यह नई तरह का कर इतनी कम मिकदार में पड़ता है कि बजाय इसके कि वह रुपए का व्यवहार बन्द कर दे, एक नागरिक इस कर को अदा करना अधिक पसन्द करेगा।

हम एक अन्तिम सीमा का उदाहरण ले लें। मान लीजिए सरकार चलण में इतना द्रव्य प्रविष्ट करती है कि जिसके कारण हर महीने द्रव्य का मूल्य करीब आधा ही रह जाता है। अब यदि रोजमर्रा के व्यवहार के लिए हर मनुष्य दो दिन से ज्यादा फरोख्त किए हुए माल का रुपया अपने पास नहीं रखता, तो इसके मानें यह हुए कि रुपए की एक महीने में १५ बार पल्टाई हुई—अर्थात् १५ बार भिन्न-भिन्न कामों के लिए उसी रुपए का उपयोग हुआ। द्रव्य का मूल्य गिरा एक महीने में ५० प्रतिशत। रुपए की पल्टाई हुई एक महीने में १५ बार। तो ५०÷१५=३.३३। अर्थात् हर सौदे की लेवा-बेची पर ३.३३ प्रतिशत कर पड़ा। याने, १०० रुपए में जिस सौदे को खरीदते उसके १००+३.३३, अर्थात् १०३.३३ रुपए असल में आपको देने पड़े। यह कर असाधारण जमाने के लिए इतना कम है कि केवल इससे बचने के लिए ही कौन रुपए का व्यवहार बन्द करेगा?

इसलिए, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस कर से अत्यन्त विरोधी भी बच नहीं सकता; और निकम्मी-से-निकम्मी सरकार भी यह कर उगाह सकती है। असल में तो इस शस्त्र का उपयोग भी वही सरकार करती है, जिसका दिवाला निकलने जा रहा हो। हां, अल्प मात्रा में, और नियंत्रण के साथ, तो उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए, जैसा कि पहले बता चुके हैं, हर अच्छी सरकार भी फुलावट-नीति को समय-समय पर काम में लाती है।

पर यह भी सही है कि जिस तरह हर चीज की सीमा होती है वैसे ही इस शस्त्र की करामात के बारे में भी कहा जा सकता है। जब साख में लोगों की कोई श्रद्धा नहीं रहती तब लोग महज खरीद-बिक्री के लिए, और

गो भी अत्यन्त कम समय के लिए ही, अपने पास नोट रखते हैं। नतीजा यह होता है कि चलण को व्यवहार में लानेवाले इतने कम हो जाते हैं कि फिर हजारों मन नोट छाप कर चलण में प्रविष्ट करने पर भी कोई लम्बी रकम सरकार को हासिल नहीं होती। इसलिए इस शस्त्र की धार भी अंत में करीब-करीब भूंटी-सी पड़ जाती है।

ऐसी भयंकर फुलावट का एक परिणाम और होता है। सरकार का कर्ज तो अपने-आप चुक जाता है। जब द्रव्य का मूल्य इतना गिर जाय कि रुपया एक कौड़ी का भी न रहे तो, फिर हजारों-अरबों का देना-पावना भी केवल हिसाब-बहियों की शोभा की चीज रह जाता है; और इस तरह सरकार का कर्ज अपने-आप रफा हो जाता है। चूंकि सारा-का-सारा यह कर द्रव्य के धरोहरधारी की जेब से निकला, इसलिए इसे हम यदि पूंजी-कर की भी उपमा दें तो यह अनुपयुक्त उपमा न होगी। पर यह पूंजी-कर घुमाके नाक पकड़ने-जैसी चीज है। सीधे रास्ते से पूंजी-कर लगाने में मनुष्य शास्त्रीय विधि का उपयोग कर सकता है। पर लुढ़कती हुई सल्त-नत में सीधा मार्ग अख्तियार करने की हिम्मत कहां? इसलिए यह अशास्त्रीय और भद्दा मार्ग ऐसी विपद्ग्रस्त सरकार के लिए ज्यादा आसान होता है।

१०

हमने अबतक फुलावट-नीति की चर्चा की। उससे पाठक के दिल पर यही असर होगा—और वह स्वाभाविक है, क्योंकि सारे विवेचन में ध्वनि भी वही निकलती है—कि फुलावट या गिरावट की क्रिया का संचालन केवल सरकार या नोट-प्रसारक बैंक के हाथ में ही रहता है। किन्तु यह बात अंशतः ही सही है। हद दरजे की भयंकर फुलावट या गिरावट का संचालन तो अवश्य ही या तो सरकार कर सकती है या उसके इशारे से नोट-प्रसारक बैंक। पर, एक सीमा के भीतर, फुलावट या गिरावट अन्य बैंक या अन्य साहूकार भी पैदा कर सकते हैं।

हमने बतलाया है कि धन का प्रतीक मुद्रा, मुद्रा का प्रतीक नोट और नोट का या मुद्रा का प्रतीक चेक या हुंडी हो जाती है। जिस आसामी की साख अच्छी है उसकी हुंडी भी धन ही है। फुलावट या गिरावट नोटों के अधिक विस्तार या संकोच से पैदा होती है, क्योंकि नोट धन के प्रतीक हैं। तो उसी तरह चेकों और हुंडियों-द्वारा भी तो धन का प्रसार या संकोच किया जा सकता है, क्योंकि यह भी तो धन के प्रतीक हैं। वह इस तरह होता है:—

मान लीजिए एक बैंक है या एक साहूकार है। उसके पास रुपया सिलक में नकद पड़ा है, अथवा, सरकारी कागजों में, कम ब्याज में रुका पड़ा है। न तो वह अक्रिय रकम किसी तरह के वाणिज्य-व्यवसाय में लगती है, न लेन-देन में काम आती है। उधार लेनेवालों की कमी नहीं, पर उन्हें बैंक या साहूकार की उस अक्रिय पूंजी से कोई लाभ नहीं मिल रहा है। अब व्यापार को पनपते देखकर पूंजी के स्वामी उस बैंक या साहूकार की रुपया उधार देने की इच्छा होती है। वह व्यापारियों एवं अन्य उधार लेनेवालों को रुपया देना शुरू करता है और इस तरह उस धन का उपयोग होने लगता है। अक्रिय रकम अब सक्रिय बन जाती है और जितनी ही रकम सक्रिय बनती जाती है, उतनी ही बाजार में नाणे की बहुतायत होती जाती है।

उधार की फुलावट

इस बहुतायत का वही असर होता है जो नोट-प्रसार के कारण होता है, बल्कि नोट-प्रसार से पैदा हुई फुलावट की अपेक्षा , उधार-द्वारा की गई फुलावट कभी-कभी ज्यादा शक्तिशाली भी होती है । एक करोड़ रुपए का नया नोट हम चलण में डालते हैं और सौ करोड़ का नोट पहिले से चलण में है, तो साधारणतया यह कहा जा सकता है कि एक प्रतिशतक फुलावट हुई और उसका साधारणतया (यदि और कोई नया मसला उलट-फेर का मौजूद न हो तो) उसी परिमाण में दामों पर भी असर होना चाहिए। पर उधार-द्वारा एक करोड़ की पूंजी यदि नाणे के बाजार में प्रवेश करती है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसका दामों पर असर, एक करोड़ की फुलावट के अनुपात से ही होगा ।

हम कल्पना कर सकते हैं कि किसी आसामी के पास एक लाख का गल्ला पड़ा है जिसपर उस आसामी की रकम लगती है। उसे रुपया उधार न मिलने की वजह से उसका हाथ रुका पड़ा है। उसे अचानक बैंक से रुपए उधार मिल जाते हैं । अब उसका हाथ खुला हो जाता है । एक लाख रुपए से वह एक तेल का कारखाना खोलता है। उसे अब सरसों की जरूरत पड़ती है। सरसों बेचनेवाले आसामी के पास मुद्दत से सरसों पड़ी थी, वह बिक नहीं रही थी। उसे बेच कर सरसोंवाला आसामी एक बर्तन बनाने का कारखाना खोल लेता है। उसके लिए तांबा खरीदता है। तांबेवाले आसामी के पास मुद्दत से तांबा पड़ा था जो बिक नहीं रहा था। तांबा बिकते ही वह नया माल खरीदने लगता है। नया माल खरीदने से खानवाला काम बढ़ाता है। चारों तरफ से मजदूरों की मांग होने से ठलुए मजदूरों को काम मिलता है । वे फिर ज्यादा कपड़ा खरीदने लगते हैं; तो कपड़े की पैदाइश बढ़ती है। उसके माने हैं—ज्यादा मजदूरों की मांग, ज्यादा रुई की जरूरत। बस, इस तरह से बाजार की रोशनी जो फीकी हो चली थी, फिर चमकती है। उस चमक का दूसरी चीजों पर प्रभाव पड़ता है। इस तरह उत्पन्न हुई आशावादिता चारों ओर प्रकाश डालती है और थोड़ी-सी रकम से, बड़ी-सी फुलावट भी आ सकती है ।

हमने यह उदाहरण इसपर काफी रंग चढ़ाकर पेश किया है। ऐसा ही होता है सो नहीं, पर ऐसा हो सकता है, इतना ही बताना है। गरज यह है कि उधार से पैदा हुई फुलावट कभी-कभी अपने अनुपात से ज्यादा काम कर जाती है; क्योंकि उसके पीछे एक भावना रहती है, जो लोगों में आशा का संचार करके कभी-कभी आवश्यकता से अधिक सरगर्मी ला देती है। इसी तरह जब बैंक अपना उधार सिमेटती है तो आवश्यकता से ज्यादा मुर्दनी भी पैदा कर देती है।

अब हम देख सकते हैं कि उधार-द्वारा भी धन का विस्तार और संकोच और तज्जनित फुलावट या गिरावट पैदा की जा सकती है।

नोटों के प्रसार और संकोच से जो काम होता है, एक तरह से उधार के विस्तार और संकोच से भी वही काम होता है। दोनों चीजें एक तरह से तो एक ही हैं, क्योंकि दोनों के द्वारा धन का संकोच या विस्तार हो सकता है। पर बैंकों या साहूकारों-द्वारा धन का विस्तार अर्थात् धन का चलण में प्रवेश तभी होता है जब कि व्यापार चलता हो या तो अच्छे चलने की आशा हो, कारखानेवाले कमाते हों, भविष्य उज्ज्वल दिखता हो। रुपया उधार देने में किसी तरह का खतरा न लगता हो, तभी उधार का विस्तार होता है। साख एक नाजुक चीज है जो लाजवंती पौधे की तरह खतरे की आशंका होते ही अपने डाल-पात को समेट लेती है। जहां समय अच्छा आया, व्यापार पनपने लगा, कि पूंजीवाले उधार देने में बहादुरी दिखाने लगते हैं, और जहां खतरे की घंटी बजी कि वे अपना बोरिया-बधना उठाने लगते हैं। इस तरह से उधार देनेवाले भी फुलावट और गिरावट के कर्ता बन जाते हैं। इस फुलावट या गिरावट को साख की फुलावट या गिरावट भी कह सकते हैं।

पर यह उधार की फुलावट या गिरावट सीमा के भीतर ही रहती है। किसी पूंजीवाले के पास अगनित धन तो होता नहीं; संख्याबद्ध धन ही होता है। इसलिए बैंक या साहूकार-द्वारा की गई फुलावट या गिरावट भी सीमा के भीतर बद्ध रहती है।

११

फुलावट-नीति का हमने विस्तार के साथ जिक्र किया। गिरावट का हमने ज्यादा जिक्र नहीं किया है। पर शायद यह समझाने की जरूरत नहीं कि गिरावट का परिणाम हर बात में फुलावट से उल्टा होता है।

विपद्ग्रस्त सरकार धन उगाहने के लिए—चारों तरफ से उसकी चाल रुक जाती है तब—फुलावट-नीति का आसरा लेती है, या तो स्वल्प और नियंत्रित मात्रा में फुलावट उद्योग-धंधों को पनपाने के लिए भी काम में लाई जाती है।

तो फिर यह प्रश्न हो सकता है कि गिरावट-नीति का दौरदौरा कब होता है?

गिरावट-नीति आम तौर से ऐसी दशा में प्रयोग में लाई जाती है जब कि सरकार तो व्यवस्थित है और व्यवस्था के साथ विशेष हेतु के लिए उस सरकार ने फुलावट-नीति का प्रयोग किया है; पर मात्रा से कुछ ज्यादा फुलावट हो गई है, और इसलिए, फुलावट का जोश ठंडा करने के लिए व्यवस्था के साथ अब कुछ गिरावट-नीति के प्रयोग की आवश्यकता है। ऐसी आवश्यकता पड़ने पर गिरावट-नीति का उग्र प्रयोग किया जाता है।

पर जैसे फुलावट बेबसी की चीज है, वैसे ही गिरावट इस बात की द्योतक है कि सरकार सहीसलामत है; उसकी ताकत या व्यवस्था में कोई कमजोरी नहीं है। गिरावट में तो चलण की साख बढ़ानी पड़ती है। इसलिए यह काम एक व्यवस्थित सरकार ही, और सो भी विशेष हेतु के लिए ही, कर सकती है। यह इसलिए स्वाभाविक है कि जिस तरह फुलावट असीमित हो सकती है, वैसे गिरावट सीमा के बाहर नहीं जा सकती।

पर गिरावट-नीति के प्रयोग के उदाहरण संसार के आर्थिक इतिहास में कम मिलते हैं। ज्यादातर लोगों ने विवश होकर, या तो देश के उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए, फुलावट-नीति का ही प्रयोग किया है। इसलिए फुलावट-नीति के गुण-दोषों का हम अच्छी तरह विवेचन कर लें तो काफी है; क्योंकि जो हानि-लाभ फुलावट के हैं उसको ठीक तरह समझने के बाद गिरावट के गुण-दोष अपने-आप समझ में आ जायंगे।

जब गिरावट-नीति का प्रयोग होता है तब फुलावट-नीति से ठीक उल्टे नियमों को काम में लाया जाता है—अर्थात् किसी भी बहाने नोटों को चलण में से निकाल कर नोटों की एक बनावटी तंगी पैदा की जाती है। सरकारी खर्च के लिए, मान लीजिए, आवश्यकता है एक सौ करोड़ की और कर-वसूली की गई सवा सौ करोड़ की, तो जनता के पास से पचीस करोड़ का धन खैंच लिया गया। और इसी परिमाण में जनता की क्रय-शक्ति कम हो गई; या तो ब्याज ऊंचा देकर बिना किसी हेतु के सरकार ने पचीस करोड़ का ऋण ले लिया और उसे खर्चने के बजाय कोष में ही रख छोड़ा। तो इसका भी वही असर पड़ा—अर्थात् जनता की क्रय-शक्ति कम हो गई।

गिरावट कब वांछनीय है?

जनता की क्रय-शक्ति को कम करने की यह नीति एक तरह से तो दम घोटने की नीति-जैसी लगती है। इसलिए ऐसी नीति को काम में लाना तभी वांछनीय हो सकता है जब कि सल्तनत को यह लगे कि जनता समृद्ध है और समृद्धि के नशे में वित्त-शाठ्य करने जा रही है—अर्थात बूते के बाहर खर्च करने की या व्यवसाय करने की जन-साधारण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका आगे जाकर परिणाम भयानक हो सकता है। जब सरकार को ऐसी विपत्ति की आशंका होती है तभी, जैसे दूध के उफान को ठंडा करने के लिए पानी से छांट दिया जाता है उसी तरह समृद्धि के उफान को—समृद्धि को नहीं, क्योंकि समृद्धि तो ठोस असली चीज है, उफान धोखा है—आवश्यकतानुसार गिरावट

का प्रयोग करके शान्त करना प्रजाप्रिय सरकार का कर्तव्य बन जाता है।

सरकार ने कर-वसूली से या ऋण-द्वारा जो धन जनता से खेंचा उसका आखिर तो व्यय ही करना है। और वह व्यय उस समय किया जाता है जब कि उफान के बाद की सुस्ती के मारे जनता भयभीत होकर अपनी सारी प्रगतियों को बन्द कर देती है, व्यय में आवश्यकता से ज्यादा कंजूसी करने लगती है, व्यापारी मंदी से भयभीत होकर अपने हाथ-पांव सिमेट लेते हैं, बेकारी बढ़ने लगती और जिन्सों के दाम गिरने लगते हैं। ऐसे समय में जनता को फिर प्रोत्साहन देने के लिए, अतिशय आई हुई मंदी को शान्त करने के लिए, ठंडे खून में फिर से गर्मी लाने के लिए, जनता से खेंचा हुआ धन सरकार खर्चने लगती है। और जहां खर्च शुरू हुआ कि फिर ताजगी आने लगती है।

इसके यह माने नहीं कि हिन्दुस्तान में सरकार ने जो गिरावट का प्रयोग किया वह इसी सिद्धान्त पर किया और जब मंदी ने तबाही शुरू की तब उसको रोकने के लिए फिर फुलावट का प्रयोग किया। यहां की कथा तो निराली है।

इस देश में गिरावट-नीति अक्सर इसलिए काम में लाई गई है कि द्रव्य के परिमाण में कमी करके उसका मूल्य ऊंचा कर दिया जाय।

आगे जब हम भारतवर्ष की हुण्डी का विवेचन करेंगे तब गिरावट-नीति से इस देश की जिन्सों के दामों पर, कल-कारखानों पर, समृद्धि पर और आयात-निर्यात पर क्या असर हुआ, गिरावट की नीति को सफल बनाने के लिए कैसे करोड़ों रुपए बरबाद किए गए, इन सब बातों का विवेचन करने के लिए हमें काफी मौका मिलेगा।

१२

फुलावट में दामों में तेजी, गिरावट में मन्दी, यह हमने बतलाया है। और फुलावट या गिरावट मुख्यतया सल्तनत की मर्जी की चीज है। कम-से-कम सरकार सहीसलामत रहे तो बेबसी की फुलावट को तो हम अनहोनी चीज करार दे सकते हैं। इसलिए सीमाबद्ध फुलावट या गिरावट सरकार की मन्शा पर अवलम्बित रह जाती है। तो फिर यदि फुलावट से तेजी और गिरावट से मन्दी होती है तो दाम करीब-करीब स्थिर रखने के लिए भी कभी फुलावट तो कभी गिरावट की चाभी घुमाई जा सकती है। दूसरे शब्दों में, दाम स्थिर रखने के लिए भी इन दोनों तरकीबों का उपयोग किया जा सकता है। और दाम स्थिर रहना, यह भी तो समाज के लिए एक बड़ा लाभ है।

हम पहिले बता चुके हैं कि दामों की तेजी से माल उपजानेवालों को लाभ और बंधी आय वालों को नुकसान है; दामों की मन्दी में इससे उल्टा। पर इस तेजी-मन्दी के उलट-फेर में कभी किसीको लाभ और कभी हानि से सामाजिक असन्तोष फैलता है सो बुराई तो है ही, पर इस असन्तोष के साथ-साथ पैदाइश पर भी बुरा असर पड़ता रहता है। धीरे-धीरे लगातार तेजी चलती है तो पैदाइश बढ़ती रहती है पर फिर, जब दामों में मुड़की आती है और दाम गिरते हैं तो कारखानों को ताला लगने लगता है, बेकारी बढ़ती है और इससे समाज में गरीबी आने लगती है। उससे असन्तोष बढ़ता है। सम्भव है दाम स्थिर हों—कम-से-कम एक परिधि के भीतर—तो शायद इस परिस्थिति से पैदाइश की वृद्धि भी हो और समाज के विभिन्न फिरकों में दामों की घटा-बढ़ी से पैदा हुआ असन्तोष भी न होने पाए। इस भावना से प्रेरित होकर कई अर्थशास्त्री दामों की साम्यावस्था की पुष्टि करते हैं।

दामों की साम्यावस्था

दामों की साम्यावस्था से इतना ही प्रयोजन है कि दामों के सूचक अंक (Index Figure) की साम्यावस्था। यह तो नामुमकिन चीज है कि हम सब जिन्सों के अलग-अलग दामों की घटा-बढ़ी को रोक सकें। मान लीजिए, एक साल गेहूं की फसल बहुत बढ़िया बैठी, और सरसों की फसल मारी गई। तो गेहूं की बहुतायत से गेहूं की मन्दी और सरसों की कमी के कारण सरसों की तेजी अवश्यम्भावी है। इसे कोई नहीं रोक सकता। पर अलग-अलग चीजों की तेजी या मन्दी एक बात है, और सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी दूसरी बात। जब सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी आती है तभी समाज के एक अंश को लाभ और दूसरे को हानि होती है। इस सम्मिलित दामों की तेजी या मन्दी को गिरावट या फुलावट की नीति-द्वारा काफी दर्जे तक रोका जा सकता है। वह इस तरह:—

सल्तनत दामों के सूचक अंकों का अध्ययन करती रहती है और जहां दाम कुछ बढ़े कि नोट-प्रसारक बैंक चलण में से नोटों को निकाल कर धन का संकोच शुरू कर देती है; जहां दाम गिरे कि नोटों का चलण बढ़ाकर विस्तार कर देती है। इस तरह के संकोच-विस्तार-द्वारा दामों को यथासाध्य साम्यावस्था में रखने की कोशिश की जाती है। और उसमें उसे साधारणतया सफलता भी मिलती है। इस सारी क्रिया को विस्तार से समझाने में छोटी-मोटी अन्य कई क्रियाओं का भी उल्लेख करना पड़ेगा। चूंकि पाठकों के सामने एक मोटी-सी रूप-रेखा देना ही इस पुस्तक का ध्येय है इसलिए ज्यादा ब्यौरे में उतरना आवश्यक नहीं है। बतलाना इतना ही है कि फुलावट-गिरावट की नीति से दामों में तेजी, मन्दी और साम्यावस्था तीनों चीजें लाई जा सकती हैं।

पर दामों को साम्यावस्था में रखने के और भी तरीके हैं। एक तरीका तो खास करके इसी महायुद्ध में बहुतायत से काम में लाया गया है। यह तरीका नया नहीं है, पर इतने विस्तार से इसी युद्ध में काम में

लाया गया है, इसलिए इसे नया तरीका भी कह सकते हैं। यह तरीका है मालकी उपज, खपत और दामों का नियंत्रण करना।

जब हम नोट-प्रसार अधिकता से करके दामों की तेजी को प्रोत्साहन देते हैं या तो कम करके दामों की मंदी को आह्वान करते हैं तो एक तरह से हम दामों की तेजी या मंदी पर सीधा हल्ला न बोलकर ऐसे टेढ़े-मेढ़े उपायों का प्रयोग करते हैं कि जिससे जनता की क्रय-शक्ति कमोवेश होकर चीजों की उपज और खपत पर अपने-आप अच्छा या बुरा असर पड़ता रहे।

जनता के पास क्रय-शक्ति है और वह उसका उपयोग करके दामों को तेज करना चाहती है। उस क्रय-शक्ति को हमने कर-द्वारा या उधार लेकर अपने कब्जे में कर लिया। फलस्वरूप अब जनता बाजार से हट जाती है और दाम गिर जाते हैं। या तो जनता की क्रय-शक्ति का ह्रास हो गया और इसलिए बाजार में सन्नाटा छा गया। सल्तनत ने नए-नए खर्च करना शुरू करके जनता की क्रय-शक्ति बढ़ा दी और जनता फिर बाजार में खरीदने के लिए आ धमकी और इस तरह बाजार में फिर जान आ गई। यह गिरावट या फुलावट का एक तरीका है दामों को घटाने और बढ़ाने का।

पर मान लीजिए कि आपके पास असंख्य दौलत पड़ी है। उसको किसीने नहीं छीना। पर आप पर यह दफा लगा दी कि आप अमुक परिमाण से ज्यादा किसी भी हालत में किसी भी वस्तु को खरीदने नहीं पावेंगे, और न दूकानदार बिना सरकारी इजाजत के आपको कोई चीज बेचेगा। तो फिर इसका परिणाम भी वही होता जाता है जो चलण की कमी-बेशी से पैदा किया जाता है; क्योंकि आपके पास शक्ति होते हुए भी आप खरीद के हकदार नहीं रहे। यदि सरकार इस तरह की सारी हलचलों का नियंत्रण कर डाले कि अमुक चीज की इतनी पैदाइश होगी, हर मनुष्य अमुक मिक़दार ही अमुक चीज की खरीद और खपत कर सकेगा, बेचनेवाले और लेनेवाले अमुक बंधे हुए दाम पर ही खरीद और फरोख्त कर सकेंगे और जो कोई सरकारी हुक्मउदूली करेगा उसे

सजा भुगतनी पड़ेगी, तो फिर चाहे किसी के पास असंख्य धन क्यों न पड़ा हो वह धन बेकार-सा बन जाता है और उसकी नियंत्रित क्रिया के कारण दामों की घटा-बढ़ी भी नियंत्रित हो जाती है। अवश्य ही यह दूसरा तरीका, दामों की साम्यावस्था लाने का, ज्यादा सीधा है—आड़ा-टेढ़ा नहीं है—पर इसके यह माने नहीं कि यह ज्यादा वांछनीय है।

नियंत्रण

इस तरीके में योजना और संचालन के लिए अफसरों और कारिन्दों की एक वृहत् सेना को रोकना पड़ता है जो रात-दिन इसी ताक-झांक में रहती है कि किसीने इस नियम का भंग तो नहीं किया। इतने नागरिकों को केवल योजना और संचालन के लिए रोक रखना, यह भी देश की समृद्धि के लिए एक हानिकर चीज है। आखिर जब तक हर आदमी कुछ पैदाइश करता रहता है तभी तक देश की समृद्धि बढ़ती है। यदि सब लोग संचालन में, वाद-विवाद में, सैन्य और पुलिस में और ऐसे अन्य बेउपजाऊ धंधों में ही लगे रहें, तो फिर समृद्धि कहां ? इस दृष्टि से वही तरीका अच्छा है जिसमें कम-से-कम आदमियों की शक्ति का ह्रास हो। पर युद्ध-काल में इन सब नियमों की अवहेलना करनी पड़ती है ! ऐसे विकट समय में ध्येय की अपेक्षा साधन गौण बन जाता है। इसलिए ऐसे नियंत्रणों का उपयोग विकट काल में ही वांछनीय माना जाना चाहिए। यद्यपि रूस में शांति-समय में भी नियंत्रण का उपयोग किया गया है पर रूस के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि वहां शांति का समय आया ही नहीं—विकट समय का ही दौर-दौरा रहा, और इसलिए वहां नियंत्रण-नीति अभीष्ट ही थी। जो हो, दामों की साम्यावस्था नियंत्रण से भी लाई जा सकती है, यह अब पाठक समझ सकेंगे।

× × × ×

अब पाठकों से विदा लेता हूं।

विषय-सूची

१

अनेक की जगह एक

मुद्रा का अर्थ चिह्न है। बहुत काल पहले जब सिक्कों के लिए चांदी या सोने के टुकड़ों का व्यवहार बढ़ा तब यह आवश्यक हो गया कि वे टुकड़े ठीक तौल के हों और प्रमाणस्वरूप उनपर कोई चिह्न बना दिया जाय। इस प्रकार सिक्के का नाम मुद्रा हो चला।

प्रश्न उठता है कि मुद्रासम्बन्धी कला इस देश की अपनी उपज थी या वह कहीं बाहर से आई ?

यहां के सिक्कों की तौल और बनावट दोनों ही निराले ढंग के हैं, और धीरे-धीरे इस मत की पुष्टि होती जा रही है कि भारत ने इस विषय में न तो किसीकी नकल की, न किसीको अपना गुरु माना। "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (वैशाख १९९७) में प्रकाशित स्व० दुर्गाप्रसाद जी का लेख इस सम्बन्ध में पढ़ने लायक है। आप लिखते हैं—"मुझे जहां तक खोज करने का अवसर मिला है, इसका प्रमाण मिला है कि भारत में गौतम बुद्ध से पहले सिक्कों का चलन था। उस समय के सिक्के मुझे प्राप्त भी हुए हैं।" आपके लेख से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के समय में चांदी के सिक्कों की तौल ४० और २५ रत्ती होती थी। पण, कार्षापण—ये चांदी के तत्कालीन सिक्कों के नाम थे। सिक्कों पर पहले किसी राजा की मूर्ति या उपाधि अंकित करने की प्रथा नहीं थी, केवल कुछ चिह्न—जैसे हाथी, कुत्ता या वृक्ष—ठप्पों से अंकित कर दिए जाते थे। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से अक्षरों का प्रयोग होने लगा। कुछ समय तक प्राकृत का बोलवाला रहा। फिर देवनागरी या हिन्दी का प्रयोग होने लगा। चांदी का रुपया चलानेवाला शेरशाह था। उसके सिक्कों पर कूफी के साथ हिन्दी को भी स्थान प्राप्त था। उसके

बेटे इस्लामशाह के समय में भी यही बात रही। श्रीयुत दुर्गाप्रसाद जी लिखते हैं:— "इनके समय तक तो मुद्राओं पर हिन्दी को बराबर स्थान मिला, पर जब मुगल बादशाह बाबर, हुमायूं और अकबर ने अपने अधिकार जमाए और सिक्के चलाए तो उन्होंने पहले कूफी अक्षरों में अपने नाम सिक्कों पर लिखे। हुमायूं ने पहलेपहल फारसी अक्षरों का प्रचार भारत में किया। उसके पहले फारसी अक्षरों को, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, यहां कोई नहीं जानता था। . . . . अकबर और उसके बाद जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब इत्यादि सभी बादशाहों ने फारसी का प्रचार किया। राजकार्य सब फारसी में होते रहे। सिक्कों पर भी फारसी अक्षरों को जगह दी गई और हिन्दी देवनागरी को हटा दिया गया।"

भारत में सोने के सिक्कों का प्रचार भी अत्यन्त प्राचीन काल से है। उन्हें निष्क, पाद आदि कहते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि संसार में पहलेपहल सिक्के के लिए सोने का ही प्रयोग होता था, क्योंकि सोना सुलभ था, और चांदी दुर्लभ। सोना जहां मिलता था वहां सोने के ही रूप में, उसे अलग करने के लिए कोई विशेष परिश्रम या प्रयास नहीं करना पड़ता था; पर चांदी की बात और थी, वह दूसरे खनिज द्रव्यों के साथ इस प्रकार मिश्रित थी कि उसे निकालना या हासिल करना जरा टेढ़ा काम था। कहते हैं कि उस युग में सोने से चांदी का मूल्य कहीं अधिक था। क्रमशः चांदी निकालने के ज्ञान या विज्ञान की उन्नति होती गई और चांदी की दुर्लभता मिटती गई। कुछ काल बाद स्थिति बिलकुल बदल गई। चांदी सुलभ हो चली, और सोना दुर्लभ। मालूम नहीं, इस देश में इनका क्या क्रम रहा। पर इतना निश्चित-सा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में यहां सोना, चांदी की तुलना में, सस्ता था। फौलर कमेटी के सामने बयान देते हुए अंगरेज अर्थशास्त्री मि० मैकलियड ने कहा था:—

"अति प्राचीन काल में भारतवर्ष सुसभ्य था, और पाश्चात्य देश असभ्य या बर्बर। उस समय भारतवर्ष को विदेशी वस्तुओं की कोई खास जरूरत नहीं थी और वह बिना सोना या चांदी पाए, अपना माल बेचने को तैयार न था। पर भारतवर्ष में सोना और देशों की अपेक्षा सस्ता

था—ईरान में १३ भाग चांदी एक भाग सोने के बराबर होती थी, और भारतवर्ष में ८ भाग चांदी एक भाग सोने के; लेहाजा भारत में बाहर से चांदी बहुत बड़े परिमाण में आया करती, जिसके बदले में वहां से या तो सोना बाहर जाता या दूसरा माल।"

सोने-चांदी के इतिहास में अमेरिका का पता चलना (१४९३) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। यूरोपवालों को मानो कुबेर की निधि हाथ लग गई। जहां सोने या चांदी का—पर विशेषतः चांदी का—एक साधारण सोता-सा बहता था वहां, समुद्र नहीं तो एक जबर्दस्त दरिया लहरें मारने लगा। थोड़े ही समय में यूरोप की भूमि इनसे परिप्लावित हो चली और वहां के आर्थिक क्षेत्र में पूरा इनकिलाब नजर आने लगा। 'पानी फलक पर खेत में दाना बदल गया।'

१४९३ और १८०० के बीच सोने और चांदी के उत्पादन का तखमीना यह है:—

	सोना (लाख औंस)	चांदी (लाख औंस)
१४९३–१६००	२३०	७,४७०
१६०१–१७००	२९०	१२,७२०
१७०१–१८००	६१०	१८,३३०
	१,१३०	३८,५२०

उत्पादन की दृष्टि से १६वीं सदी में सोने और चांदी का पारस्परिक अनुपात १ : ३२ था—अर्थात् जितना सोना निकला उससे ३२गुना अधिक चांदी निकली। १७वीं सदी में यह अनुपात १ : ४४ हो चला। पारस्परिक मूल्य का अनुपात पहले १ : ११ था— अर्थात् एक भाग सोना प्रायः ११ भाग चांदी के बराबर होता था। पर यह अब प्रायः१ : १५ हो चला, और प्रायः दो सौ साल तक— अर्थात् १९वीं सदी के पिछले भाग तक— यही कायम रहा।

इस देश में यूरोप से चांदी का आयात अब और भी अधिक हो चला। विदेशी कम्पनियों—मुख्यतः ईस्ट इंडिया कम्पनी—का इस व्यापार पर

एकाधिपत्य-सा था। उधर बंगाल-बिहार में—और अंशतः अन्यत्र भी—आर्थिक क्षेत्र के अधिपति थे मुर्शिदाबाद के जगत्सेठ। नवाब ने इन्हें टकसाल का इजारा दे रखा था। लेहाजा चांदी के सबसे बड़े खरीदार यही थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी और जगत्सेठ के घराने के बीच के लेन-देन के संबन्ध पर, और तत्कालीन व्यापारिक अवस्था पर, यह अवतरण अच्छा प्रकाश डालता हैः—

"(१७४६) अक्तूबर में विलायत से कुछ चांदी आई। कौंसिल के आग्रह करने पर (जगत्सेठ) महताबराय ने उसे खरीद लिया। इससे कम्पनी को कई लाख रुपए तत्काल मिल गए और कुछ दिनों तक उसे कर्ज लेने की जरूरत नहीं पड़ी। पर नया साल शुरू होते ही अवस्था फिर बदली और ढाका के कर्मचारियों ने कौंसिल से रुपया मांगा। इसी समय कुछ चांदी आ पहुंची। कौंसिल ने उसे कासिमवाजार भेज दिया। वहां वह महताबराय को बेच दी गई और उसके पेटे कम्पनी को डेढ़ लाख रुपया मिल गया। पर यह रुपया कासिमवाजार की कोठी को न मिला, इसकी वहांवालों ने शिकायत की और कौंसिल को लिखा—'ऐसे समय में, जब कि हमपर कर्ज का इतना भारी बोझ है और कम्पनी की साख इतनी कम रह गई है, आपने यह रुपया मंगाकर अच्छा काम नहीं किया। महाजन पहले से ही अधीर हो रहे थे, मालूम नहीं, अब वे क्या कर बैठेंगे।' कौंसिल ने उन्हें लिखा कि हम और चांदी शीघ्र ही भेजनेवाले हैं। चांदी कासिमवाजार भेजी गई, पर महताबराय ने उसे उसी दम लेने से इनकार कर दिया।" ईस्ट इंडिया कम्पनी के पुराने कागजात से जाहिर होता है कि रुपए की टान उस समय काफी थी और जगत्सेठ ने चांदी का दाम घटा दिया था। वह १७४७ के उत्तरार्द्ध में २४० सिक्के रुपए भर चांदी के लिए २०१ रुपए से अधिक देने को तैयार न थे। कम्पनी अपनी चांदी उनके हाथ बेचती जाती और बराबर दाम बढ़ाने के लिए आग्रह करती जाती।

पलासी की लड़ाई में विजय पाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी बंगाल-बिहार का और धीरे-धीरे सारे भारतवर्ष का, भाग्यविधाता बन बैठी। जगत्सेठों ने इस राज्यक्रांति को सफल बनाने में प्रमुख भाग लिया था और

कम्पनी की तन-मन-धन से सहायता की थी; पर उन्हें अन्त में लेने के देने पड़ गए, और कहना चाहिए कि पलासी के मैदान की रचना कराकर उन्होंने अपने ही विनाश के बीज बोए। आर्थिक और राजनैतिक, दोनों ही क्षेत्रों में सर्वेसर्वा ईस्ट इंडिया कम्पनी बन बैठी और जगत्सेट उपाधि उस घराने की विपुल सम्पदा और प्रभुता का स्मारक-मात्र रह गई।

पर चांदी के सिक्कों का प्रचार विशेषतः उत्तर भारत में ही था। दक्षिण में प्रधानता सोने के सिक्कों की थी।

संस्कृत में चांदी को रूप्य या रौप्य कहते हैं। अष्टाध्यायी में एक विशेष प्रकार की मुद्रा के लिए "आहत रूप्य" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी रूप्य या रौप्य का अपभ्रंश रुपया है। १८३५ से पहले इस देश में तरह-तरह के रुपए प्रचलित थे। इनमें कुछ के नाम-धाम इस प्रकार थे:—

१—पुराने सिक्के (१७९३–१८१७)

२—नए सिक्के (१८१८–१८३२)

३—पुराने और नए फर्रूखाबादी रुपए, जो फर्रूखाबाद, बनारस और सागर की टकसालों में ढले थे।

४—फर्रूखाबादी रुपए, जो कलकत्ते की टकसाल* में ढले थे।

५—मद्रासी रुपए।

सोने के सिक्कों का भी यही हाल था। इस बहुतायत और विभिन्नता से बड़ी अड़चनें पैदा होती थीं—लेन-देन, व्यापार के मामले में यह अनेकता प्रबल बाधक का काम करती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से जो कलक्टर नियुक्त होते थे उन्हें चांदी के कम-से-कम ६० और सोने के कम-से-कम ७२ सिक्के माल या लगान के रूप में, लोगों से लेने पड़ते थे। बंगाल का यह हाल था कि एक जिले में जो रुपया चलता वह दूसरे जिले में नहीं! यह भी नहीं कि एक जिले के अन्दर एक ही प्रकार के सिक्के का बोलबाला हो। अलग-अलग चीजों के लिए अलग-अलग सिक्के

---

*कम्पनी की टकसालों में रुपए की ढलाई कल-द्वारा होती थी, इसलिए उसका नाम कलदार पड़ा।

थे। और घिसाई की मात्रा न्यूनाधिक होने के कारण सिक्कों पर बट्टे का हिसाब भी अलग-अलग था। चांदी और सोने का पारस्परिक सम्बन्ध सदा एक-सा नहीं रहता था—कभी सोना सस्ता हो जाता, कभी चांदी। इनमें जो चीज सस्ती होती वह तो चलन में रह जाती, और जो महंगी होती वह निकल जाती। इन सारी अड़चनों और कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा-सम्बन्धी सुधार आवश्यक था, और वह सुधार था अनेकता की जगह एकता का स्थापन। भारतवर्ष का अधिकांश एक राजछत्र की छाया में आ चुका था, इसलिए वह सुधार अब उतना कठिन भी नहीं रह गया था। कहना चाहिए कि शासन-सम्बन्धी एकता के बाद मुद्रा-सम्बन्धी एकता आने ही वाली थी।

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इस विषय में अपना मत प्रकट करते हुए १८०६ में मद्रास-सरकार को लिखा कि भारतवर्ष का प्रधान सिक्का चांदी का होना चाहिए, जिसका वजन १८० ग्रेन (एक तोला) हो और जिसमें १६५ ग्रेन खालिस चांदी हो। उनकी राय थी कि प्रधानता चांदी के सिक्के की रहे, पर सोने का चलन भी बन्द न हो। साथ ही, वे इन दोनों के बीच कानूनन कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहते थे। उनका प्रस्ताव था कि सोने का मूल्य उसके परिमाण और उसकी मांग पर अवलम्बित हो।

पर प्रायः ३० साल तक मुद्रा-सम्बन्धी एकीकरण का प्रस्ताव प्रस्ताव ही रहा। उसको विधान का रूप मिला १८३५ में, जिससे दो साल पहले बंगाल के गवर्नर-जनरल सारे देश के गवर्नर-जनरल बनाए जा चुके थे और शासनसत्ता पूरी तरह केन्द्रीभूत हो चुकी थी। उस साल २७ मई को सरकार की ओर से यह घोषित किया गया कि भारतवर्ष का जितना भाग ब्रिटिश छत्रच्छाया में आ चुका है उसमें अब एकही प्रकार के रुपए का चलन होगा और हर बात में यह रुपया आजकल के फर्रुखाबादी रुपए के समान होगा। इस घोषणा के अनुसार जो विधान बना उसे भारत के मुद्रा-सम्बन्धी इतिहास में बड़े ही गौरव का स्थान प्राप्त है। उसका सारांश यह था:—

(१) १ली सितम्बर १८३५ से कम्पनी की टकसालों में एक ही प्रकार

के रुपए की ढलाई होगी। इस रुपए का वजन १८० ग्रेन होगा, जिसमें खालिस चांदी १६५ ग्रेन होगी। अठन्नियों और चवन्नियों में भी इसी हिसाब से चांदी रहेगी।

(२) कुछ खास तरह के सोने के सिक्के भी ढाले जायंगे, पर कोई भी आदमी कम्पनी के राज्य में सोने का सिक्का देने या लेने को बाध्य न होगा।

इस विधान की बदौलत १६५ ग्रेन खालिस चांदीवाला रुपया मुद्रा-सिंहासन पर जा बैठा। देन-लेन के लिए सब लोग इसीका व्यवहार करने को बाध्य थे, इसलिए अपने क्षेत्र में धीरे-धीरे इसका एकछत्र राज्य-सा स्थापित हो गया। भारतवर्ष में हर प्रकार के मूल्य का मापदण्ड चांदी बन गई।

पर साथ-साथ एक हद तक सोने का चलन भी बना रहा। कम्पनी की टकसाल में सोने का जो प्रधान सिक्का ढलता उसका वजन भी १८० ग्रेन था, जिसमें खालिस सोना १६५ ग्रेन था। इसका मूल्य था १५), और १८४१ का सरकारी आदेश था कि जब तक दूसरा हुक्म जारी नहीं किया जाता तब तक उसकी ओर से ये सिक्के इसी दर से मंजूर किए जायं। पर यह अवस्था चिरस्थायी न हो सकी। कुछ ही वर्ष बाद ऑस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में नई खानों के खुलने से सोने का उत्पादन बहुत बढ़ चला और चांदी की तुलना में वह सस्ता हो चला। नतीजा यह होने लगा कि लोग अपना लगान या कर रुपयों में न चुका कर मोहरों में चुकाने लगे। बाजार में एक मोहर के १५) से कम मिलते, क्योंकि सोना सस्ता हो रहा था—पर सरकारी खजाने में वह अब भी उसी दर से ली जाती, इसलिए मोहरों की वहां भरमार होने लगी। और सरकार किसीको भी १५) में मोहर लेने को बाध्य नहीं कर सकती थी। सरकार चाहती तो चांदी की जगह उसी समय सोने को दे देती और सोने को ही मूल्य का मापदण्ड बना देती। पर ऐसा न करके सरकार ने १८४१ के आदेश को ही उठा लिया, और १ली जनवरी १८५३ से मुद्रा के रूप में सोने का चलन बिलकुल बन्द हो गया।

सन् सत्तावन के गदर के कारण भारत-सरकार की आर्थिक कठिनाइयां

बेहद बढ़ गई और स्थिति सुधारने के लिए मि० जेम्स विल्सन नामक विशेषज्ञ इंगलैण्ड से लाए गए। यह भारत-सरकार के प्रथम अर्थ-सदस्य थे और इन्हींके समय में करेन्सी नोट जारी किए गए। यह १८६१ की बात है। उससे पहले नोट जारी करने का अधिकार कुछ खास बैंकों को प्राप्त था; पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के बाहर नोटों का प्रचार नहीं के बराबर था। उस समय कोई भी आदमी नोट देने या लेने को कानूनन बाध्य न था। विल्सन ने नोटों का प्रचार बढ़ाने की दृष्टि से अपनी योजना भारत-सचिव के सामने रखी। उस समय भारत-सचिव सर चार्ल्स उड थे, और उनका इस विषय में विल्सन से मतभेद था। विल्सन इस मत के अनुयायी थे कि नोटों की पुश्ती के लिए जो कोष या रिजर्व कायम किया जाय उसमें एक हद तक सोना-चांदी रखकर बाकी हिस्सा सरकारी कागज के रूप में रखा जाय। सर चार्ल्स का सिद्धान्त था कि कम-से-कम नोटों की पुश्ती ऐसे कागज से होनी चाहिए, और रिजर्व का बाकी सारा हिस्सा सोने या चांदी का होना चाहिए।

अन्त में हुआ वही जो भारत-सचिव को मंजूर था। सन् १८६१ में नोट-संबंधी जो विधान बना उसने करेंसी रिजर्व में सरकारी कागज की हद चार करोड़ पर बांध दी—अर्थात् यहां तक तो नोटों की पुश्ती सरकारी कागज या सिक्यूरिटीज से की जा सकती थी, पर यहां पहुंच जाने के बाद जो नोट निकाले जाते वे रिजर्व में सोना-चांदी रखकर ही। आरम्भ में रिजर्व में चांदी ही चांदी रहती थी; १८६५ में कुछ सोना भी जमा हुआ, पर उसकी मात्रा कम होती गई, और १८७५ में वह बिलकुल गायब हो गया। फिर १८९८ के बाद करेन्सी रिजर्व में सोना इकट्ठा होने लगा। आरम्भ में दस, बीस, सौ और एक हजार के नोट जारी किए गए थे। पांच रुपए का नोट १८७१ में जारी किया गया, और दस हजार का नोट उसके भी बाद। १८६१ के विधान ने सारे देश को कुछ हल्कों में बांट दिया, जो 'सर्कल' कहलाते थे—जैसे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और रंगून। एक सर्कल का जारी किया हुआ नोट दूसरे सर्कल में कोई लेने को बाध्य न था, पर सरकारी देना किसी भी सर्कल के नोटों में अदा किया जा सकता था। नोटों की

लोकप्रियता बढ़ाने के लिए और भी सुभीते कर दिए गए थे। पर नोटों का विशेष प्रचार वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है। समय-समय पर नोट-सम्बन्धी विधान में संशोधन होते रहे हैं। इस शताब्दी के पहले ग्यारह साल के भीतर, पांच से लेकर सौ रुपए तक के नोट 'अखिल भारतीय' कर दिए गए—अर्थात् वे चाहे किसी भी सर्कल के हों, लोग उन्हें सर्वत्र लेने को कानूनन बाध्य हो गए। इससे नोटों का प्रचार और भी स्वच्छन्दता से होने लगा। नोटों की कागजी पुस्ती की हद भी १८३१ और १९४३ के बीच कहीं-से-कहीं जा पहुंची है।

जिस समय नोट-सम्बन्धी विधान पहलेपहल बना उस समय यहां रुपए की बड़ी टान थी। इसके कुछ खास कारण थे। अमेरिका में उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच जो भीषण संग्राम हुआ उसका एक नतीजा यह हुआ कि दक्षिण से रुई का निर्यात (एक्सपोर्ट) कुछ समय के लिए बन्द हो गया और यह व्यापार भारतवर्ष को मिल गया। यहां से निर्यात काफी होने लगा और देश का पावना चुकाने के लिए दूसरे देशों के लिए अधिकाधिक चांदी भेजना आवश्यक हो गया। पर भारतवर्ष इस समय बाहर कर्ज भी काफी ले रहा था। १८५५-५६ और १८६९-७० के बीच उसने प्रायः ९६ करोड़ रुपए कर्ज लिए। इन दोनों कारणों से चांदी का आयात कहीं-से-कहीं बढ़ गया। १८५७-५८ और १८६२-६३ के बीच संसार भरमें जितनी चांदी निकली उससे अधिक चांदी अकेले भारतवर्ष ने ली। फिर भी यहां रुपए की टान बनी ही रही। ऐसी अवस्था में लोगों का ध्यान सोने की ओर जाना स्वाभाविक था। १८६४ में यहां के वाणिज्य-व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ सभाओं या चेम्बरों ने प्रस्ताव किया कि मूल्य का मान या स्टैण्डर्ड सोना कर दिया जाय, और सोने के सिक्के चलन में लाए जायं। इस सम्बन्ध में कुछ अवतरण उस आवेदनपत्र से दिए जाते हैं,जो बम्बई के चेम्बर की ओर से बड़े लाट के पास भेजा गया था:—

"भारतवर्ष का व्यापार तेजी से बढ़ रहा है, वह आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है, पर चांदी इस समय उस व्यापार और उस उन्नति में सहायक न होकर बाधक हो रही है।

"जिस समय चांदी को अपनाया गया था उस समय उसका उत्पादन सोने से प्रायः दूना था। इसलिए कहा जा सकता है कि उसे अपनाना बुद्धिमत्ता का काम था। पर वह बात अब नहीं रही। इधर चांदी के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई है। पर भारतवर्ष की मांग बेहद बढ़ गई है, इसलिए चांदी से काम चलाना असम्भव-सा हो गया है।

"संसार में हर साल प्रायः एक करोड़ पौंड (स्टर्लिंग) की चांदी निकलती है। पर पिछले छः साल में एक भारतवर्ष ने ही हर साल एक करोड़ पन्द्रह लाख पौंड की चांदी ली है। पिछले साल तो उसने १ करोड़ ४५ लाख पौंड की ली।

"ऐसी अवस्था में चांदी के मूल्य में बहुत बड़ी वृद्धि अनिवार्य है—जिसका अर्थ है भारतवर्ष जैसे देश में द्रव्य की कमी और दामों का गिरना।

"उधर सोने का यह हाल है कि उसका उत्पादन बहुत बढ़ गया है और संसार में जितनी चांदी निकलती है उससे कम-से-कम १५० प्रतिशत अधिक सोना निकलता है।

"भारतवर्ष के लिए, और बाकी दुनिया के लिए, चांदी काफी नहीं है, पर सब के लिए सोने की बहुतायत है; इसलिए हमें चाहिए कि हम चांदी जैसी कीमती और भारी चीज को छोड़कर सोना जैसी सस्ती और हलकी चीज को अपनावें।

"इससे कई लाभ होंगे—चांदी का मूल्य अपनी मुनासिब जगह पर बना रहेगा और इस देश के वाणिज्य-व्यवसाय का विस्तार अप्रतिहत गति से होता रहेगा।

"सोने का इस समय जो बहिष्कार है वह न तो सभ्योचित है, न युक्तिसंगत है, न स्वाभाविक है। सोना इस समय भी यहां काफी आता है, पर वह सिक्के के रूप में नहीं चल सकता। सरकार को चाहिए कि वह शीघ्र-से-शीघ्र चांदी की गद्दी सोने को दे दे, जिससे सोने के सिक्कों का चलन हो जाय; और इससे जो अनेक लाभ हो सकते हैं उनसे यह देश वंचित न रहे।"

इस विषय पर काफी लिखा-पढ़ी हुई, पर कोई खास नतीजा न निकला।

भारत-सचिव अन्त में यहां तक जाने को राज़ी हुए कि सॉवरेन या गिनी १०) की दर से सरकारी खज़ानों में ले ली जायगी। बाद यह दर १०।) कर दी गई। १८६६ में इस विषय के अनुसन्धान के लिए एक कमीशन भी बैठा। भारत-सरकार के तत्कालीन अर्थ-सदस्य सोने के सिक्के के पक्ष में थे। कमीशन ने भी अपनी राय उसके पक्ष में दी। पर यह सब निष्फल रहा। १८७२ और १८७३ में अर्थ-सदस्य ने फिर इस सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव भारत-सरकार के सामने रखे। पर सरकार को प्रस्तावित सुधार स्वीकार न हुआ। १८७४ की ७ वीं मई को उसने अपना निर्णय इन शब्दों में प्रकाशित कर दिया कि—

"सोने के सिक्के को चलन में लाने की वाञ्छनीयता पर विचार कर सरकार इस नतीजे पर पहुंची है कि फिलहाल सोने को मूल्य का मान बनाने के लिए कोई भी कार्रवाई न की जाय।"

फलतः यहां चांदी के रुपए का ही बोलबाला बना रहा।

अब और देशों की सुनिए। फ्रांस में सोना और चांदी दोनों के ही सिक्के चलते थे। पर १८५० से पहले वहां प्रधानता चांदी की ही थी। कानूनन एक भाग सोना १५॥ भाग चांदी के बराबर था, पर १८०३ और १८५० के बीच बाजार-दर के अनुसार चांदी इससे प्रायः सस्ती पड़ती थी; १५॥ के बजाय प्रायः १६ भाग चांदी एक भाग सोने के बराबर होती थी। जहां दो प्रकार के सिक्के चलते हैं वहां सस्ता या घटिया सिक्का तो चलन में रहता है, और महंगा या बढ़िया बाहर निकल जाता है। इसीको अर्थशास्त्र में 'ग्रेशम नियम' कहते हैं, क्योंकि सबसे पहले इसपर प्रकाश डालनेवाले सर टॉमस ग्रेशम नामक अंगरेज अर्थ-सचिव थे। फ्रांस की ही बात लीजिए। सोने के सिक्के में कोई भुगतान करता तो वह सिर्फ १५॥ भाग चांदी पाने का हकदार होता, पर उसी सिक्के को गलाकर वह बाजार में बेच देता तो उसे १६ भाग चांदी मिल जाती। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि चलन से सोने के सिक्के निकल जायँ और उसमें चांदी के सिक्कों की भरमार हो जाय। पर १८५० के बाद गंगा उलटी बहने लगी—अर्थात् चांदी महंगी और सोना सस्ता हो चला। जो अनुपात कानूनन

१ : १५।। था वह अब कुछ समय के लिए प्रायः १ : १५ हो चला। सिक्के के रूप में १५।। भाग चांदी एक भाग सोने के बराबर होती, पर बाजार में अपने असली रूप में बिकने पर १५ भाग का ही एक भाग सोना हो जाता। इस परिवर्तित अवस्था में चलन से चांदी निकलने लगी, और उसकी जगह सोना भरने लगा। फ्रांस में अब यह प्रश्न उठा कि दोनों डाल पकड़ने की—दो नावों पर पैर रखने की क्या जरूरत ? कुछ लोग कहने लगे कि इंगलैण्ड की तरह फ्रांस सिर्फ सोने को अपना ले; कुछ इसका विरोध करते हुए उसकी जगह चांदी की सिफारिश करने लगे। पर फ्रांस के कर्त्ताधर्त्ता न सोने का परित्याग करना चाहते थे, न चांदी का। वे कुछ संशोधन के साथ परम्परा को कायम रखना चाहते थे। चलन से चांदी के सिक्के निकले जा रहे थे; इसको रोकने के लिए उन्होंने कुछ सिक्कों में चांदी की मात्रा कम कर दी। फिर १८६५ में फ्रांस, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड और इटली की एक सभा इस बात पर विचार करने के लिए हुई, कि इन देशों की मुद्रा-नीति क्या होनी चाहिए। इसके फलस्वरूप लैटिन-मुद्रा-संघ की स्थापना हुई और आपस में यह तय पाया कि संघ पन्द्रह साल तक कायम रहे, और जो देश इसके सदस्य हों वे सब-के-सब अपनी मुद्रा-नीति एक रखें। नीति यह ठहरी कि सोना और चांदी, दोनों से ही मुद्रा का काम लिया जाय और गौण सिक्कों में चांदी की मात्रा कम कर दी जाय ताकि किसीके लिए उन्हें गलाकर बेचना लाभदायक न हो। सोने और चांदी के बीच का अनुपात वही १:१५।। रखा गया और इस बात की व्यवस्था की गई कि संघ के भीतर एक देश के सिक्के दूसरे देशों में भी चल सकें।

संघ को कुछ हद तक सफलता जरूर मिली, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी स्थापना से मुद्रा-सम्बन्धी प्रश्न का कोई स्थायी हल हो सका। इसलिए जून १८६७ में, फ्रांस के आग्रह से उस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बीस देश सम्मिलित हुए थे, जिनमें केवल दो—इंगलैण्ड और पोर्टुगाल—सोने के अद्वैतवादी उपासक थे। बाकी सब-के-सब या तो द्वैतवादी थे, जो सोना और चांदी दोनों से ही मुद्रा का काम लेते थे, या जो केवल चांदी के उपासक थे।

सम्मेलन में हॉलैण्ड को छोड़कर सभी देशों का झुकाव सोने की ओर था, और यह निश्चित हुआ कि धीरे-धीरे सब-के-सब चांदी को छोड़ सोने को अपना लें और सर्वत्र एक ही प्रकार के सिक्कों का चलन हो। यहां तक तो इंगलैण्ड सबके साथ रहा, पर अब उसके प्रतिनिधि कहने लगे कि हमने जो कुछ कहा है उससे हमारी सरकार पाबन्द नहीं है और वह अपनी मुद्रा-प्रणाली में तब तक कोई भी हेर-फेर न करेगी जब तक उसे विश्वास न हो जाय कि यह सब प्रकार से वांछनीय है। उनका यह नया सुर सुनकर लोगों का उत्साह ठंडा पड़ गया और आगे जो कार्रवाई हुई उसमें उतनी एकता नजर नहीं आई। सम्मेलन की सिफारिशों का तत्काल कोई नतीजा नहीं निकला, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसने सोने का जो गुण-गान किया उसका, निकट भविष्य में, कितने ही देशों की मुद्रा-नीति पर खासा असर पड़ा। १८७० में फ्रांस और प्रशिया (जर्मनी) के बीच संग्राम छिड़ा। इसमें फ्रांस की हार से उसका प्रभाव जाता रहा, और मुद्रा-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को आगे बढ़ानेवाला अब कोई दूसरा राष्ट्र न रह गया। मूल्य के मान के रूप में तो सोने को कई देशों ने ग्रहण कर लिया, पर अन्तर्राष्ट्रीय सिक्के की बात जहां थी वहीं रही।

२

चांदी का परित्याग

लन्दन में चांदी स्टैण्डर्ड औंस के हिसाब से विकती है। वहां का स्टैण्डर्ड है १००० भाग में ९२५ भाग खालिस चांदी। जिस समय का वृत्तान्त यहां दिया जाता है उस समय इंगलैण्ड की मुद्रा सोने की थी, इसलिए कुल दाम सोने में ही समझे जाने चाहिए।

१८७३ से पहले कई साल तक लन्दन में चांदी का दाम ६० पेंस के करीव था। इधर चांदी में कुछ तेजी जरूर आ गई थी, मगर वह इतनी अधिक नहीं थी कि उसे विशेष महत्वपूर्ण कहा जा सके। लोगों को थोड़े समय के लिए कुछ चिन्ता जरूर हुई, मगर वे शीघ्र ही निश्चिन्त हो गए और उनका यह विश्वास फिर दृढ़ हो चला कि चांदी और सोने के बीच का सम्बन्ध स्थिर या स्थायी बना रहेगा।

वास्तव में १८७३ चांदी के इतिहास में एक नए युग का प्रारम्भिक वर्ष था। यह युग मुद्रा-जगत् में भूचाल-सा लानेवाला और कई गहन समस्याओं को उपस्थित करनेवाला था। इस भूचाल से चांदी और सोने का पुराना सम्बन्ध छिन्नभिन्न-सा हो गया, और इसका एक नतीजा यह हुआ कि कई देशों ने चांदी से घवरा कर सोने का पल्ला पकड़ लिया।

चांदी अव अधोमुख हो चली—उसका दाम क्रमशः गिरने लगा। यों तो यह गिरना पहले ही शुरू हो गया था, पर १८७३ में जब दाम ५७$\frac{७}{८}$ पेंस हो गया तब संसार का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ और इस सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न किए जाने लगे। चांदी बराबर गिरती ही गई। हर पांच साल का औसत लें तो १८७६ और १८९० के बीच उसका दाम यह रहा:—

१८७६—८०	५२$\frac{३}{४}$ पेंस
१८८१—८५	५०$\frac{५}{१६}$ पेंस
१८८५—९०	४४$\frac{५}{१६}$ पेंस

दाम गिरते-गिरते १८९३ में ३७$\frac{११}{१६}$ पेंस तक आ गया था।

चांदी के यों अधोमुख होने का कारण क्या था ?

इस सम्बन्ध में प्रधान कारण यह बताया जाता है कि फ्रांस पर विजय पाने के बाद जर्मनी ने सोने को अपनाकर चांदी को वहिष्कृत कर दिया। यह सारी चांदी जब बाजार में विकने लगी तब दाम का गिरना अनिवार्य हो गया।

जर्मनी को फ्रांस से जो हर्जाना मिला वह काफी बड़ी रकम थी। इसलिए चांदी की जगह सोने का चलन करना उसके लिए आसान हो गया। उधर उसकी महत्वाकांक्षा वढ़ी-चढ़ी थी ही। शायद उसका यह भी ख़याल था कि सोना बड़प्पन का चिह्न है, और कोई भी राष्ट्र तव तक बड़ों की श्रेणी में नहीं आ सकता जव तक वह इस विषय में इंगलैण्ड की बरावरी नहीं करता। १८७१ में ही उसने इस ओर कदम बढ़ाया और १८७३ में उसकी ख्वाहिश पूरी हो गई। सोना सिंहासन पर आरूढ़ हो गया और चांदी जहां-तहां जाकर खरीदार ढूंढ़ने लगी। १८७३ और १८७९ के बीच जर्मनी की ओर से जो चांदी संसार में बेची गई वह ११ करोड़ औंस से ऊपर थी।

पर कुछ विद्वानों का मत है कि अगर भारतवर्ष पर हुंडी करके भारत-सचिव करोड़ों रुपए हर साल विलायत न खैंचते रहते तो जर्मनी की चांदी इस तरह विकने पर भी बाजार इतना खराब न होता। इस मत के प्रतिपादकों में मि० मार्टिन उड थे, जो कभी वम्वई के 'टाइम्स आव् इंडिया' के सम्पादक रह चुके थे। १८९३ में हर्शल कमेटी को उन्होंने इस विषय पर अपना लिखित वक्तव्य दिया था। उनका कहना था कि जव लन्दन की ओर से इस प्रकार की हुंडी की जाती है तब लन्दन के लिए यह जरूरी नहीं रह जाता कि वह चांदी भेज कर भुगतान करे—और उतने करोड़ रुपए की चांदी बिकने और भारतवर्ष जाने से रह जाती है। अगर भारतवर्ष

पर इंगलैण्ड का राजनैतिक प्रभुत्व न होता और इंगलैण्ड इतने करोड़ रुपए इस देश से हर साल न लेता जाता तो चांदी की यह हालत न होती।

चांदी का दाम गिरता गया और, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, वह दाम सोने में था। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चांदी सस्ती हो गई या सोना मंहगा हो गया? वास्तव में दोनों ही बातें हुईं। सोने का उत्पादन इधर कम हो चला था, और चांदी का उत्पादन बहुत बढ़ गया था। अमेरिका में पहले चांदी कम—बहुत कम—निकलती थी पर, १८५९ के बाद वहां इसकी पैदावार इतनी बढ़ी कि संसार आश्चर्य-चकित हो गया और चांदी की समस्या संयुक्त राज्यों की राजनीति का एक प्रधान अंग बन गई। १८५६ से १८६० तक वहां कुल चांदी ३०९,४०० औंस निकली थी। दूसरे पांच वर्षों में निकली २८,१८०,६०० औंस। पर बाद की पैदावार को देखते हुए यह भी बहुत कम था। अकेले १८७४ में वहां २८,८६८,२०० औंस चांदी निकली, और १८९२ में ६३,५००,००० औंस।

अमेरिका में उस समय मुद्रा* सोने की थी, और सोना महंगा होने के कारण दाम गिरते जा रहे थे। इसलिए वहां यह आन्दोलन उठा कि मुद्रा-सिंहासन पर चांदी को भी बैठने का अवसर दिया जाय। इस आन्दोलन के समर्थक चांदी के उत्पादक और कृषक थे। यह आन्दोलन तो सफल न हो सका, पर इसके फलस्वरूप अमेरिका की सरकार बाजार में चांदी की बहुत बड़ी ख़रीदार बन गई। यहां दो विधानों का उल्लेख आवश्यक है—एक तो ब्लाण्ड-ऐलीसन ऐक्ट, और दूसरा शर्मन ऐक्ट। पहला १८७९ में पास हुआ और उसके अनुसार सरकार हर साल कम-से-कम २०,६२५,००० औंस और अधिक-से-अधिक ४१,२५०,००० औंस चांदी खरीदने को बाध्य हुई। बारह साल तक सरकार चांदी ख़रीदती गई, पर दाम का

---

*प्रायः ऐसे प्रसंग में मुद्रा का व्यवहार स्वयंसिद्ध मुद्रा के अर्थ में किया गया है।

प्रतीक-मुद्रा चांदी या तांबे के अलावा कागज की भी हो सकती थी और हर जगह थी भी।

गिरना रुका नहीं । १८३८ में जो दाम ५२ $\frac{६}{१६}$ पेंस था वह १८९० में ४३ $\frac{११}{१६}$ पेंस हो गया। इस साल विधान-द्वारा अमेरिका की सरकार प्रतिवर्ष कम-से-कम ५४,०००,००० औंस खरीदने को बाध्य की गई। चांदी के बाजार में इससे थोड़े समय के लिए तेजी आई और दाम ५४ $\frac{५}{८}$ पेंस हो गया, पर उसे फिर अधोन्मुख होने देर न लगी और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दाम गिरते-गिरते १८९३ में ३७ $\frac{११}{१६}$ पेंस पर आ गया।

रुपए में खालिस चांदी थी १६५ ग्रेन, और जब चांदी का दाम ६० पेंस था तब एक रुपया प्रायः दो शिलिंग* के बराबर होता था। यह रुपए का विनिमय-मूल्य था। ज्यों-ज्यों चांदी गिरती गई, वह विनिमय-मूल्य या एक्सचेंज भी गिरता गया। उदाहरणार्थः—

	चांदी का औसत दाम	औसत एक्सचेंज
	पेंस	पेंस
१८७२—७३	५९ $\frac{१}{४}$	२२.३५१
१८७४—७५	५८ $\frac{५}{१६}$	२२.२२१
१८७५—७६	५६ $\frac{७}{८}$	२१.६४५
१८७६—७७	५२ $\frac{३}{४}$	२०.४९१

एक्सचेंज गिरने से समाज के एक अंग की हानि थी, और दूसरे का लाभ था।

जब एक रुपए में दो शिलिंग अर्थात् २४ पेंस होते थे तब दस रुपए की समता एक पौंड से होती थी। उस समय किसीका एक पौंड विलायत में होता तो वह बैंक को देकर उसके बदले यहां १०) पा सकता था, या किसीको एक पौंड वहां देना होता तो वह १०) यहां देकर बदले में एक पौंड वहां पा सकता था। जब एक्सचेंज गिरते-गिरते यहां तक आ गया कि

***१२ पेंस = १ शिलिंग, और २० शिलिंग = १ पौंड स्टर्लिंग।**

रुपए का वजन था १८० ग्रेन ($\frac{३}{८}$ औंस), जिसमें खालिस चांदी थी १६५ ग्रेन। चांदी के दाम से रुपए का विनिमय-मूल्य निकालना साधारण अंकगणित का काम था।

एक रुपया सोलह पेंस के बराबर होने लगा, तब १५) की समता एक पौंड से होने लगी। अब अगर विलायत में एक पौंड जमा हो तो उसके बदले १५) यहां ले लीजिए; और अगर विलायत में एक पौंड चुकाना हो तो उसके लिए यहां १५) दाखिल कीजिए।

एक्सचेंज गिरने से इस देश के उत्पादकों का—विशेषकर कृषक-समाज का—लाभ था। उनका जो माल विदेश में बिकता उसका दाम पौंड–शिलिंग–पेंस में मिलता। फिर इनका रुपए से विनिमय करना पड़ता। अब अगर रुपए का विनिमय-मूल्य गिर गया, तो पौंड के उतने ही अधिक रुपए हुए, जिससे यहां के उत्पादक या किसान विशेष लाभ में रहे।

हां, जिन्हें रुपया विलायत भेजना था उनकी बात और थी। एक्सचेंज ज्यों-ज्यों गिरता, उन्हें अधिकाधिक रुपए देकर पौंड लेने पड़ते। इस श्रेणी में थे ब्रिटिश कर्मचारी, जिन्हें अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए विलायत पैसे भेजने पड़ते थे; ऐसे व्यापारी या व्यवसायी जिनका कारोबार यहां था पर जो अपने मुनाफे या अपनी पूंजी को यहां से उठाकर वहां ले जाना चाहते थे; और भारत-सरकार, जिसे भारत-सचिव की मांग पूरी करने के लिए हर साल कई करोड़ रुपए जुटाने पड़ते थे। विलायत से माल मंगानेवाले भी इसी श्रेणी में थे। मान लीजिए, उन्होंने एक पौंड का माल मंगाया और हिसाब लगाया कि १३।–) में उन्हें बैंक से एक पौंड मिल जायगा; इसी बीच एक्सचेंज गिर जाने से पौंड के पन्द्रह रुपए लगने लगे। लेहाजा उन्हें उस पौंड के लिए १॥≡) अधिक देना पड़ा।

भारतवर्ष के अधिकांश निवासी किसान हैं, और ऐसे विषय में देश के हानि-लाभ का निर्णय उन्हींके हित की दृष्टि से होना उचित है। पर किसान न तो शिक्षित हैं, और न संगठित। इसलिए, जहां उनकी गहरी हानि होती है वहां भी उनसे कुछ करते-धरते नहीं बनता, और ऐसी दशा में उनके हित की उपेक्षा होना बिलकुल स्वाभाविक है। उधर सरकार या अंगरेज कर्मचारी या व्यवसायी सुशिक्षित, सुसंगठित और सदा सावधान रहनेवाले हैं। उनकी जहां थोड़ी भी हानि होती है, वे रोने-चिल्लाने लगते

है और ऐसा आन्दोलन खड़ा कर देते हैं कि उनके हित की उपेक्षा असम्भव-सी हो जाती है। रुपए के एक्सचेंज के इतिहास में बार-बार ऐसा ही हुआ है।

जब चांदी की दर के साथ रुपए की विनिमय-दर गिरने लगी, तो विलायत पैसे भेजनेवालों को यह स्थिति बहुत अखरने लगी, और उन्होंने इसके ख़िलाफ हो-हल्ला मचाना शुरू कर दिया। किसान तो बेजबान थे, और उनकी ओर से बोलनेवाले दूसरे लोग भी आज की अपेक्षा बहुत कम थे।

१८७५ में पार्लमेण्ट की ओर से एक कमेटी इस विषय के अनुसन्धान के लिए बैठी कि चांदी के दाम गिरने के क्या कारण हैं, और भारत तथा इंगलैण्ड के बीच के एक्सचेंज पर इसका क्या असर पड़ा है। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में विषय-विवेचना तो की, पर भारतवर्ष की ओर से किसी कार्रवाई की सिफारिश नहीं की।

उसी साल अंगरेज व्यापारियों की ओर से भारत-सरकार के पास आवेदन-पत्र भेजे गए कि कुछ काल के लिए चांदी की टकसाल सर्वसाधारण के लिए बन्द कर दी जाय। पर सरकार को यह मंजूर न हुआ।

तीन साल बाद स्वयं सरकार ने यह प्रस्ताव किया कि भारतवर्ष चांदी की जगह सोने को अपना ले और सर्वसाधारण को अपनी चांदी टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के ढलवा लेने का जो अधिकार प्राप्त है वह उससे ले लिया जाय—अर्थात् मुद्रा सोने की हो और रुपया उसके प्रतीक का काम करे। "दोनों के बीच की दर समय-समय पर सरकार निश्चित करती रहे और जब उसमें यथेष्ट स्थिरता आ जाय तब वह दर बराबर के लिए दो शिलिंग कर दी जाय।" उस समय बाजार में एक्सचेंज की दर १ शिलिंग ७ पेंस थी। दो शिलिंगवाले दिन इस समुदाय को अभी तक भूले नहीं थे।

भारत-सरकार के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए लन्दन में एक कमेटी बैठी, जिसके सदस्यों में भारत-सचिव की कौंसिल और ब्रिटिश सरकार, दोनों के ही प्रतिनिधि थे। इस कमेटी ने एकमत हो अपनी राय उस प्रस्ताव के विरुद्ध दी। ब्रिटिश सरकार के अर्थ-विभाग की ओर से

इस प्रस्ताव पर जो टिप्पणी की गई थी (नवम्बर २४,१८७९) उसका कुछ अंश उद्धृत करने लायक है:—

"भारत-सरकार का प्रस्ताव है कि चांदी के रुपए को इस समय जो स्थान प्राप्त है वह उससे छीन लिया जाय और उसे प्रतीक-मुद्रा बनाकर उसके और सोने की मुद्रा के बीच एक स्थायी सम्बन्ध सरकारी आदेश से स्थापित कर दिया जाय ।

"पर यह व्यवस्था स्वाभाविक न होकर कृत्रिम होगी और इसकी सफलता के लिए सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य होगा। इस प्रकार के हस्तक्षेप मे बहुत कुछ बुराई होने का डर है ।

"हो सकता है कि इस प्रकार रुपए की दर बांध देने से भारत-सरकार, अंगरेज कर्मचारी और अंगरेज व्यवसायी अपनी-अपनी चिन्ता से मुक्त हो जायं और फायदे में रहें; पर आखिर इसका दाम चुकाना पड़ेगा भारत के किसानों को, जिनके कर्ज का बोझ (गल्ले इत्यादि का दाम गिर जाने के कारण) और भी भारी हो जायगा और जिन्हें लगान या कर चुकाने के लिए (उपज के रूप में) आज जितना देना पड़ता है उससे कहीं अधिक देना पड़ेगा ।"

भारत-सचिव ने दिसम्बर १८७९ में भारत-सरकार को लिखा कि इस परिवर्तन की मंजूरी नहीं दी जा सकती ।

लैटिन-मुद्रा-संघ के सदस्य-देशों को अपनी हितरक्षा के लिए अब दूसरे ही प्रकार की कार्रवाई करनी पड़ी । चलन से सोना निकला जा रहा था, और उसकी जगह सस्ती चांदी भरती जा रही थी । चूंकि उनके यहां चलन में चांदी के सिक्कों का अनुपात बहुत बढ़ा हुआ था, वे अपनी मुद्रा-प्रणाली से चांदी का पूर्ण बहिष्कार करने में असमर्थ थे । पर आगे के लिए उन्होंने चांदी की टकसाल का दरवाजा सर्वसाधारण के लिए बन्द कर दिया। १८८० तक यूरोप में कोई भी देश ऐसा न रह गया था जहां सर्वसाधारण को यह अधिकार हो कि चांदी टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के ढलवा सके। मूल्य के मान के सिंहासन पर सिर्फ चीन और भारतवर्ष में चांदी रह गई थी ।

कमेटी-कान्फ्रेंस-कमीशन, इनका सिलसिला बना ही रहा। दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन फिर पेरिस में हुए, और दोनों का उद्देश यही था कि चांदी में स्थिरता लाने के लिए सब देशों की ओर से कुछ किया जाय। पर सब एकमत न हो सके, इस कारण परिस्थिति में कोई अन्तर न पड़ा।

१८७८–७९ से १८८४–८५ तक चांदी ५१ पेंस के आसपास बनी रही, और फलतः एक्सचेंज भी स्थिर रहाः—

	चांदी का औसत दाम	औसत एक्सचेंज
	पेंस	पेंस
१८७८—७९	५२ ९/१६	१९.७६१
१८७९—८०	५१ १/५	१९.९६१
१८८०—८१	५१ १/४	१९.९५६
१८८१—८२	५१ ११/१६	१९.८९५
१८८२—८३	५१ ५/८	१९.५२५
१८८३—८४	५० ९/१६	१९.५३६
१८८४—८५	५० ५/८	१९.३०८

पर १८८६ में चांदी फिर नीचे गिरी और भारत-सरकार ने फिर अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए एक्सचेंज बांधने के उद्देश से एक स्कीम ऊपरवालों के सामने रखी। पर इस बार भी उसका प्रयत्न निष्फल रहा, ऊपरवालों ने उसके प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। उन्होंने भारत-सरकार के प्रस्ताव की आलोचना करते हुए लिखाः—

"इसमें सन्देह नहीं कि अंगरेज कर्मचारी-जैसे लोगों को इससे कुछ लाभ पहुंचेगा, पर साथ ही, इससे भारतीय किसान या करदाता की बड़ी हानि होगी। चांदी का दाम गिरने से इधर भारतवर्ष के वाणिज्य-व्यवसाय की बड़ी उन्नति हुई है, और ऐसा जान पड़ता है कि जनता को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ है। ऐसी हालत में भारत-सरकार का हस्तक्षेप करके रुपए को कृत्रिम मूल्य देना बहुत आपत्तिजनक है। हम इस प्रश्न पर केवल सरकार या उसके अंगरेज कर्मचारियों के हित या सुविधा की दृष्टि से विचार नहीं कर सकते; हमें सब से अधिक तो यह देखना

और विचारना होगा कि चांदी के गिरने का भारतीय जनता पर—उसकी व्यापारिक और औद्योगिक अवस्था पर—क्या असर पड़ा है ।"

१८८६ में एक शाही कमीशन, जिसके अध्यक्ष लॉर्ड हर्शल थे, चांदी और सोने के सम्बन्ध की आलोचना के लिए बैठा। इस कमीशन के १२ सदस्यों में एक सर डेविड बार्बर थे, जो भारत-सरकार के प्रतिनिधि कहे जा सकते थे। पर यह कमीशन भी एकमत न हो सका। छः सदस्यों ने द्वैत मुद्रा-प्रणाली के पक्ष में राय दी, पर बाकी छः की राय यह ठहरी कि अद्वैत (सोना या चांदी) की जगह द्वैत (सोना और चांदी दोनों) को ग्रहण करना अन्धकार में कूदने के समान खतरनाक होगा। इस मत-भेद के कारण कुछ भी न हो सका। भारत-सरकार ने आशा की थी कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से द्वैत प्रणाली की स्थापना और चांदी के प्रश्न का हल हो जायगा; पर वह आशा निराशा में परिणत हो गई।

उधर चांदी नीचे गिरती ही गई और उसके साथ-साथ हमारी हुण्डी की दर भी :—

	चांदी का औसत दाम	औसत एक्सचेंज
	पेंस	पेंस
१८८५—८६	४८ ५/८	१९.२५४
१८८६—८७	४५ ३/८	१७.४४१
१८८७—८८	४४ ३/८	१६.८९८
१८८८—८९	४२ ७/८	१६.३७९
१८८९—९०	४२ ११/१६	१६.५६६
१८९०—९१	४७ ११/१६	१८.०८९
१८९१—९२	४५ १/१६	१६.७३३
१८९२—९३	३९ १३/१६	१४.९८५
१८९३—९४	३५ ५/१६	१४.५४७

१८९१ में सुनने में आया कि अमेरिका चांदी की समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर रहा है। भारत-वर्ष में किसीको इस सम्मेलन से विशेष आशा नहीं थी। यहां सरकार और

अंगरेज व्यवसायी यह सोचने-विचारने लगे कि अगर यह सम्मेलन भी पहले सम्मेलनों की तरह असफल रहा तो हमारा कर्तव्य क्या होगा। भारत-सरकार ने इस सम्बन्ध में भारत-सचिव को लिखा (जून २१, १८९२) कि:—

"अगर यह स्पष्ट हो गया कि इस सम्मेलन से कोई सन्तोषजनक व्यवस्था होनेवाली नहीं है, और यह भी स्पष्ट हो गया कि भारतवर्ष और अमेरिका के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता, तो हमारा प्रस्ताव है कि सर्वसाधारण के लिए चांदी की टकसाल का दरवाजा बन्द कर दिया जाय और चांदी की जगह सोने को गद्दीनशीं करने की तैयारी की जाय ।"

सोने और चांदी के बीच का सम्बन्ध क्या हो, इस विषय में अपनी राय जाहिर करते हुए भारत-सरकार ने लिखा कि एक्सचेंज को हम उसी रेट या दर के आस-पास रखना चाहते हैं जो नई व्यवस्था करते समय बाजार में हो ।

२१ जून को लिखते हुए भारत-सरकार ने भारत-सचिव को विश्वास दिलाया कि लोकमत चांदी के परित्याग और सोने के अंगीकार के सर्वथा अनुकूल है और व्यापारीवर्ग से हमें इस काम में हर प्रकार की उचित सहायता मिल सकती है ।

वास्तव में यह अत्युक्ति और असत्य था। भारतवासियों के जो सच्चे प्रतिनिधि हो सकते थे वे चांदी के परित्याग के घोर विरोधी थे; क्योंकि वे जानते थे कि सोने की आड़ में उसके पक्षपाती एक्सचेंज को ऊंचा करना चाहते थे। ब्रिटिश व्यवसायी भी दो दलों में विभक्त थे। एक दल सरकार के साथ था; और उसके नेता थे मैकीनन मैकंजी कम्पनी के मि० जेम्स मैके, जो बाद में लॉर्ड इंचकेप के नाम से मशहूर हुए। इसकी ओर से 'इण्डियन करेन्सी एसोसियेशन' नाम से एक संस्था खड़ी की गई, और पार्लमेण्ट के पास भेजने के लिए एक आवेदनपत्र पर येनकेनप्रकारेण लोगों के दस्तखत कराए जाने लगे। दूसरा दल चांदी के परित्याग के प्रस्ताव का विरोधी था; और इसमें राली ब्रदर्स, ग्राहम, जॉर्ज हेंडर्सन, ऐण्ड्र यूल, शा वैलेस-जैसे प्रतिष्ठित फर्म सम्मिलित थे। इन लोगों की

ओर से ९ फरवरी १८९३ को गवर्नर-जनरल के पास एक आवेदनपत्र भेजा गया। उसमें कहा गया था:—

"हम लोग कलकत्ते के व्यवसाय के बहुत बड़े अंश के प्रतिनिधि हैं और प्रान्त भर के उत्पादक और दूसरे व्यवसायी इस विषय में हमारे साथ हैं।

"हम लोगों का मत है कि करेन्सी एसोसियेशन रुपए का विनिमय-मूल्य ऊंचा कराने और ठहराने के लिए जो प्रस्ताव कर रहा है वह हानिकारक है, जिससे सरकार की अपनी साख और इस देश के वाणिज्य-व्यवसाय को खतरा है।

"हम लोग इस बात के पक्षपाती नहीं कि रुपए का मूल्य डावांडोल बना रहे या वह बराबर नीचे गिरता जाय, पर हमारे विचार में इससे भी कहीं अधिक आपत्तिजनक है उसको पौंड-शिलिंग-पेंस में कृत्रिम मूल्य प्रदान करना। हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि करेन्सी एसोसियेशन का बताया हुआ इलाज किया गया तो बीमारी और भी बढ़ जायगी और तरह-तरह के उपद्रव होने लगेंगे।

"हम लोग अनुभवी व्यापारी होने का दावा कर सकते हैं, और इस हैसियत से हम करेन्सी एसोसियेशन के अध्यक्ष के इस कथन का खंडन करना चाहते हैं, कि चांदी के गिरने से इस देश के व्यापार को बड़ा धक्का लगा है और यहां ऐसी मन्दी आ गई है जैसी पहले कभी न थी। वास्तव में जो मन्दी है उसके कारण और ही हैं।

"हम जानते हैं कि सरकार की आर्थिक स्थिति चांदी या एक्सचेंज के गिरने से चिन्ताजनक हो गई है—और उसके जिन कर्मचारियों को इसमें नुकसान पहुंचा है उनसे हमारी पूरी सहानुभूति भी है। पर स्थिति को सुधारने के लिए न तो यह आवश्यक है, न वांछनीय, कि हम अपनी मुद्रा-प्रणाली को ही—जो हमारे वाणिज्य-व्यवसाय का आधार है और जिससे इस देश की धन-सम्पदा इतनी बढ़ी है— बिलकुल बदल दें।"

ऊपर जिन फर्मों के नाम लिखे गए हैं उनके अलावा इस आवेदनपत्र पर किल्बर्न कम्पनी, हांगकांग शंघाई बैंकिंग कार्पोरेशन, ल्याल मार्शल,

ऑक्टेवियस स्टील, बामर लॉरी, जेम्स डफ़स, डेविड सैमून ऐंड कम्पनी आदि के भी हस्ताक्षर थे ।

भारतीय संस्थाओं की ओर से भी टकसाल बन्द करने के प्रस्ताव का विरोध किया गया । कांग्रेस के मत का उल्लेख हम पीछे करेंगे; यहां इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि कलकत्ते की इण्डियन एसोसियेशन और पश्चिम भारत की प्रमुख संस्था इण्डस्ट्रियल एसोसियेशन ने भी उस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। इण्डियन एसोसियेशन ने अपने वक्तव्य में ठीक ही कहा:—

"भारत-सरकार की जो आर्थिक स्थिति हो रही है उसे सुधारने का सही तरीका है फौजी खर्च में कमी करना, जो रकम इंगलैण्ड में खर्च की जाती है उसको घटाना, अंगरेज कर्मचारियों की संख्या कम करके उनकी जगह भारतवासियों को भरती करना, और—आवश्यक हो तो—ऐसी विदेशी वस्तुओं पर हलका-सा कर लगा देना, जो यहां न तो जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आती हैं, न इस देश के उद्योग-धन्धों की तरक्की के लिए ।"

वास्तव में सरकारी कर्मचारी करेन्सी एसोसियेशन से शिखण्डी का काम ले रहे थे । पर वे उतने से ही सन्तुष्ट न हुए । उनकी ओर से, और भी जितने उपायों से आन्दोलन किया जा सकता था, किया गया । ३१ जनवरी १८९३ को एक डेपुटेशन बड़े लाट (लॉर्ड लैन्सडाउन) से भी मिला। उनके साथ सरकार की हमदर्दी जाहिर करते हुए बड़े लाट ने यह सूचित किया कि यद्यपि सारा विषय उस समय विचाराधीन था तथापि भारत-सचिव के आज्ञानुसार यह निश्चित हो चुका था कि फिलहाल जो कर्मचारी छुट्टी लेकर विलायत जायंगे उनको वेतन और भत्ता १६$\frac{३}{४}$ पेंस की रेट से मिलेगा । बाजार-दर उस समय १४$\frac{२३}{३२}$ पेंस थी ।

सरकार की हमदर्दी और भी आगे गई । टकसाल बन्द हो जाने के बाद उसने गोरे और अधगोरे कर्मचारियों को एक खास तरह का भत्ता देना मंजूर किया, जो एक्सचेंज गिरने के कारण होनेवाली क्षति की पूर्ति के लिए था । यह भत्ता कई साल तक मिलता रहा । बाजार में वास्त-

विक एक्सचेंज रेट और १८ पेंस के बीच जो फर्क होता वह उन्हें सरकार की ओर से मिल जाता, जिससे वे साल में १००० पौंड तक विलायत भेज सकें। जिन्हें इतना न भेजना पड़ता वे भी भत्ता पाने के हकदार होते ! हर साल इसमें सरकार का एक करोड़ रुपए से अधिक खर्च होता रहा। कांग्रेस बराबर इस भत्ते का विरोध करती रही।

१ सितम्बर १८९२ को भारत-सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए एक करेन्सी-कमेटी की नियुक्ति हुई। इसके अध्यक्ष थे लॉर्ड हर्शल, (जो उस समय लॉर्ड चान्सलर थे) और इसके बाकी सदस्यों में मि० कर्टनी , सर आर्थर गाडले, जनरल स्ट्राची आदि थे।

इसी बीच वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी बेल्जियम की राजधानी में बैठा। पर जिस राह और सम्मेलन जा चुके थे उसी राह यह सम्मेलन भी गया। इसकी असफलता का एक नतीजा यह हुआ कि चांदी की टकसाल बन्द करानेवालों के आन्दोलन में और भी बल आ गया।

इधर हर्शल कमेटी की बैठकें लन्दन में होती रहीं और गवाहियां गुजरती रहीं। उन गवाहों में एकमात्र भारतवासी प्रातःस्मरणीय दादाभाई नौरोजी थे, और उन्होंने भारत-सरकार के प्रस्ताव का विरोध ही किया। पर उनका साथ देनेवाले कई अंगरेज गवाह भी थे, जिनमें राली ब्रदर्स के मि० राली, मि० रॉबर्ट ग्रिफिन (जो वर्षों बोर्ड आव ट्रेड में बड़े कर्मचारी रह चुके थे), यूनियन बैंक आव स्कॉटलैण्ड के जनरल मैनेजर मि० चार्ल्स गेर्डनर, मि० विलियम फौलर, सर फ्रांक फार्ब्स ऐडम आदि मुख्य थे।

कमेटी की रिपोर्ट मई १८९३ के अन्त में तैयार हुई। उसका निचोड़ यही था कि भारतवर्ष चांदी का परित्याग कर दे—सर्वसाधारण के लिए टकसाल का दरवाजा बन्द कर दिया जाय और हुण्डी की दर फिलहाल १६ पेंस कर दी जाय।

गरज यह कि भारत-सरकार का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। कमेटी ने उसमें हेरफेर किया तो इतना ही, कि हुंडी की दर १८ पेंस न करके (यह हद सरकार की ओर से सुझाई गई थी) उसने फिलहाल १६ पेंस कर देने की सिफारिश की। भारत-सरकार ने कहा था, और कमेटी

ने भी इसको दोहराया कि चांदी का परित्याग, सोने के ग्रहण के उद्देश से ही किया जा रहा था।

२० जून को भारत-सचिव ने तार-द्वारा भारत-सरकार को टकसाल बन्द करने और नई व्यवस्था जारी करने के लिए मुनासिब कार्रवाई करने की इजाजत दी।

२६ जून को बड़े लाट की विधान-सभा में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला कानून पास हुआ और उसी दम चांदी सिंहासनच्युत कर दी गई। सर्वसाधारण के लिए अब टकसाल का दरवाजा खुला न रहा—वहां चांदी के सिक्के ढलवाने का अधिकार अब केवल सरकार को रह गया। साथ ही साथ इस बात की भी व्यवस्था की गई कि टकसाल में जो कोई १६ पेंस अर्थात् ७.५३३४४ ग्रेन खालिस सोना दाखिल करे उसे बदले में एक रुपया मिल जाय।

हर्शेल कमेटी ने जिस व्यवस्था की सिफारिश की थी, और जो अब कानूनन जारी की गई, वह थोड़े समय के लिए थी। विचार यह था कि इसका अनुभव हो जाने पर स्थायी व्यवस्था की जाय। एक्सचेंज अर्थात् हुण्डी की दर के सम्बन्ध में यह बात खास तौर से नोट कर लेनी चाहिए। हर्शेल कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अगर परिस्थिति अनुकूल हो तो यह दर बढ़ाई जा सकती है। सरकार की ओर से विधान-सभा में कहा गया कि चांदी के रुपए और सोने के बीच जो सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है उसको अन्तिम निर्णय नहीं समझना चाहिए।

कांग्रेस ने प्रस्ताव-द्वारा इस बात पर जोर दिया था कि हर्शेल कमेटी की जो सिफारिशें हों वे सर्वसाधारण के सामने रखी जायं और किसी भी प्रकार की कार्रवाई से पहले उसपर पूरी तरह से विचार हो ले। पर हमारी सरकार उतने समय के लिए भी ठहरनेवाली न थी!

अब पक्ष और विपक्ष की दलीलें सुनिए:—

बार-बार सरकार की ओर से यह रोना रोया जाता था कि चांदी गिरने से हुण्डी की दर गिरती है और इसका नतीजा यह होता है कि जो रकम हमें विलायत भेजनी होती है उसके लिए यहां अधिकाधिक रुपए

जुटाने पड़ते हैं; हमारा आर्थिक संकट बराबर बना ही रहता है और हम कभी यह निश्चयपूर्वक नहीं जान सकते कि हमारी परिस्थिति कब क्या रहेगी।

इसका जवाब यह था:—

वास्तव में हमें इंगलैण्ड को जो कुछ देना पड़ता था उससे हमारा रक्तशोषण-सा होता था, और अगर हम पराधीन न होते तो देने-लेने की यह नौबत ही न आती। उस जमाने में यह सालाना रकम डेढ़ करोड़ पौण्ड से ज्यादा थी और अगर एक्सचेंज की दर १६ पेंस पकड़ी जाय, तो उसके २२॥ करोड़ रुपए से अधिक होते थे। इसमें कितनी ही ऐसी रकमें शामिल थीं, जो हमपर सिर्फ इसलिए लाद दी गई थीं कि हम बेबस थे, और इंगलैण्ड मनमानी जोर-जबर्दस्ती कर सकता था। अफगानिस्तान की तो बात ही क्या, अबीसीनिया की लड़ाई का खर्च भी हमसे वसूल किया गया। स्थाल्लीपुलाकन्याय इससे ही समझ लीजिए कि क्या अवस्था थी। सबसे पहले देखने की बात तो यह थी, कि भारतवर्ष को जो कुछ देना पड़ता था उसमें न्यायतः कहां तक कमी की जा सकती थी। फौजी खर्च का एक बड़ा हिस्सा इंगलैण्ड को देना चाहिए था, क्योंकि जो फौज यहां थी वह केवल भारतवर्ष की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य-मात्र की रक्षा और भलाई के लिए। मि० ग्रिफिन के मतानुसार, भारत-सरकार का आर्थिक संकट टालने या दूर करने के लिए मुद्रा-प्रणाली में ऐसे परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं थी—आवश्यकता थी तो खर्च घटाने की, भारतवर्ष का बोझ हलका करने की। "न्याय का तकाजा यह था कि भारत के खर्च में करीब छः करोड़ की कमी कर दी जाय और उसके बोझ का यह हिस्सा इंगलैण्ड अपने ऊपर ले ले।"

एक्सचेंज गिरने से सरकार की कठिनाई जरूर बढ़ जाती, मगर उस हद तक नहीं, जो सरकारी बयानों में दी जाती। इस विषय में यह भी याद रखने की बात है कि चांदी सस्ती होने और एक्सचेंज गिरने से हमारे एक्सपोर्ट (निर्यात) व्यापार और उद्योग-धन्धों की बड़ी उन्नति हुई और इससे सरकार की आमदनी भी बढ़ी। १८७३–७४ में भारत-सरकार की

आय चालीस करोड़ रुपए के लगभग थी। पर १८९१–९२ में यह ५० करोड़ से ऊपर पहुंच गई थी। जो रकम विलायत भेजनी पड़ती उसमें थोड़ी-सी वृद्धि हो गई तो उसके लिए चांदी काफी बदनाम की गई। पर उसी चांदी ने दूसरी ओर करोड़ों की आमदनी कर दी तो उसे इसका कुछ भी यश नहीं मिला! श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Economic History of India (भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास) में लिखा है कि चांदी और एक्सचेंज गिरने से जब चावल और गेहूं में तेजी आती तब सेटलमेण्ट (बन्दोबस्त) अफसर जमीन का लगान या माल बढ़ा देते, और जब वाणिज्य-व्यापार बढ़ने से व्यवसायियों की आय में वृद्धि होती तब इन्कम टैक्स-अफसर टैक्स बढ़ाकर अपने कर्तव्य का पालन करते—चांदी के गिरने से सरकार को न कोई खास कठिनाई थी, न नुकसान। १८९१–९२ में समाप्त होनेवाले दस वर्षों में व्यय से आय प्रायः ५ करोड़ अधिक रही। यह इस बात का प्रमाण है कि भारत-सरकार का आर्थिक संकट जितना काल्पनिक था, उतना वास्तविक नहीं।

हिसाब-किताब में जो हानि दिखाई जाती वह इस आधार पर, कि अगर इतना रुपया दो शिलिंग या २४ पेंस की दर से विलायत भेजा जा सकता तो सरकार को यहां इतना कम जुटाना पड़ता। उदाहरण के लिए १८९२–९३ में एक्सचेंज के कारण होनेवाली हानि, प्रायः दस करोड़ दिखाई गई थी—अर्थात् अगर दो शिलिंग की दर कायम होती तो उस साल इतने कम रुपए से ही भारत-सचिव की हुण्डियों का भुगतान हो जाता! पर इस सिलसिले में क्या यह याद रखने की बात नहीं थी कि दो शिलिंगवाले जमाने में भारत-सचिव की मांग आज से कहीं कम थी और सरकार के दूसरे खर्च भी इस बड़े पैमाने पर न थे? भारत-सरकार की आर्थिक कठिनाइयों या संकट में कोई वास्तविकता थी भी तो उसके लिए चांदी या एक्सचेंज नहीं, बल्कि और ही बातें जिम्मेवार थीं।

सरकार को हर हालत में अपने व्यय को आय के भीतर रखना चाहिए था। 'तेते पांव पसारिए जेती लांबी सौर'। पर इस कर्तव्य का उससे पालन न हुआ, और वह लापरवाही के साथ हर तरफ पैर पसारती ही गई।

सरहदी लड़ाइयों में पैसा पानी की तरह बहाया गया; फौजी ताकत बढ़ाने में अन्धाधुन्ध खर्च किया गया। पर जब आर्थिक कठिनाई उपस्थित हुई तब इसके लिए दोषी ठहराई गई गरीब चांदी और रुपए का गिरा हुआ विनिमय-मूल्य !

घड़ी भर के लिए यह मान भी लिया जाय कि बिना कर-वृद्धि किए सरकार की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती थी, तो भी कहना पड़ेगा कि सरकार को जो करना चाहिए था उसे करने को वह तैयार न थी। विदेशी वस्तुओं पर उस समय जो कर या ड्यूटी थी वह नहीं के बराबर थी। १८७५ में यह ड्यूटी ५ प्रतिशत कर दी गई थी। कपड़े के लिए खास रिआयत थी। १८८२ में नमक और शराब को छोड़, बाकी चीजों पर से ड्यूटी उठा ली गई और इसके बाद कई साल तक विदेशी वस्तुएं यहां बिना किसी प्रकार का कर दिए आती रहीं। इनमें प्रधानता कपड़े की थी। हर्शल कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "आय बढ़ाने के लिए अगर विदेशी वस्तुओं पर फिर से ड्यूटी लगा दी जाय तो इसका बहुत कम विरोध होगा—कहा तो यह जाता है कि यह काम लोकप्रिय होगा। पर कठिनाई यह है कि अभी हाल में ही कपड़े पर से ड्यूटी उठा ली गई है, और अगर वह फिर से लगा दी गई तो इंगलैण्ड में इसका घोर विरोध होगा।" इंगलैण्ड का विरोध स्वार्थमूलक था। उसका उद्देश था मैंचेस्टर की मिलों को अधिक-से-अधिक सम्पन्न रखना। बार-बार उनकी भलाई की वेदी पर भारत के हित का बलिदान किया गया। अगर भारत स्वतन्त्र होता, और चांदी के गिरने से सचमुच उसे कोई कठिनाई होती, तो वह इम्पोर्ट ड्यूटी बढ़ा कर बड़ी ही आसानी से उस समस्या को हल कर सकता था।

यह हुई सरकार के संकट की बात। अब अंगरेज कर्मचारियों की कठिनाइयों को लीजिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हें संसार में ऊंचे-से-ऊंचे वेतन और ऊंचे-से-ऊंचे भत्ते मिलते थे। 'कैपिटल' नामक पत्र ने अपने १२ जुलाई, १८९२ के अंक में बहुत ठीक लिखा था कि "अगर एक शाही कमी-

शन यहां आकर जांच करे, तो यह बात-की-बात में स्पष्ट हो जायगा कि जो अफसर या कर्मचारी सबसे ज्यादा शोर जरूर मचा रहे हैं वे इमदाद पाने के सबसे कम हकदार हैं। यहां तो जरूरत इस बात की है कि वेतन और भत्ते नए सिरे से मुकर्रर किए जायं; क्योंकि कुछ तो बहुत ही कम पाते हैं, और कुछ बहुत ही ज्यादा। संसार में और कोई देश नहीं, जहां वेतन इतने ऊंचे हों, और चीजें इतनी सस्ती।" यह ध्यान में रखने की बात है कि यूरोप में १८७३ और १८९३ के बीच, सोना महंगा होने के कारण, दाम काफी नीचे गिर गए थे। स्वेज की नहर के खुलने से यूरोप का रास्ता पहले से छोटा हो गया था और आने-जाने में खर्च कम पड़ता था। इधर भारतवर्ष में रेलों का जाल फैलता जा रहा था और व्यापारिक प्रतियोगिता बढ़ती जा रही थी। ये सारे कारण विदेशी वस्तुओं के दामों को यहां नीचे गिरानेवाले थे। एक्सचेंज गिरने का असर उलटा जरूर पड़ता था, पर फिर भी बाहर से आनेवाली चीजें १८९३ में १८७३ की अपेक्षा सस्ती थीं। लन्दन के 'स्टेटिस्ट' नामक पत्र ने इन कर्मचारियों की मांग पर टीका करते हुए लिखा था:—

"इनका कहना है कि वेतन का जो हिस्सा हमें यूरोप से आनेवाली चीजों पर खर्च करना पड़ता है उसमें सैकड़े ३८ की वृद्धि हुई है। शायद इनका खयाल है कि यूरोप में रहनेवाले भारत की बातों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। यह खयाल न होता तो ये ऐसी बात कहने की धृष्टता न करते। असलियत तो यह है कि यह वृद्धि नहीं के बराबर हुई है। ....फिर इनका कहना है कि वेतन का जो हिस्सा हमें विलायत भेजना पड़ता है उसमें भी नुकसान उठाना पड़ता है। पर अगर नुकसान हो भी तो भारत-सरकार का इसमें क्या दोष? वह तो कहेगी, और बहुत ठीक कहेगी, कि हमने तुम लोगों को जो कुछ देने का वादा किया था वह दे दिया। उसके जितने कर्मचारी हैं उनके वेतन वह रुपयों में चुका देती है। चांदी के गिरने से रुपए की एक्सचेंज- गिरती है तो वह क्या करे? उसके लिए न वह जिम्मेवार है, न वह उसके रोके रुक सकती है।"

चांदी के विरुद्ध आन्दोलन करनेवालों का कहना था कि मौजूदा हालत में एक्सचेंज अस्थिर, डांवाडोल रहता है और यह व्यापार के मार्ग में बाधक का काम करता है। पर हर्शल कमेटी के सामने कई ऐसे उदाहरण पेश किए गए जो और ही बात साबित करनेवाले थे। दक्षिण अमेरिका, रूस, ऑस्ट्रिया आदि देशों के साथ—एक्सचेंज में अस्थिरता होते हुए भी—इंगलैण्ड बड़े पैमाने पर व्यापार कर चुका था, और जिन्होंने यह उदाहरण पेश किए उनका पूछना था कि जब एक्सचेंज की घटाबढ़ी वहां बाधक नहीं हुई तब क्या कारण है कि सिर्फ भारतवर्ष में होगी ? राली ब्रदर्स नामक जगद्विख्यात कम्पनी के मालिक मि० स्टेफेन राली से कमेटी ने पूछा कि इधर रुपए की दर में जो घटाबढ़ी हुई है, उससे आपको अपने व्यापार में कोई दिक्कत उठानी पड़ी है या नहीं ? मि० राली ने जवाब दिया कि नहीं, कोई भी नहीं। उन्होंने वह तरीका भी बताया जो, व्यापारी लोग जोखिम से बचने के लिए काम में लाते थे और आज भी लाते हैं। मान लीजिए, हमें दो महीने बाद कुछ डॉलरों की जरूरत पड़ेगी। एक्सचेंज अस्थिर होने के कारण कोई नहीं कह सकता कि उस समय उन डॉलरों के लिए हमें कितने रुपए देने पड़ेंगे। पर हम इस विषय में निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में हम 'फारवर्ड' अर्थात् आगे मिलनेवाले डॉलर आज ही बैंक से खरीद लेंगे और समय आने पर उन्हें देकर भुगतान कर देंगे। अगर बैंक से आगे के डॉलर मिलने में दिक्कत हुई, तो हम सम्भवतः यहां कुछ माल खरीद कर अमेरिका में बेच देंगे, जिससे हमें वहां समय पर डॉलर मिल जायं।

सच पूछा जाय तो मुद्रा या विनिमय का प्रश्न सरकार या उसके कर्मचारियों या व्यापारियों का प्रश्न न होकर इस देश की जनता का—यहां के करोड़ों किसानों का—प्रश्न था। इसे कसने की कसौटी यही थी कि चांदी या एक्सचेंज के गिरने से उस जनता का—उन करोड़ों किसानों का—लाभ हुआ है या हानि ? अगर किसान-जैसे उत्पादक उससे लाभान्वित हुए थे, तो इससे यह सिद्ध था कि चांदी हमारे देश के लिए हितकर थी, और इसके सामने यह बात कोई महत्व पाने लायक नहीं थी कि अंगरेज

कर्मचारी या व्यापारी उससे थोड़ी-बहुत हानि उठा चुके थे और उससे असन्तुष्ट थे ।

ऊपर कहा जा चुका है कि यूरोप में दाम गिरते आ रहे थे । सोना महंगा हो रहा था, इसलिए जो दाम सोने में दिए जाते थे वे कम हो रहे थे । भारतवर्ष में चांदी न होती और चांदी का बाजार इस तरह न गिरता तो यहां भी दामों की यही गति होती । इससे किसान या दूसरे उत्पादक बड़े घाटे में रहते । किसान को लगान या कर या सूद के रूप में जो कुछ देना पड़ता है वह एक निश्चित रकम होती है । यह रकम वह देता है अपने गाढ़े पसीने की कमाई से—अपने खेत का अन्न या गल्ला बेचकर । इसका दाम जितना ही अधिक मिले, उसके हक में उतना ही अच्छा । मान लीजिए कि जिस समय यूरोप में दाम गिर रहे थे उस समय हमारे रुपँए के विनिमय-मूल्य में स्थिरता थी; तो उस हालत में हमारे यहां भी दाम उसी हिसाब से गिरते और हमारे किसान बड़े संकट में पड़ जाते । पर हुआ यह कि चांदी सस्ती हो चली—रुपए का विनिमय-मूल्य भी गिरता गया—और द्रव्य सस्ता होने का अर्थ है दामों का उठना, इसलिए दाम (सोने में गिरने पर भी) यहां ऊपर उठे रहे । सोना महंगा होकर हमारे किसानों पर आघात करने जा रहा था, पर चांदी ने सस्ती होकर, और बीच में पड़कर, उनको बचा लिया । इंगलैण्ड में जिन्सों का दाम जहां १८६३ में १०० था वहां गिरते-गिरते १८९३ में ६१ रह गया था । भारत में गल्ले का दाम जहां १८६३ में १०० था वहां १८९३ में १२९ था । अगर यहां चांदी का रुपया न होता और इसका मूल्य न गिरता, तो यहां भी दाम ऊपर जाने के बजाय इंगलैण्ड की तरह नीचे गिरते ।

विदेशी व्यापार के आंकड़े भी यही सिद्ध करते हैं कि चांदी से हमारा लाभ ही हुआ ।

१८७३—७४

निर्यात (एक्सपोर्ट)	५४,९६,०७,८६० रु०
आयात (इम्पोर्ट)	३१,६२,८४,९७० रु०
आयात से निर्यात अधिक	२३,३३,२२,८९० रु०

१८९२—९३

निर्यात (एक्सपोर्ट)	१०६,५१,५१,९३०	रु०
आयात (इम्पोर्ट)	६२,६१,८३,८३०	रु०
आयात से निर्यात अधिक	४३,८९,६८,१००	रु०

भारतवर्ष में इम्पोर्ट (आयात) एक्सपोर्ट (निर्यात) पर निर्भर करता है। जब किसान अपना गल्ला बेचकर ज्यादा रुपए पाते हैं तब वे विदेशी वस्तुओं पर भी ज्यादा खर्च करते हैं। एक्सचेंज गिरते रहने से इम्पोर्ट बहुत कम हो जाना चाहिए था; पर असलियत में यह प्रायः दूना हो गया। फिर भी करेंसी ऐसोसियेशनवाले सन्तुष्ट नहीं थे, और यही कहते जाते थे कि व्यापार चौपट हो गया!

नीचा एक्सचेंज भारतवर्ष के लिए लाभदायक है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कलकत्ते की मशहूर कम्पनी ऐण्ड्र यूल के मालिक मि० जॉर्ज यूल ने (जो इण्डियन नैशनल कांग्रेस के चौथे अधिवेशन के प्रेसिडेंट हुए थे) कहा था कि:—

"हां, यह अवश्य लाभदायक है। मैं यह उत्तर गहरी समीक्षा-परीक्षा के बाद दे रहा हूं।"

मि० यूल का कहना था कि ब्रिटिश पूंजीपति यहां के उद्योग-धन्धों का गला घोंट देना चाहते थे और इसी उद्देश से, भारत-सरकार के अंगरेज कर्मचारियों को आगे खड़ा करके, सारा आन्दोलन चला रहे थे। इसमें खास हाथ लैंकाशायरवालों का था, जो यहां की काटन-मिलों को नष्ट कर डालना चाहते थे। चांदी के गिरने से इन मिलों को फायदा पहुंचा था और इनकी तरक्की हुई थी। १८७६–७७ में जहां ४७ काटन-मिलें थीं वहां १८९१–९२ में १२७ हो चली थीं। इस बीच में स्पिण्डल (तकुए) १,१००,११२ से ३,२७२,९८८ और लूम (करघे) ९,१३९ से २४,६७० हो चले थे। यहां की काटन-मिलें चीन के बाजार में भी मैंचेस्टर से प्रतियोगिता करने लगी थीं और इसके व्यापार का काफी बड़ा हिस्सा उनके हाथ में आ गया था। नीचे के आंकड़ों को देखिए:—

इंगलैण्ड से सूता चीन गया—

		कीमत पौंड में
१८९०	...	१,७९७,०००
१८९१	...	१,५०७,०००

भारतवर्ष से सूता चीन गया—

		कीमत पौंड में
१८९०	...	१७,५०७,०००
१८९१	...	१९,३९७,०००

१८७६-७७ में भारतवर्ष से जहां ७,९२७,००० पौंड सूता और १५,५४४,००० गज कपड़ा चीन गए थे वहां १८९१–९२ में क्रमशः १६१,२५३,००० पौंड और ७३,३८४,००० गज गए।

जापान भी उस समय यहां की मिलों के सूते का बड़ा खरीदार था। यह सब मैंचेस्टर के लिए असह्य था; इसलिए उसकी ओर से इस बात की भरपूर कोशिश हुई कि भारतवर्ष से चांदी की मुद्रा उठा ली जाय और रुपए की एक्सचेंज-दर उस समय जो ऊंची-से-ऊंची हो सकती थी, कर दी जाय। इस प्रकार एक्सचेंज को ऊंचा करने से चीन में भारतवर्ष की क्या क्षति होनेवाली थी, यह बताते हुए शंघाई की चीन-एसोसियेशन नामक संस्था ने हर्शल कमेटी को लिखा था:—

"इस समय भारतवर्ष की मिल जब २३,००० रुपए का सूता यहां बेचती है तब उसके १०,००० डॉलर होते हैं। चीनवाले १०,००० डॉलर इसलिए देते हैं कि वे इससे कम में वैसा सूता स्वयं तैयार नहीं कर सकते; पर अगर एक्सचेंज की दर १८ पेंस कर दी गई तो भारतवर्ष की मिल को तो पहले की ही तरह २३,००० रुपए मिलेंगे, पर चीन के खरीदार को इसके लिए यहां १२,००० डॉलर देना पड़ेगा। बहुत सम्भव है कि सूता इतना मंहगा हो जाने पर चीनवाले अपनी ही मिलें खोल लें और भारतवर्ष के लिए स्थिति यह हो जाय कि या तो वह अपना दाम नीचा करे, या इस व्यापार से हाथ धो बैठे।"

शंघाई के अलावा और स्थानों ने भी——जैसे हांगकांग और सीलोन ने——इस प्रस्ताव का विरोध किया कि भारतवर्ष से चांदी की मुद्रा उठा ली जाय। उन देशों में भी यहां का रुपया चलता था, और इसका मूल्य कृत्रिम हो जाने से वहां के उत्पादकों की भी हानि थी। पर उनका आवेदन-निवेदन भी अरण्यरोदन ही रहा।

३

सोने का ग्रहण

मूल्य मापने के लिए पहले चांदी का रुपया काम में लाया जाता था। स्वयंसिद्ध मुद्रा होने के कारण, १६५ ग्रेन चांदी की सोने में जो कीमत होती, वही रुपए की कीमत थी। पर अब रुपए का वह स्वरूप न रहा। रुपया अब प्रतीक-मुद्रा कर दिया गया। वह सोने का प्रतिनिधित्व करने लगा। १६५ ग्रेन चांदी की कीमत सोने में चाहे जितनी कम हो, पर वह १६ पेंस अर्थात् ७.५३३४४ ग्रेन सोने का द्योतक हो गई।

"हर्ज क्या रुपया जो कागज का चला ? गम न खा—रोटी तो गेंहू की रही।" पर सच पूछिए तो चांदी का रुपया भी अब एक प्रकार का नोट ही था। साधारण नोट से उसमें फर्क था तो इतना ही कि यह नोट कागज का न होकर चांदी का था। मूल्य अब दोनों का ही कृत्रिम था।

चांदी की टकसाल बन्द हो जाने पर स्थिति यह थी :—

(१) चांदी अब स्वयंसिद्ध मुद्रा या मूल्य-मापक नहीं रही।

(२) सरकार अपने को वचनवद्ध कर चुकी थी कि यह स्थान सोने को प्रदान किया जायगा।

(३) इस देश में चलन सिर्फ प्रतीक-मुद्राओं का रह गया, जिनमें कागजी नोटों के साथ चांदी के भी नोट थे।

(४) साधारणत: चांदी की ऐसी प्रतीक-मुद्रा कानूनन एक हद तक ही लेन-देन के काम में लाई जा सकती है। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में शिलिंग का सिक्का प्रतीक-मुद्रा का काम करता था, पर शिलिंग में एक पौंड से ज्यादा देने-लेने को कोई भी कानूनन बाध्य नहीं था। पर यहां भारतवर्ष में रुपए पर ऐसी कोई कैद नहीं लगाई गई—चाहे जितना देना-पावना हो, रुपए में दिया-लिया जा सकता था।

(५) अभी तक चलन में प्रत्यक्ष रूप से सोना नहीं आया था। टकसाल में या सरकारी खजाने में सॉवरेन १६ पेंस की दर से लिए जा सकते थे। पर उन्हें देने-लेने को जनता कानूनन बाध्य नहीं थी।

(६) सरकार इस दर से (अर्थात् ७.५३३४४ ग्रेन सोना = १ रुपया) सोने के बदले रुपए देने को तैयार थी, पर रुपए के बदले सोना देने को नहीं। रुपए का विनिमय-मूल्य १६ पेंस बांध दिया गया था, इसलिए वह उससे ऊपर नहीं जा सकता था। जब ७.५३३४४ ग्रेन सोना सरकार को देकर इससे एक रुपया लिया जा सकता था, तब कोई दूसरे को एक रुपए के लिए उससे अधिक सोना क्योंकर देता? पर चूंकि सरकार ने रुपए के बदले सोना देने की कोई जिम्मेवारी नहीं ली थी, उसका विनिमय-मूल्य १६ पेंस से नीचे गिर सकता था।

(७) विनिमय-मूल्य या एक्सचेंज १६ पेंस कर दिया गया था, पर स्थायी रूप से नहीं। हमारे शासक देखना यह चाहते थे कि ऊंट किस करवट बैठता है। परिस्थिति अनुकूल हुई तो उनका इरादा उसको और भी ऊंचा कर देने का था। मूल्य के मान के लिए अंगरेजी में 'स्टैंण्डर्ड' शब्द व्यवहृत होता है। सोना स्टैण्डर्ड कर देने का अर्थ है इस बात की व्यवस्था करना कि लेन-देन के भुगतान के लिए लोगों को सोना मिल सके। पर इस समय यहां ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। उधर चांदी भी स्टैण्डर्ड की जगह नहीं रह गई थी। फिर यहां का स्टैण्डर्ड क्या था? वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं था। सर जॉन लबक नामक एक प्रसिद्ध बैंकर थे, जो १८८६ वाले सोना-चांदी कमीशन के मेम्बर रह चुके थे। उन्होंने इस विषय में अपनी राय जाहिर करते हुए कहा था कि यहां का तत्कालीन स्टैण्डर्ड 'एक्सचेंज स्टैण्डर्ड' था। इसकी व्याख्या उन्होंने इन शब्दों में की थी:—

"जब कभी कोई सरकार ऐसे नोट (वे चाहे कागज के हों, चाहे रुपए की तरह चांदी के) जारी करती है जो कानूनन सोने से बदले नहीं जा सकते, और उसकी कीमत ठहराने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेती है, तब, मेरी

समझ से, इस स्टैण्डर्ड को इससे अच्छा और कोई नाम न मिल सकने के कारण—'एक्सचेंज स्टैण्डर्ड' कहना चाहिए।"

सर जॉन लवक इस प्रकार के स्टैण्डर्ड के विरोधी थे। उनकी खास आपत्ति यह थी कि इस प्रकार की व्यवस्था में करेंसी का घटना या बढ़ना प्राकृतिक रूप से न होकर सरकार की मर्जी के मुताबिक हुआ करेगा, जो बड़ी भयंकर वस्तु होगी।

चांदी के पक्षपाती बराबर यह कहते आ रहे थे कि जो लोग सोना-सोना चिल्ला रहे हैं वे कपटी हैं और उनका उद्देश भारतवर्ष को सोना देना नहीं, बल्कि हुंडी की दर को ऊंचा करके रुपए को ही बराबर चलन में रखना है। मिस्टर राली ने अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि "मेरा विश्वास है कि सोने के स्टैण्डर्ड के प्रश्न की आड़ या तह में एक्सचेंज का प्रश्न है। अगर भारतवर्ष में सोने का स्टैण्डर्ड हो चले तथा सोने और रुपए के बीच की एक्सचेंज-दर काफी नीची हो, तो मैं हर्गिज उस स्टैण्डर्ड का विरोध न करूंगा।" अब धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि सचमुच हमारे साथ एक तरह की चाल चली गई थी—हमको सोने का स्टैण्डर्ड देने का वादा सचाई के साथ नहीं किया गया था। जो हर्शल कमेटी के मेम्बर रह चुके थे उनका भी सोने के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार था। १८९८ में बयान देते हुए लॉर्ड फारर ने तो यह कहा कि "अगर मेरा विश्वास यह न होता कि हर्शल कमेटी की रिपोर्ट भारतवर्ष को सोने का स्टैण्डर्ड दिलायेगी तो मैं उस पर कभी दस्तखत न करता।" उनका कहना था कि यहां अभी तक सोने का स्टैण्डर्ड स्थापित नहीं हुआ है। उधर मि० कर्टनी ने, जो लॉर्ड फारर की तरह हर्शल कमेटी के मेम्बर रह चुके थे, फर्माया कि—नहीं, जब सरकार सर्वसाधारण से लगान या कर के भुगतान में सोना लेने को तैयार है और रुपए की एक्सचेंज-दर १६ पेंस हो चुकी है तब समझना चाहिए कि सोने का स्टैण्डर्ड स्थापित हो चुका। शुरू से ही यहां की मुद्रा-प्रणाली को ऐसा रूप दिया गया कि वास्तविकता आसानी से किसीकी समझ में न आ सके और उसकी जटिलता की आड़ में हमारे कर्ताधर्ता जो दस्तन्दाजी चाहें, कर सकें। जिस रोज हर्शल कमेटी की रिपोर्ट तैयार

हुई थी उस रोज एक्सचेंज की दर १४.६२५ पेंस थी। रिपोर्ट निकल जाने पर २७ जून को यह दर एक दिन के लिए १६ पेंस हो गई, पर वहां ठहर न सकी। १८९३-९४ में औसत दर १४.५४४ पेंस रही। यह दर बाजार की हालत पर निर्भर करती है। ऐसा न होता तो सरकार विधान-मात्र से दर को और भी ऊंचा कर सकती थी। सरकार ने कानून पास कर दिया कि वह दो शिलिंग देनेवाले को एक रुपया देगी, पर बाजार की हालत ऐसी नहीं कि किसीको रुपए के लिए सरकार के पास जाना पड़े; और दो शिलिंग से कम में ही रुपया मिल जाता है तो सरकार का कानून कानून ही रहेगा, वह दर चल न सकेगी। यह जरूर है कि सरकार अपनी नीति-रीति में परिवर्तन कर बाजार की हालत बदल सकती है और बाजार को अपने पास आने के लिए मजबूर कर सकती है। पर यह अवस्था भी एक हद तक ही पैदा की जा सकती है।

दिसम्बर १८९३ में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ और उसमें यह प्रस्ताव पास हुआ कि—"भारत-सरकार ने आनन-फानन कानून पास करके सर्वसाधारण के लिए चांदी की टकसाल का दरवाजा बन्द कर दिया। इसपर यह कांग्रेस अत्यन्त खेद प्रकट करती है; कारण कि रुपए का मूल्य कृत्रिम और ऊंचा करके जनता पर परोक्ष रूप से एक नया कर लगा दिया गया है और इस कार्रवाई से हमारे व्यापार और उद्योग-धन्धों को—खासकर कपड़े की मिलों को—बड़ी हानि पहुंची है।"

टकसाल बन्द हो जाने के बाद चांदी के दाम और एक्सचेंज की दर यह रहीं:—

	चांदी का औसत दाम पेंस	औसत एक्सचेंज पेंस
१८९४–९५	२८$\frac{१५}{१६}$	१३.१०१
१८९५–९६	२९$\frac{७}{८}$	१३.६३८
१८९६–९७	३०$\frac{३}{४}$	१४.४५१
१८९७–९८	२७$\frac{९}{१६}$	१५.३५४
१८९८–९९	२६$\frac{१५}{१६}$	१५.९७८

आरम्भ में कई साल तक एक्सचेंज १६ पेंस से बहुत नीचे रहा—अर्थात् सरकार चाहती थी कि रुपए को लोग १६ पेंस देकर लें, मगर रुपया इससे सस्ता बना रहा। अपनी नीति को असफल होते देख सरकार ने रुपए का अभाव या कमी करना शुरू कर दिया। रुपया ढालना न ढालना अब सरकार के बस की बात थी। उसने नए सिक्कों की ढलाई बन्द कर दी, जिससे बाजार में रुपए की टान बढ़ती गई। टकसाल बन्द होने से पहले नई करेन्सी के रूप में हमें प्रायः सात से नौ करोड़ रुपए की हर साल जरूरत पड़ती थी। सिक्के तो इससे भी ज्यादा ढलते थे, पर उनमें से कुछ गला दिए जाते थे और उनके जेवर इत्यादि वन जाते थे। जो सिक्के चलन में रह जाते उनकी तादाद इतनी थी। हमारी जन-संख्या, हमारा वाणिज्य-व्यापार, हमारी तरह-तरह की आवश्यकताएं बढ़ रही थीं, और इसलिए यह आवश्यक था कि करेन्सी भी उन्हींके अनुसार बढ़ती रहे। अगर स्वाभाविक रीति से वह बढ़ती तो १८९४ से १८९८—इन पांच वर्षों में कम से कम ४० करोड़ और रुपए, नए सिक्कों के रूप में, चलन मे आ जाते। पर वास्तव में हुआ कुछ और ही। इतने समय में कुल पांच करोड़ रुपए के लगभग चलन में बढ़ पाए। सरकार प्रायः नए सिक्के ढालती ही नहीं थी, इसलिए पुराने सिक्कों से ही सबको काम चलाना पड़ता था। १८९३ में चलते-फिरते रहनेवाले रुपयों की संख्या १३८ करोड़ कूती गई थी। अगर यह संख्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपर्याप्त होती। पर स्वाभाविक कारण—जैसे गलाकर और काम में ले आना, जमीन में गाड़ देना, इस देश से बाहर भेज देना—उस संख्या में ह्रास ही करनेवाले थे; इसलिए १८९७ की कूत के अनुसार वह केवल १२० करोड़ ठहरी थी। ऐसे समय में, जब कि रुपयों की आवश्यकता दिन-दिन बढ़ रही थी, सरकार ने उनकी ढलाई बन्द कर और उनकी तादाद कम कर, उनका मूल्य बढ़ा दिया और एक्सचेंज अन्त में १६ पेंस हो गया। पर पांच साल से कम में यह काम पूरा न हो सका।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि सर्वसाधारण के लिए टकसाल

जरूर बन्द थी, पर लोग सरकार को सोना देकर तो रुपया ले ही सकते थे; फिर वे ऐसा क्यों नहीं करते थे ? उत्तर यह है कि सोना लोग सरकार के पास तभी ले जाते जब और जगह बेचने में अधिक लाभ न होता। जब तक एक्सचेंज १६ पेंस न हुआ, सोना बाजार में सरकारी दर से मंहगा बिकता रहा। सरकार तो ७.५३३४४ ग्रेन सोने के बदले एक रुपया देती, पर इतने सोने का मूल्य बाजार में एक रुपए से अधिक था। ऊपर कहा जा चुका है कि इंगलैण्ड में स्टैण्डर्ड सोने का था और पौंड-शिलिंग-पेंस उस समय सोने के द्योतक थे। फिर, जब बाजार में एक्सचेंज १४ पेंस होता तो उसका अर्थ यही था कि उतने सोने का मूल्य एक रुपया हुआ। अवश्य ही जब किसीको १४ पेंस (सोना) बेच देने से ही एक रुपया मिल जाता है तब वह १६ पेंस (सोना) देकर एक रुपया लेने को तैयार न होगा। यही कारण है कि इतने साल तक कोई अपना सोना ले जाकर सरकार से रुपए मांगने न गया। इसी बात को दूसरी तरह यों कह सकते हैं कि इतने समय तक एक्सचेंज-नीति सफल न हो सकी।

चांदी की कहानी पूरी करने के लिए यहां अमेरिका की भी कुछ घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

जब १८९३ में भारत-सरकार ने अपनी टकसाल बन्द करके चांदी की मुद्रा यहां से उठा ली तब अमेरिका ने शर्मन-विधान को मन्सूख करके बाजार में चांदी खरीदना बन्द कर दिया। इससे चांदी और भी नीचे गिरी। दामों का यह हाल रहा:—

	पेंस—
१८९३	३५ ५/८
१८९४	२८ १३/१६
१८९५	२९ ७/८
१८९६	३० ३/४
१८९७	२७ ५/१६
१८९८	२६ १३/१६
१८९९	२७ ७/१६

१८९६ में चांदी अमेरिका में एक बार फिर राजनैतिक आन्दोलन का मुख्य विषय बन बैठी। वहां के रिपब्लिकन चाहते थे कि इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की फिर चेष्टा की जाय। पर डिमॉक्रैट इसके विरोधी थे। उनकी मांग थी कि अमेरिकन सरकार बिना औरों से किसी प्रकार का समझौता किए द्वैत मुद्रा-प्रणाली ग्रहण कर ले और सोने तथा चांदी के बीच १ : १६ का सम्बन्ध स्थापित कर दे। प्रेसिडेंट के चुनाव में जीत रिपब्लिकन पार्टी की रही और नए राष्ट्रपति ने दोनों धातुओं के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के उद्देश से इंगलैण्ड और फ्रांस के साथ पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। फ्रांस की राय थी कि यह सम्बन्ध या अनुपात १ : १५½ हो, पर यहां भारत-सरकार को यह मंजूर न था। बाजार में उस समय (१८९७) यह अनुपात १ : ३४.२० था—अर्थात प्रायः ३४ भाग चांदी एक भाग सोने की बराबरी करती थी। फ्रांस की बात स्वीकार करने का अर्थ होता चांदी का मूल्य इतना अधिक कर देना कि १५॥ भाग चांदी ही एक भाग सोने की बराबरी कर सके। साथ ही, इसका अर्थ होता रुपए के एक्सचेंज को अत्यधिक ऊंचा कर देना—जो भारत-सरकार की भी दृष्टि में सर्वथा अनुचित था। अमेरिकन राष्ट्रपति के पत्रव्यवहार का कोई नतीजा नहीं निकला। इधर सोने के उत्पादन में बड़ी वृद्धि होने लगी थी और सोना सस्ता होने लगा था। लोग थोड़े ही समय में चांदी को भूल-से गए।

१८९८ में भारत-सरकार ने एक प्रस्ताव भारत-सचिव के सामने रखा, जिसका उद्देश था कर्ज लेकर इंगलैण्ड में सोने का एक रिजर्व कायम करना और रुपए गला-गला कर चांदी के रूप में बेच देना। सरकार का कहना था कि चलन में रुपया आवश्यकता से अधिक है और एक्सचेंज को १६ पेंस तक उठाने और वहां टिकाने के लिए इस आधिक्य या बाहुल्य को मिटा देना जरूरी है।

२९ अप्रैल को भारत-सचिव ने एक नई करेंसी कमेटी नियुक्त करके उसे आदेश दिया कि वह सरकार के प्रस्ताव पर विचार करे। इस कमेटी के अध्यक्ष सर हेनरी फौलर थे, जो स्वयं भारत-सचिव रह चुके थे। उसके दूसरे सदस्यों में सर जॉन म्यूर, सर डेविड बार्बर, लॉर्ड बैलफर, मि०

कैम्पबेल आदि थे। अनुसन्धान के लिए जो क्षेत्र कमेटी को दिया गया था वह भारत-सरकार के प्रस्ताव तक ही परिमित नहीं था। भारत-सचिव के आदेशानुसार यह भारतीय मुद्रा-प्रणाली से सम्बन्ध रखनेवाली हर बात का अनुसन्धान कर सकती थी और उसपर अपनी राय दे सकती थी।

कमेटी के सामने मुख्य प्रश्न दो थे:—

(१) यहां का मान या स्टैण्डर्ड सोना हो या चांदी ?

(२) चांदी और सोने के बीच सम्बन्ध क्या हो ?

बहुतेरे गवाहों ने इस बात पर जोर दिया कि १८९३ में जो भूल हुई उसके सुधार के लिए यह आवश्यक है कि चांदी अपनी पुरानी जगह पर फिर से स्थापित कर दी जाय। कुछ गवाह ऐसे भी थे, जो चांदी को उसी हालत में फिर से उसकी पुरानी जगह पर लाने के पक्षपाती थे, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौता होकर दोनों धातुओं का सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित हो जाय।

यह हुई चांदी के पक्षपातियों की बात। सोने के पक्षपाती भी दो दलों में विभक्त थे। एक दल चाहता था कि सोने का मान तो हो ही, साथ-साथ सोने के सिक्के भी चलन में हों। दूसरा दल कहता था कि मान तो सोने का रहे पर यहां उसके सिक्के न चलाए जायं।

गवाहों में इस बार दो भारतवासी थे—श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त, (कांग्रेस के भावी प्रेसिडेण्ट) और बम्बई के पारसी व्यापारी मि० मेरवानजी रुस्तमजी। दोनों ने ही सरकार की नीति की कड़ी आलोचना की।

चांदी के पक्षपातियों की दलील यह थी कि "उससे भारतवर्ष को काफी लाभ हुआ था, और ऐसी वस्तु का परित्याग हर्गिज न करना चाहिए था। १८९३ में परिस्थिति और भी उपायों से काबू में लाई जा सकती थी। इसके लिए मुद्रा-प्रणाली में ऐसे उलट-फेर की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस बीच में यह अनुभव भी हो गया था कि इस क्षेत्र में सरकार की दस्तन्दाजी से क्या-क्या अनर्थ हो सकते हैं। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि समाज की आवश्यकताओं के अनुसार करेंसी (मुद्रा) की मात्रा स्वतः

घटती-बढ़ती रहे। पर यह प्रबन्ध जब सरकार अपने हाथ में ले लेती है तब यह घटना-बढ़ना उसके इच्छानुकूल होने लगता है। फिर तो यह हो सकता है—जैसा कि यहां हो चुका था—कि रुपए की सख्त जरूरत है, और सरकार उसे देने से इनकार कर देती है; देश में रुपए-पैसे का दुर्भिक्ष है, और सरकार कहती है कि नहीं, रुपए का बाहुल्य है, हम सिक्कों को चलन से निकाल कर गलाने जा रहे हैं! पर करेंसी का स्वतः घटना-बढ़ना तभी हो सकता है जब टकसाल का दरवाजा सबके लिए खुला रहे; जिसको मुद्रा की आवश्यकता हुई, अपना सोना या चांदी टकसाल में ले गया और उसके सिक्के करा लिए। यहां भारतवर्ष में सोने की ढलाई की आशा कम थी, इसलिए यह और भी आवश्यक था कि चांदी की टकसाल फिर से खोल दी जाय। इससे सारी कृत्रिमता और तज्जनित दोष दूर हो जायंगे।"

उस समय चांदी का दाम २७ और २८ पेंस के बीच था, पर चांदी के पक्षपातियों का कहना था कि अगर टकसाल खोल दी गई और यहां चांदी के सिक्के पूर्ववत् ढलने लगे तो बाजार शीघ्र ही ३० पेंस हो चलेगा। इसका अर्थ होगा १२ पेंस का रुपया। पर विपक्षी यह कहते कि इस बात की गारण्टी ही क्या है कि चांदी या एक्सचेंज इससे भी नीचे न गिरेगा? मि० राली ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि "संसार में सभी कुछ सम्भव है, पर हम व्यापारी अनुभव से जानते हैं कि क्या सम्भव है, और क्या असम्भव। जहां व्यावहारिक बातों की चर्चा हो वहां ऐसे प्रश्न उठाने से क्या लाभ?" मि० डंकन नामक दूसरे गवाह से भी यही प्रश्न किया गया और उनका उत्तर इस प्रकार था:—"हमारे स्कॉटलैण्ड में जब कभी कोई ऐसा सवाल करता है तब इसका जवाब एक लोकोक्ति के रूप में दिया जाता है। वह लोकोक्ति यह है कि अगर आसमान गिर पड़े तो गानेवाले पक्षियों के दम घुट जायंगे। पर बावजूद इसके, वे पक्षी गाते ही जाते हैं।"

लॉर्ड ऐल्डनहम इंगलैण्ड के प्रसिद्ध बैंकर थे, और बैंक आव् इंगलैण्ड के गवर्नर रह चुके थे। इन्होंने अपने बयान में भारत-सरकार की कार्रवाई

की तीव्र आलोचना की और उसे 'जुर्म' तक बताया। लॉर्ड ऐल्डनहम द्वैत मुद्रा-प्रणाली के पक्षपाती थे और सोने-चांदी का सम्बन्ध निश्चित करने के लिए चाहते थे कि फिर से अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के लिए प्रयत्न किया जाय।

मि० रॉबर्ट बार्कले नामक व्यवसायी भी ऐसा समझौता चाहते थे। उन्होंने अपने इजहार में कहा:—

"मेरा विश्वास है कि भारत में चांदी की टकसाल का दरवाजा फिर से खोल देने का निश्चय होते ही कुछ ऐसी शक्तियां काम करने लगेंगी जो चांदी के मूल्य को बढ़ाये बिना न रहेंगी। भारतीय टकसाल बन्द होने से पहले, चांदी का दाम ३८ पेंस से कभी नीचे नहीं गिरा था, और ऐसे निश्चयमात्र से ही उस दाम में तेजी आ जायगी। चीन और अफ्रीका में भी चांदी के उपयोग के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है।"

सोने के पक्षपाती वही कहते जाते थे जो टकसाल बन्द होने से पहले बार-बार कह चुके थे—"चांदी काफी चंचल, डावांडोल, अस्थिर, अव्यवस्थित साबित हो चुकी है। एक्सचेंज को अपने साथ नीचे गिरा कर इसने उन सबको नुकसान पहुंचाया है—और उनमें भारत-सरकार का नाम सबसे पहले लेने लायक है—जिन्हें रुपया विलायत भेजना पड़ता है।" पर इससे आगे सोने के सब पक्षपाती साथ जाने को तैयार न थे। कोई हमें सोना किसी रूप में देना चाहता था, कोई किसी रूप में। कुछ तो सोना नाममात्र को ही देनेवाले थे।

इन सबके सामने पहला सवाल यह था कि जो रुपए चलन में थे और जो प्रतीक-मुद्रा बना दिए गए थे उनके बदले,जनता की मांग होने पर, सरकार सोना देने को तैयार रहेगी या नहीं? सर जॉन लबक का कहना था कि जब तक सरकार बदले में सोना देने को तैयार नहीं होती तब तक सोने का मान या स्टैण्डर्ड सार्थक हो ही नहीं सकता। पर सोने के पक्षपातियों ने एक स्वर से यही कहा कि अगर सोने के स्टैण्डर्ड की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक हो तब तो 'न होगा बांस न बजेगी बांसुरी'। रुपयों के बदले सरकार सोना देने को बाध्य न हो—इसी आधार पर सबने

अपनी-अपनी स्कीम पेश की। हां, अगर किसी साल भारत की देनदारी ज्यादा हुई और उसके लिए भुगतान में सोना बाहर भेजना आवश्यक हो गया तो इन स्कीमों में इस बात की प्रायः व्यवस्था थी कि सरकार रुपए लेकर उस काम के लिए सोना दे।

आपस का मतभेद विशेषतः इस बात पर था कि देश के भीतर चलन में सोने के सिक्के रहें या नहीं। मि० मैकलियड, लॉर्ड नॉर्थब्रुक, सर सैम्युअल माण्टेग्यू, सर एडगर विन्स्टन—जैसे लोग इस बात के पक्ष में थे। उनका कहना था कि जब तक सोने के सिक्के चलन में न होंगे, यहां की मुद्रा-प्रणाली पूर्णतः स्वस्थ न हो सकेगी। सर एडगर विन्स्टेन मिस्र-सरकार के सलाहकार रह चुके थे। उनका कहना था कि "सिद्धान्ततः यह सम्भव है कि सोने का मान या स्टैण्डर्ड बिना सोने के सिक्कों के चलन के हो, पर यह अपवादस्वरूप है; और जिस मुद्रा-प्रणाली में ऐसी व्यवस्था हो वह कभी उत्तम नहीं कही जा सकती। सोने के मान या स्टैण्डर्ड का आधार ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिसमें आवश्यकतानुसार सोना देश से बाहर बेरोक-टोक जा-आ सके और देश के भीतर भुगतान के लिए सोने के सिक्कों का स्वच्छन्द व्यवहार हो सके। इस प्रकार की व्यवस्था उस व्यवस्था से अधिक प्रचलित और हितकर है, जिसमें लेन-देन के लिए केवल प्रतीक-मुद्रा काम में लाई जाती हो। यह भी कहा जा सकता है कि जहां सोने का मान या स्टैण्डर्ड है, पर चलन में सोना नहीं है, वहां सरकारद्वारा दस्तन्दाजी विशेष रूप से होगी। पर इस प्रकार की दस्तन्दाजी बहुत ही बुरी चीज है। जो भी मुद्रा-प्रणाली हो, वह स्वतः काम करनेवाली होनी चाहिए और सरकारद्वारा हस्तक्षेप कुछ खास परिस्थितियों में ही—और वहां भी कम-से-कम —होना चाहिए।" सोने के सिक्के के विरोधी यह कहा करते कि चलन में सोना अधिक काल तक नहीं ठहर सकता—लोग उसे दबाकर बैठ जायंगे। इसके उत्तर में मि० मैकलियड का कहना था कि सोना इस देश के लिए कोई नई चीज नहीं थी। सोने के सिक्के यहां सदियों तक चल चुके थे। १८५३ से पहले जो सोने के सिक्के यहां चलन में थे उनका तखमीना था बारह करोड़ पौंड। "नहीं, भारतवर्ष को सोने के

सिक्कों का ऐसा लोभ या मोह नहीं है कि वह उन्हें चलन में रहने ही न दे।"

सोने के सिक्के के विरोधियों में बंगाल-बैंक के कर्मचारी मि० लिण्डसे का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह इस विषय पर वर्षों से लिखते आ रहे थे और जब फौलर कमेटी बैठी तब उसके सामने इन्होंने एक स्कीम रखी, जो इनके नाम से मशहूर है। इनकी स्कीम संक्षेप में यह थी :—

"सोना मान या स्टैण्डर्ड कर दिया जाय, पर चलन में सोने के सिक्के न हों। देश के भीतर रुपए और नोट करेन्सी का काम करें। लन्दन में एक करोड़ पौंड कर्ज लेकर एक रिजर्व (कोष) कायम किया जाय, जिसका नाम 'गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व' हो। रुपए की एक्स्चेंज-दर, ऊपर और नीचे, दोनों ओर बांध दी जाय। जब किसीको रुपयों की जरूरत हो तब वह लन्दन में सरकार को स्टर्लिंग दे और १६$\frac{१}{१६}$ पेंस की दर से यहां उससे रुपए ले ले। इसके विपरीत, जब किसीको विलायत में स्टर्लिंग की जरूरत हो तब वह यहां रुपए देकर १५$\frac{३}{४}$ पेंस की दर से वहां सरकार से स्टर्लिंग ले ले। १५,००० से कम किसीको रुपए न मिलें और १,००० से कम किसीको स्टर्लिंग न मिले। अगर किसी समय स्टर्लिंग की मांग इतनी अधिक हो कि रिजर्व खाली हो जाने का डर हो, तो उस हालत में सरकार भारतवर्ष में मिलनेवाले रुपयों को कुछ हद तक गला डाले और चांदी को लन्दन भेज कर बेच दे और उसका स्टर्लिंग कर ले।"

इस स्कीम का खास उद्देश था भारतवर्ष में करेन्सी के लिए सोने का व्यवहार न होने देना, और इसमें इस बात पर बहुत जोर दिया गया था कि सोने का जो रिजर्व हो वह लन्दन में ही रहे। मि० लिण्डसे का कहना था कि लन्दन में सोना रहने से ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक केन्द्र की मजबूती बनी रहेगी, और वह रिजर्व को भारतवर्ष में रखने के कट्टर विरोधी थे।

पर उस समय भारत-सरकार का मत और ही था। उसके अर्थ-सदस्य सर जेम्स वेस्टलैण्ड ने इस स्कीम की आलोचना करते हुए कहा कि "भारतवर्ष में नई मुद्रा-प्रणाली की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि

सर्वसाधारण को उसपर पूरा विश्वास हो। और उस विश्वास-सम्पादन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सोने का रिजर्व इसी देश में रखा जाय। अगर रिजर्व लन्दन में रखा गया, और लोगों का यह खयाल हो चला कि भारत-सचिव या व्यापारियों की मांग पूरी करने में यह कभी भी गायब हो सकता है तो विश्वास हर्गिज न जम सकेगा।" सर जेम्स वेस्टलैण्ड की एक टिप्पणी यह थी कि रिजर्व ६,००० मील दूर न रखकर भारतवर्ष में रखा जाय तो उसकी मिकदार चाहे जो हो, वह हर हालत में ज्यादा मुफीद साबित हो सकता है।

और लोगों ने भी इस स्कीम को आपत्तिजनक वताया और इसकी कड़ी आलोचना की। इसका सबसे बड़ा दोष यह बताया गया कि इसमें सरलता और स्वाभाविकता को तिलांजलि दे दी गई थी और सारी व्यवस्था जटिल-से-जटिल और कृत्रिम-से-कृत्रिम बना दी गई थी। प्रायः सब कुछ सरकार के हाथ में या उसकी मर्जी पर छोड़ दिया गया था, और विशेष ध्यान इस बात का रखा गया था कि सोना यथासम्भव लन्दन में ही केन्द्रीभूत रहे।

यद्यपि फौलर कमेटी ने यह स्कीम स्वीकार नहीं की तथापि हमारे शासकों की कारसाजी से देश में जो मुद्रा-प्रणाली प्रचलित हुई वह बहुत कुछ इसी स्कीम के अनुसार थी। इसीलिए इस विषय के इतिहास में लिण्डसे-स्कीम को विशेष महत्व प्राप्त है।

कमेटी ने अपना निर्णय देते हुए पहले तो भारत-सरकार के प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकार्य बताया, कि इस बीच में परिस्थिति बहुत कुछ बदल चुकी थी—एक्स्चेंज १६ पेंस तक पहुंच गया था और स्थिर हो रहा था—अब वह समस्या नहीं रह गई थी—अगर रुपए चलन से निकाल लिए गए तो यहां मुद्रा-सम्बन्धी स्थिति भयंकर हो जायगी और अगर उन रुपयों को गला कर बेच दिया गया तो चांदी और भी नीचे गिर जायगी, जिससे चीन-जैसे चांदी की मुद्रावाले देश और भारतवर्ष के बीच के एक्सचेंज में हलचल-सी उपस्थित हो जायगी।

चांदी और सोने के बीच के प्रश्न पर कमेटी ने अपना फैसला चांदी के

खिलाफ दिया और भारतवर्ष के लिए सोने को ही श्रेयस्कर बताया। "भारतवर्ष में मूल्य का मान या मापक सोना ही होना चाहिए—चाहे वह सोने के सिक्कों के साथ हो, चाहे सोने के रिजर्व या कोष के।"

पर कमेटी ने उन सब स्कीमों को त्याज्य ठहराया जिनमें बिना सोने के सिक्कों के सोने का मान या स्टैण्डर्ड चलाने की बात थी। ऐसे सिक्के इस देश में बहुत समय तक चल चुके थे, और इतिहास से इस आशंका की पुष्टि नहीं होती थी कि जैसे छलनी से पानी बाहर निकल जाता है वैसे ही इस देश में चलन से सोने के सिक्के निकल जायंगे। कमेटी की सिफारिश यह थी :—

"हम लोग इस बात के पक्ष में हैं कि ब्रिटिश सॉवरेन या गिनी का भारत-वर्ष में भी चलन होने लगे और लोग उसे देने-लेने को बाध्य कर दिए जायं। साथ ही, ब्रिटिश टकसाल की ऑस्ट्रेलिया में जो तीन शाखाएं हैं उन्हें जिन शर्तों पर सोने के सिक्के (सॉवरेन) ढालने का अधिकार प्राप्त है उन्हीं शर्तों पर भारतवर्ष की टकसालों को भी ऐसे सिक्के अबाधित रूप से ढालने दिया जाय। इसका फल यह होगा कि सब सॉवरेन समान होंगे और उनका चलन ग्रेट-ब्रिटेन में तथा भारतवर्ष में, दोनों जगह, होने लगेगा।"

रुपयों के बारे में कमेटी ने लिखा कि "स्वयंसिद्ध मुद्रा सॉवरेन होगा, और रुपए प्रतीक-मुद्रा का काम करेंगे। पर लेन-देन में रुपयों का व्यवहार परिमित या नियन्त्रित करना संभव नहीं—इसलिए इस विषय में प्रतीक-मुद्रा स्वयंसिद्ध मुद्रा के ही समान होगी।" कमेटी ने अमेरिका के संयुक्त राज्य और फ्रांस, इन दो देशों के उदाहरण देकर यह दिखाया कि वहां सोने का मान या स्टैण्डर्ड था, फिर भी चाहे जिस हद तक हो, लोग चांदी के सिक्के लेने-देने को बाध्य थे। कमेटी की राय में आवश्यकता केवल इस बात की थी कि रुपयों की तादाद जरूरत से ज्यादा न बढ़ाई जाय; और उसकी सिफारिश थी कि जब तक चलन में सोने का परिमाण अत्यधिक नहीं हो जाता तब तक और रुपए न ढाले जायं।

रुपयों के बदले भारत-सरकार सोना देने को बाध्य हो—ऐसी कोई सिफारिश कमेटी ने नहीं की।

एक्स्चेंज की स्थायी दर के सम्बन्ध में कमेटी ने अपना निर्णय १६ पेंस के ही पक्ष में दिया। उसकी खास दलील यह थी कि मौजूदा दर यही है और यह प्रायः डेढ़ साल से कायम है। इसको बेदखल करके किसी भी दूसरी दर को इसकी जगह बिठाना—बने को बिगाड़ना, बसे को उजाड़ना और अनगिनत आदमियों के साथ अन्याय करना होगा।

टकसाल बन्द करके जो परिस्थिति पैदा कर दी गई थी उसमें सरकार १६ पेंस ही क्यों, जो दर चाहती, कायम कर सकती और टिका सकती थी। सिक्कों की ढलाई अब उसके हाथ की बात थी—उनकी तादाद या संख्या कम करके वह उनका मूल्य चाहे जितना ऊँचा कर सकती थी। सवाल सिर्फ यही था कि लोगों को अपनी यन्त्रणा के रूप में इसका क्या दाम चुकाना पड़ेगा और इसमें कितना समय लगेगा? कृत्रिम उपाय से किसी दर को कायम कर देना और फिर उसी दर की दुहाई देना—यह नीति-रीति हमारी सरकार और उसके तरफदारों को ही शोभा दे सकती थी। फौलर-कमेटी की नियुक्ति अप्रैल १८९८ में हुई थी। उसने अपना काम इतनी ढिलाई से किया कि उसकी रिपोर्ट निकली जुलाई १८९९ में। तब तक १६ पेंस दर कायम हुए प्रायः १८ महीने हो चुके थे। क्या इसमें भी सन्देह हो सकता है कि जानबूझ कर यह निर्णय इतने समय बाद किया गया, ताकि उस दर के पक्ष में और कुछ नहीं तो इतना तो कहा जा सके, कि यह पौधा डेढ़ साल का हो चुका है, अब इसको उखाड़ कर इसकी जगह दूसरा पौधा लगाना जोखिम और खतरे का काम है?

ऊपर कहा जा चुका है कि नए सिक्कों की ढलाई बन्द करके और रुपए की कहतसाली पैदा करके ही सरकार ने उसकी कीमत १६ पेंस तक पहुँचाई। कमेटी को इस सम्बन्ध में जो साक्ष्य मिला वह उस भयंकर स्थिति का सूचक था, जिसे सरकार की नीति ने यहां कुछ काल पहले पैदा कर दिया था।

बैंक-रेट १३ प्रतिशत तक पहुँच गई थी, पर व्यापारियों को २४ प्रतिशत पर भी रुपया उधार मिलना मुश्किल था। रुपए की ऐसी तंगी लोगोंके लिए बिलकुल नई बात थी। कलकत्ते की किलबर्न कम्पनी

के प्रनिनिधि ने अपने बयान में कहा था:—"इस समय किसी भी उद्योग-धंधे के लिए रुपया उटाना असम्भव हो रहा है। सरकारी कागज पर कर्ज लेना चाहें तो मिलने का नहीं, क्योंकि सराफ उस पर रुपया देने को तैयार नहीं हैं। अच्छी-से अच्छी कम्पनी के शेयर बेचना चाहें, तो शेयर बिकने के नहीं। जो कम्पनियां डिविडेण्ड देती आ रही हैं उनके भी शेयर बाजार में बिक नहीं सकते। हम लोगों की एक स्टीम-बोट कम्पनी है, जो कई माल से आठ प्रतिशत मुनाफा देती आ रही है। पर अगर हम उसके ५०० शेयर भी बेचना चाहें तो नहीं बेच सकते। बाजार में महीनों से रुपए की ऐसी तंगी है कि कोई ऐसे शेयर या डिबेंन्चर का भी खरीदार नहीं निकलता।"

रुपया इतना महंगा हो जाने से चीजों के दाम गिरे थे और व्यापार मन्दा हो रहा था। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त ने इस सम्बन्ध में कमेटी का ध्यान अपने एक नोट की ओर आकर्षित करते हुए कहा था :—"टकसाल बन्द हो जाने के बाद भारतवर्ष के प्राय: प्रत्येक प्रान्त में —पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बंगाल, बम्बई, मद्रास, आसाम, और मध्य प्रान्त में—गल्ले का दाम नीचे गिरना शुरू हुआ। .... मैंने १८९३–९४ और १८९४–९५ को एक साथ लिया है, और मैं देखता हूँ कि प्राय: सर्वत्र दाम गिर गए थे। मैं इसका कारण यही बता सकता हूँ कि टकसाल बन्द हो जाने के बाद रुपया महंगा हो चला। १८९२, १८९४ और १८९५ में मैं स्वयं बंगाल में था (१८९३ में मैं बाहर था) और मैं निजी अनुभव से कह सकता हूँ कि १८९४–९५ में दाम गिरने का और कोई कारण नहीं हो सकता था। उस समय संयुक्त प्रान्त में अकाल था, इसलिए गल्ले का दाम ऊँचा रहना चाहिए था। पर आप देखेंगे कि प्राय: हर जगह दाम नीचे ही रहे।"

इसी तरह नील और चाय के दाम नीचे गिर गए थे और इनकी काश्त की तरक्की रुक गई थी। बम्बई की कॉटन-मिलों की अवस्था शोचनीय हो रही थी। ६ अगस्त १८९८ के अंक में 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने लिखा था—"परिस्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती जा रही है। ऐसा

बुरा समय तो न कभी देखा गया, न सुना गया। अधिकांश मिलें घाटे से चल रही हैं—कुछ किसी तरह अपनी आय से अपना व्ययमात्र पूरा कर लेती हैं; बहुत कम मिलें ऐसी हैं जो कुछ मुनाफे के साथ चल रही हों। मालूम नहीं, ऐसे दुष्काल का अन्त कब होनेवाला है।" वाणिज्य-व्यापार में दारुण मन्दी छाई हुई थी और बड़े-बड़े व्यवसायियों को टाट उलट देना पड़ा था।

विदेशी व्यापार का हाल यह था कि जितना निर्यात (एक्सपोर्ट) होना चाहिए था, नहीं हो रहा था; और जो आयात (इम्पोर्ट) न होना चाहिए था, होने लगा था। एक्स्पोर्ट में से इम्पोर्ट घटा देने पर जो बाकी बचता है वह एक्स्पोर्ट-सरप्लस (निर्यात का आधिक्य) कहाता है। एक्सचेंज की दर का इस सरप्लस पर क्या असर पड़ता है वह नीचे के अंकों से स्पष्ट हो जायगा :—

साल	निर्यात का आधिक्य करोड़ रुपए	एक्स्चेंज की रेट (पेंस)
१८९३–९४	१५	१४.५४
१८९४–९५	३४	१३.१०
१८९५–९६	३२	१३.६४
१८९६–९७	२०	१४.४५
१८९७–९८	११	१५.४०

दर जितनी ही ऊँची, सरप्लस उतना ही नीचा—अर्थात् एक्स्पोर्ट उतना ही कम। अवश्य ही एक्सपोर्ट कम होने के कुछ और भी कारण थे—अकाल, भूकम्प, महामारी, सरहदी लड़ाई इत्यादि—पर सबमें प्रधान कारण एक्स्चेंज ही था। जब यहां दाम ऊँचे होते हैं तब एक्स्पोर्टर को विदेश में एक हद तक दाम घटा कर माल बेचने की गुंजाइश रहती है। पर जब यहां दाम नीचे होते हैं तब यह गुंजाइश नहीं के बराबर रह जाती है। चीन के व्यापार से भारतवर्ष को क्रमशः हाथ धोना पड़ा। जब यहां का सूत वहां महँगा पड़ने लगा तब चीन में ही कॉटन-मिलें स्थापित होने लगीं, और अन्त में वह बाजार हमारे हाथ से निकल गया। उधर इम्पोर्ट को

एक्स्चेंज बढ़ने से प्रोत्साहन मिला और यहां के उत्पादकों की कठिनाई इससे और भी बढ़ गई। जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी से उन दिनों चुकन्दर की चीनी की बाजार में बाढ़-सी आ गई और देशी चीनी या गुड़ बनानेवालों को उससे काफी नुकसान पहुँचा। जो दूरदर्शी थे वे जानते थे कि इम्पोर्ट स्थायी रूप से तभी बढ़ सकता है, जब एक्स्पोर्ट की यथेष्ट उन्नति होती रहे। यही कारण है कि राली ब्रदर्स और ग्राहम कम्पनी-जैसे इम्पोर्टर भी नीचे एक्स्चेंज के पक्ष में थे। मि० राली ने कहा था—"ग्राहम और हमारी फर्म बड़े-से-बड़े इम्पोर्टर हैं—बल्कि ग्राहम तो केवल इम्पोर्टर हैं—फिर भी वे चांदी की टकसाल को खोल देने और एक्स्चेंज को नीचा रखने के पक्ष में हैं।" मि० ग्राहम ने इसका समर्थन करते हुए कहा था—"चांदी के और एक्स्चेंज के गिरने से स्वयं मुझे नुकसान पहुँचा है। पर मेरा विश्वास है कि यह नुकसान थोड़े समय के लिए है। लोग मुझसे पूछते हैं कि 'आप कपड़े के इम्पोर्टर होते हुए चांदी की टकसाल खोल देने के पक्ष में कैसे हैं?' मैं उत्तर देता हूँ कि यह प्रश्न एक्स्पोर्ट या इम्पोर्ट का नहीं, यह तो देश की भलाई का प्रश्न है। देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाय तो एक्स्पोर्टर और इम्पोर्टर दोनों ही फायदे में रहेंगे। फर्क इतना ही है कि एक्स्पोर्टर फौरन फायदा उठा लेगा और इम्पोर्टर को—अर्थात् मुझे कुछ देर ठहरना पड़ेगा।"

१८९८ वाले कांग्रेस के अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास हुआ, जिसमें कहा गया कि "एक्स्चेंज के गिरने से होनेवाली हानि का मूल कारण है इंगलैण्ड में भारत-सरकार के खर्च की उत्तरोत्तर वृद्धि।' और यह कि "अगर उस नुकसान को पूरा करने के लिए एक्स्चेंज को कृत्रिम ढंग से ऊंचा किया जाता है या चलन में करेन्सी की कमी कर दी जाती है तो इससे भारतवर्ष की आर्थिक कठिनाई बढ़े बिना और उसकी व्यापारिक क्षति हुए बिना नहीं रह सकती।"

एक्सचेंज के प्रश्न पर कमेटी सर्वसम्मति से १६ पेंस के पक्ष में निर्णय न दे सकी। उसके दो मेम्बर सर जॉन म्यूर और मि० कैम्पबेल ने १५ पेंस की सिफारिश की, और मि० हॉलैंड की राय यह ठहरी कि इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभी न किया जाय।

सर जॉन म्यूर और मि० कैम्बेल ने १६ पेंस का विरोध करते हुए यह दिखाया कि यह दर कृत्रिम ढंग से कायम की गई थी और इस देश के लिए हानिकर थी; इससे किसानों का बड़ा नुकसान था।

"यह सच है कि दर जितनी ऊंची होगी, भारत-सरकार के लिए स्टर्लिंग उतना ही सस्ता होगा। पर पूछा जा सकता है कि सरकार को जो फायदा हुआ वह आखिर आया कहां से ? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान काम है। सरकार को जो लाभ होता है वह वास्तव में उस किसान की हानि है जिसे अब कम दाम में ही अपना माल बेच देना पड़ता है।"

रुपए की असली कीमत तो १५ पेंस से भी बहुत कम थी, इसलिए यह आक्षेप करना जा नहीं था कि उसकी सिफारिश करनेवाले रुपए की कीमत घटाकर उसे 'घटिया' कर देना चाहते थे। प्रत्युत १६ पेंस कीमत बहुत ज्यादा थी, और उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता था। कृत्रिम और ऊंची दर की भयंकरता को कम करने के उद्देश से इन दोनों मेम्बरों ने यह सिफारिश करना मुनासिब समझा कि वह १६ के बजाय १५ पेंस कर दी जाय।

इधर चांदी के पक्ष-विपक्ष की बातें हो रही थीं, उधर सोने का उत्पादन वेग से बढ़ रहा था और सोने में चीजों के दाम भी ऊँचे होने लगे थे। १८९८–९९ में दाम ऊंचे होने के कारण इस देश के माल की मांग अच्छी रही और एक्सपोर्ट की उन्नति हुई। सोने के उत्पादन में इस वृद्धि के कारण संसार के मुद्रासम्बन्धी इतिहास में एक नए अध्याय का आरम्भ हो चुका था या होनेवाला था। भारतवर्ष में भी अब दाम बढ़ने लगे और कुछ समय बाद लोग १६ पेंस के दोषों को भूल-से गए और उसीको स्वाभाविक समझने लगे।

यहां भारत-सरकार के आय-व्यय के विषय में कुछ कह देना आवश्यक है। लॉर्ड रिपन के जाने के बाद इस देश में कई नए टैक्स लगाए गए, जिससे करदाता का बोझ बेहद भारी हो गया। १८८२–८५ में सरकार प्रतिवर्ष कर के रूप में जो कुछ ले चुकी थी उसको आधार मानकर स्वर्गीय गोखले ने अपनी एक स्पीच में दिखाया था कि १८८५–९८ इन

१४ सालों में सरकार ने जनता से १२० करोड़ अधिक लिया था। इसमें से ८० करोड़ तो फौजी खर्च में चला गया था, और बाकी दूसरी मदों में। शिक्षा के लिए इसमें से कुल एक करोड़ ही प्राप्त हुआ था ।

पहले सरकार की ओर से कहा जाता कि एक्सचेंज गिरने से जो हानि होती है वह उसे टैक्स घटाने के प्रश्न पर विचार भी करने नहीं देती। जब एक्सचेंज १६ पेंस कर दिया गया और सरकार की वह गहन समस्या हल हो गई, तब लोगों को आशा होने लगी कि हमारा बोझ अब हलका कर दिया जायगा। पर उनका बोझ ज्यों-का-त्यों बना रहा और उनकी आशा निराशा में परिणत हो गई। रुपए की कीमत जब १२ और १३ पेंस के बीच थी तब सरकार को जितना खर्च पड़ता था उसमें—रुपए की कीमत १६ पेंस होजाने पर—चार और पांच करोड़ के बीच की बचत होने लगी; पर इस बचत का कई साल तक जनता को कोई लाभ न पहुंचा। अब सरकार की नीति यह हो चली कि आय से व्यय पूरा होना ही पर्याप्त नहीं कहा जा सकता—आय इतनी होनी चाहिए कि प्रतिवर्ष व्यय पूरा कर देने के बाद खासी बचत रहे । १९०१–०२ में समाप्त होनेवाले पांच वर्षों में यह बचत १२.२६ करोड़ रुपए रही। श्रीयुत गोखले का कहना था कि अगर युद्ध और अकाल के कारण व्यय में वृद्धि न होती तो सरकार की आय उसकी आवश्यकता से प्रतिवर्ष प्रायः ६॥। करोड़ रुपए अधिक होती।

इस विषय पर दूसरे अध्याय में और भी प्रकाश डाला गया है ।

४

आड़ से शिकार

फौलर-कमेटी ने बहुमत से जो सिफारिशें की थीं उन सबको भारत-सचिव ने मंजूर कर लिया । उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि—"इस रिपोर्ट के महत्व के अनुसार इस पर ब्रिटिश सरकार ने ध्यानपूर्वक विचार किया है । और इसमें जो तथ्य और जो युक्तियां पेश की गई हैं उन्हें सार-गर्भित मानती हुई वह इस नतीजे पर पहुंची है कि इसके उसूल मान लिए जायं और वे अमल में लाए जायं ।" पर इतना कह कर भारत-सचिव और उनके सलाहकारों ने रिपोर्ट को ताक पर रख दिया और उन उसूलों के ही खिलाफ काम करना शुरू कर दिया ।

उन्होंने नई मुद्रा-प्रणाली के संगठन या रचना में कानून से कम—बहुत कम—काम लिया और अपनी निरंकुशता प्रायः अक्षुण्ण रखी । जो कुछ करते रहे, हुक्मनामों या फरमानों के जरिए, जो उनके सुविधानुसार बदले जा सकते थे ।

इस समय में कब कौन-सी घटना घटी, इसका एक संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है:—

१८९९—एक ऐक्ट पास हुआ, जिससे लोग सॉवरेन या गिनी लेने-देने को बाध्य हो गए । दर रही १६ पेंस = एक रुपया ।

१८९९-१९०३—भारतीय टकसालों में सॉवरेन ढालने के सम्बन्ध में समझौते का जो प्रयत्न हो रहा था वह छोड़ दिया गया ।

१९००—रुपयों की ढलाई से जो मुनाफा होता उससे लन्दन में गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व—सुवर्णनिधि या सुवर्ण-कोष—की रचना की गई ।

१९०४—भारत-सचिव की ओर से ऐलान किया गया कि १६$\frac{१}{८}$ पेंस की दर से वह चाहे जितने की हुंडी भारत-सरकार पर बेचने को तैयार रहेंगे ।

१९०५—नोटों की पुश्ती के लिए जो करेन्सी रिजर्व था उसकी ओर से कुछ सोना बैंक आव् इंगलैण्ड में रखा गया, और यह विधान भी बना कि उस रिजर्व का एक हिस्सा लन्दन में कर्ज या उधार दिया जा सकेगा ।

१९०६—पहले यह व्यवस्था थी कि भारतवर्ष में सोना देनेवाले को सरकार रुपए दे देती । अब यह व्यवस्था कर दी गई कि सिर्फ सोने के ब्रिटिश सिक्के देनेवाले रुपए पा सकेंगे ।

१९०७—गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व की एक शाखा इस देश में खोली गई, जिसमें रुपए रखे जा सकते थे ।

१९०८—कलकत्ते में लन्दन पर १५$\frac{२९}{३२}$ पेंस की दर से हुंडियां बेची गई और लन्दन में गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व से उनका भुगतान किया गया ।

१९१०—दस और पचास रुपए के नोट अखिल भारतीय कर दिए गए और यह विधान बना कि सोने के ब्रिटिश सिक्कों के बदले नोट मिल सकेंगे ।

१९११—सौ रुपए के नोट भी अखिल भारतीय कर दिए गए ।

१९१३—भारतीय मुद्रा-प्रणाली की जांच के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ ।

अब फौलर-कमेटी की सिफारिशों को लेकर हम यह दिखाना चाहते हैं कि सरकारद्वारा स्वीकृत हो जाने पर भी वे कहां तक अमल में लाई गईं । सबसे पहले सोने के सिक्के की बात लीजिए ।

कमेटी ने सिफारिश की थी कि ब्रिटिश सॉवरेन लेने-देने को लोग बाध्य कर दिए जायं । १८९९ में एक ऐक्ट के द्वारा यह विधान कर दिया गया । कमेटी की दूसरी सिफारिश यह थी कि जिन शर्तों पर ब्रिटिश शाही टकसाल ऑस्ट्रेलिया में सॉवरेन की ढलाई होने देती है उन्हीं शर्तों पर यहां भी होने दे । ब्रिटिश सरकार की ओर से या उसके अर्थ-विभाग की ओर से इसका ऐसा विरोध हुआ कि यह सिफारिश सिफारिश ही रह गई । वास्तव में वह विरोध जाहिरा तौर पर नहीं किया गया । पर तरह-तरह की जो आपत्तियां पेश की गईं उनसे उनके असली भाव के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह सकता था ।

पहले तो शाही टकसाल ने यहां ढलाई की व्यवस्थादि के विषय में अड़चनें डालीं, पर जब इनसे भी काम बनते न देखा तब अन्त में ब्रिटिश अर्थ-विभाग ने यह कहना शुरू किया कि आखिर भारतवर्ष में सॉवरेन ढालने की ऐसी जरूरत ही कौन सी है? १८९९ से १९०३ तक पत्र-व्यवहार ही चलता रहा और अन्त में भारत-सरकार ने हार मानकर यह प्रयत्न ही छोड़ दिया। हां, उसकी ओर से यह बराबर कहा जाता रहा कि हमारा लक्ष्य ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और हम आशा करते हैं कि हम किसी-न-किसी दिन सोने का सिक्का यहां ढाल सकेंगे। यहां यह कह देना आवश्यक है कि ब्रिटिश सरकार या ब्रिटिश शाही टकसाल को हमारे मार्ग में रोड़े अटकाने का अवसर इसलिए मिल गया कि हम ब्रिटिश सॉवरेन की ढलाई की इजाजत मांगते थे। अगर हम अपना ही कोई सिक्का—जैसे मोहर या अशरफी—ढालने की बात करते, तो हमारे मार्ग में वह कठिनाई उपस्थित न होती।

१९१२ में सर विट्ठलदास ठाकरसी ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया कि भारतीय टकसालों में सोने के भारतीय सिक्के ढालने की व्यवस्था की जाय। उन्होंने अपने भाषण में कहा:—

"इस विषय में कभी कोई सन्देह नहीं रहा है कि हमारी मुद्रा नीति का लक्ष्य है सोने के सिक्के के साथ सोने का मान या स्टैण्डर्ड। ...... पर आज तक सोने के सिक्के की व्यवस्था न हो सकी। विलम्ब से इस देश की बड़ी हानि हो रही है और इस विषय की कठिनाई भी बढ़ती जा रही है। कहा जाता है कि इस देश के लोग इतने गरीब हैं कि यहां सोने के सिक्के चलाना बुद्धिमता का काम नहीं। पर यह दलील लचर है। सोने के स्टैण्डर्ड के लिए जब यहां के लोग गरीब नहीं तब, सोने के सिक्के के लिए क्योंकर हो सकते हैं? इस समय तो यह अवस्था है कि हमारी सोने से जो भलाई हो सकती है, नहीं हो रही, पर जो बुराई हो सकती है वह हो रही है।"

श्रीयुत गोखले ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि मुद्रा-

प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसका संचालन प्राकृतिक रीति से होता रहे—जिसमें सरकार का हस्तक्षेप या दखल नहीं के बराबर हो; और वह प्रणाली तभी हो सकती है जब फौलर-कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार उसका आधार सोना कर दिया जाय।

सरकार की ओर से कहा गया कि अवश्य ही सारे प्रश्न पर फिर से विचार करने की जरूरत है और हम इसे भारत-सचिव के सामने रखने जा रहे हैं। इसपर सर विट्ठल दास ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया।

भारत-सरकार ने भारत-सचिव को लिखा, और भारत-सचिव को फिर ब्रिटिश सरकार के अर्थ-विभाग का दरवाजा खटखटाना पड़ा। पर इसकी मनोवृत्ति या भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। फिर वही किस्सा शुरू हुआ। कहा गया कि भारत-सरकार इस झमेले में क्यों पड़ना चाहती है ? सॉवरेन ढालने के लिए हमारी देखरेख जरूरी है। अगर भारत-सरकार की टकसालों का प्रबन्ध हमने हाथ में ले लिया तो यह असुविधाजनक होगा, और अगर सॉवरेन ढालने के लिए हमने अपनी शाखा वहां खोल दी तो इसमें खर्च बहुत ज्यादा पड़ेगा। भारत-सचिव की अपनी राय सोने के सिक्के के पक्ष में नहीं थी पर भारत-सरकार का आग्रह देखकर उन्होंने लिखा कि ब्रिटिश अर्थ-विभाग की शर्तें आपको मंजूर न हों तो मैं यह इजाजत देने को तैयार हूं कि आप दस रुपए की अपनी मोहर ढालना शुरू कर दें। भारत-सरकार इस पर राजी हो गई। पर भारत-सचिव ने लिखा कि कुछ भी करने से पहले सर्वसाधारण की राय दर्याफ्त कर लेना जरूरी है। भारत-सरकार को यह बुरा-सा लगा और उसने जवाब दिया कि व्यवस्थापिका सभा में, और उसके बाहर, इस विषय की कितनी ही बार आलोचना हो चुकी है और यह स्पष्ट हो चुका है कि यहां का लोकमत जोरों से इस प्रस्ताव का समर्थन करता है; बल्कि यहां तो यह पूछा जाता है कि जो इजाजत कनाडा और ऑस्ट्रेलिया को मिल चुकी है वह भारत को क्यों नहीं मिल रही है ? १४ फरवरी १९१३ को भारत-सचिव ने सूचित किया कि जो शाही कमीशन नियुक्त होने जा रहा है वह इस विषय का भी अनुसन्धान करेगा। भारत-सरकार अब और कर ही क्या सकती थी ? फौलर-कमेटी की जो सिफारिश

भारत-सचिव द्वारा स्वीकृत हो चुकी थी उसपर १४ साल बाद अब दूसरा कमीशन अपनी राय देने जा रहा था कि उसे अमल में लाना कहां तक ठीक होगा !

रुपए का वजन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १८० ग्रेन (३/८ औंस) होता है, जिसमें खालिस चांदी इस समय १६५ ग्रेन थी। रुपए की नकली कीमत १६ पेंस थी, और असली कीमत इससे बहुत कम। जब चांदी का दाम लन्दन के बाजार में २४ पेंस होता तब सरकार को एक रुपया ढालने में प्रायः ९.१८१ पेंस खर्च पड़ता। जब चांदी का दाम ३२ पेंस होता तब यह खर्च १२.२४१ पेंस बैठता। असली और नकली कीमतों के बीच जो फर्क था उसे सरकार अपना मुनाफा समझती थी।

फौलर-कमेटी की सिफारिश थी:—

"रुपयों की ढलाई से जो मुनाफा हो वह सरकार की साधारण आय में शामिल न किया जाय। सोने में उसका एक खास रिजर्व रखा जाय और यह रिजर्व पेपर करेन्सी रिजर्व या सरकारी रोकड़ से बिलकुल अलग हो।"

कमेटी की मन्शा यह थी कि यह रिजर्व सोने के रूप में रखा जाय, और भारतवर्ष में ही रखा जाय। पर भारत-सचिव के सलाहकारों ने सोने में ऐसे कागज को भी शरीक बताया जिसका तबादला सोने से हो सकता था। भारत-सरकार के तत्कालीन अर्थ-सदस्य सर एडवर्ड लॉ भी इसी मत के थे। हां, लॉर्ड कर्जन स्वयं अर्थ की ऐसी खैंचातानी के विरुद्ध थे, और उन्होंने भारत-सचिव को लिखा भी कि हमें कोई ऐसी कार्रवाई नहीं करनी चाहिए जिससे किसी प्रकार की गलतफहमी फैले या लोगों का विश्वास उठ जाय। पर भारत-सचिव ने उनकी एक न सुनी, और सरकार को आदेश दिया कि रुपयों की ढलाई से जो मुनाफा हो वह आप नियमित रूप से हमारे पास भेज दिया करें। इस प्रकार गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व की स्थापना लन्दन में हुई। और उसमें सोने के अलावा स्टर्लिंग कागज भी रहने लगे।

१९१३ वाले शाही कमीशन ने कई गवाहों से इस विषय पर प्रश्न किए, और यह जानना चाहा कि सोने से फौलर-कमेटी का सचमुच अभिप्राय

क्या था। ऐसे गवाहों में मि० मार्चेण्ट, मि० कोल और मि० रास के नाम उल्लेखनीय हैं। मि० मार्चेण्ट स्वयं फौलर-कमेटी के सदस्य रह चुके थे। उन्होंने कहा कि "अब इस विषय में लोगों के विचार बदल गए हैं और मैं स्वयं सोने की जगह स्टर्लिंग के व्यवहार का समर्थन करूंगा। पर जिस समय की यह बात है उस समय तो सोने से अभिप्राय वास्तविक सोने से ही था।" मि० कोल बैंक आव् इंगलैण्ड के गवर्नर रह चुके थे। उन्होंने भी कहा कि प्रारम्भ में यही विचार था कि सारा-का-सारा रिजर्व सोने में रखा जाय। मि० रास बंगाल चेम्बर के प्रतिनिधि-स्वरूप गवाही देने गए थे। उनका वक्तव्य यह था:—

"फॉलर-कमेटी की रिपोर्ट की भाषा बहुत स्पष्ट है। उसकी सिफारिश थी कि यह रिजर्व पेपर करेन्सी रिजर्व या सरकारी रोकड़ से बिलकुल अलग रखा जाय। इसका अर्थ यही हो सकता है कि रिजर्व इसी देश में रहनेवाला था। इंगलैण्ड में रखने की मन्शा होती तो यह क्यों लिखा जाता कि 'पेपर करेन्सी रिजर्व और सरकारी रोकड़ से बिलकुल अलग?' वहां तो योंही यह रिजर्व अलग रहता। रिजर्व में खाली सोना रहे या नहीं, इस सम्बन्ध में मैं कमेटी की इस सिफारिश को निर्णयात्मक समझता हूं—'एक्सचेंज का रुख गिरने की ओर हो तो सरकार अपने पास के सोने का कुछ हिस्सा विलायत भेज दे।' मैं तो इसका अर्थ यही लगा सकता हूं कि जब सरकार के पास इस देश में सोना हो तब वह उसे विलायत जाने दे। फिर कमेटी की दूसरी सिफारिश यह थी कि जब सरकार के पास रिजर्व में काफी सोना हो जाय और उसके खजाने में भी सोना हो, तब वह भारतवर्ष में अपनी देनदारी सोने में चुका सकती है।"

अर्थ का अनर्थ कर—सत्य और न्याय की हत्या कर—भारत-सचिव ने इस देश का सोना विलायत मंगाना और उसका मनमाना उपयोग करना शुरू कर दिया। इस धींगाधींगी ने भारत-सरकार को भी हैरान कर दिया।

१९०७ में लॉर्ड इंचकेप की अध्यक्षता में एक कमेटी इस देश में रेलों की उन्नति के लिए रुपए जुटाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठी।

इसकी सिफारिश हुई कि उस साल रुपयों की ढलाई के मुनाफे* का डेढ़ करोड़ रुपया रेलों के सुधार में लगा दिया जाय। पर भारत-सचिव इससे भी दो कदम आगे गए और उन्होंने निश्चय किया कि जब तक गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व ३० करोड़ रुपए का नहीं हो जाता तब तक हर साल मुनाफे की आधी रकम रेलों में लगती रहे! उनका विचार शायद यह था कि रिजर्व ३० करोड़ हो जाने पर सारी रकम उस काम में लगा दी जाय। भारतवर्ष में उनके इस निर्णय से बड़ा असन्तोष फैला और इसका काफी विरोध किया गया।

भारत-सरकार ने भी २४ जून १९०७ को तार-द्वारा निवेदन किया कि रिजर्व का सोना अभी ऐसे काम में न लगाया जाय; पर भारत-सचिव ने उसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और डेढ़ करोड़ से ऊपर रुपया रेलों में लगा ही दिया। साथ ही यह कहा कि जो निर्णय हो चुका है उसीके अनुसार आगे भी उपयोग होता रहेगा।

भारत-सरकार ने एक्स्चेंज के गिरने की आशंका प्रकट करते हुए कहा था कि रिजर्व को ऐसी परिस्थिति के लिए अक्षुण्ण रखा जाय। इसके उत्तर में भारत-सचिव ने लिखा था कि "डरने की कोई बात नहीं; व्यापार की वर्तमान अवस्था और अपने पास के साधनों को देखते हुए मैं इस आशंका को निर्मूल समझता हूँ।"

पर जो आसमान इतना साफ नजर आता था उसीमें घनघोर घटा को उमड़ते देर न लगी। १९०७ में यहां अनावृष्टि रही। कुछ महीने बाद अमेरिका में एक भीषण आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। यहां से एक्स्पोर्ट बहुत कम हुआ। मांग इस समय रुपए की नहीं, स्टर्लिंग की थी; क्योंकि

---

* दर असल यह कोई मुनाफा नहीं था। जैसे कागज के नोटों की पुश्ती के लिए करेन्सी रिजर्व था, वैसे ही चांदी के नोटों की पुश्ती के लिए गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व। रुपया अपनी नकली कीमत का कुछ हिस्सा अपने साथ लिए चलता था, पर बाकी कीमत की पुश्ती के लिए रिजर्व में सोना रखना जरूरी था।

कई कारणों से लोग यहां से रुपया विलायत भेज रहे थे। एक्सचेंज गिरने लगा, फिर भी रुपए के बदले सरकार न सोना देने को तैयार थी, न स्टर्लिंग। बहुत कुछ आन्दोलन के बाद वह स्टर्लिंग देने को तैयार हुई और भारत-सचिव पर उलटी हुण्डी बेचने लगी। एक्सचेंज तब तक गिर कर १५$\frac{११}{१६}$ पेंस हो चुका था। अब वह ऊपर उठने लगा। सरकार फिर एक्सचेंज के लिए सोना देने को भी तैयार हो गई। सितम्बर १९०८ तक परिस्थिति सुधर चुकी थी, इसलिए अब सरकार ने स्टर्लिंग बेचना बन्द कर दिया। इस संकट के कारण विलायत में गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व से ८,०५८,००० पौंड [१ पौंड = १५ रुपया] उठाना पड़ा। जिस मुद्रा-प्रणाली की फौलर-कमेटी ने सिफारिश की थी, अगर वह होती तो ज्योंही एक्सचेंज एक हद से नीचे गिरता, लोगों को रिजर्व से सोना मिलने लगता और वे उसे विलायत भेज-कर अपना देना चुकाने लगते। लेहाजा एक्सचेंज एक हद से नीचे न गिरता। पर जो मुद्रा-प्रणाली यहां प्रचलित थी उसमें ऐसा कोई विधान नहीं था। सोना या स्टर्लिंग देना-न-देना सरकार की मर्जी की बात थी। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व के पैसे से विलायत में स्टर्लिंग कागज खरीद कर रिजर्व में रख दिए गए थे। जब स्टर्लिंग की मांग होने लगी तब भारत-सचिव ने कुछ समय तक उसको पूरा नहीं किया। बाजार की हालत खराब थी। भारत-सचिव को डर लगा कि बड़े परिमाण में कागज बेचने निकले तो मालूम नहीं दाम कहां तक गिर पड़ेंगे।

१ अप्रैल १९०९ को भारत-सरकार ने फिर भारत-सचिव को लिखा कि रुपयों की ढलाई का मुनाफा पूरा-का-पूरा रिजर्व में रखा जाय और इसका काफी बड़ा हिस्सा सोने में रहे। उनके उस पत्र से कुछ अवतरण यहां देने लायक है :—

"रेल की उन्नति हम भी देखना चाहते हैं, पर हमारा विश्वास है कि देश की भलाई की दृष्टि से उसकी मुद्रा-प्रणाली की मजबूती इस उन्नति से कहीं ज्यादा जरूरी है।

"जिस समय रिजर्व की सृष्टि हुई, लॉर्ड कर्जन की सरकार की इच्छा थी कि यह सोने के रूप में यहीं रखा जाय। आपके पूर्ववर्ती भारत-सचिव

ने यह न होने दिया और रिजर्व ऐसे कागज या सिक्यूरिटीज़ में रखा गया, जिनकी कीमत इधर काफी गिर गई है।

"हम यह नहीं कहते कि सारा रिजर्व सोने के रूप में यहां रखा जाय, यद्यपि यह बता देना हमारा कर्तव्य है कि इस देश में इस बात की जोरों से मांग है; पर हमारा यह प्रस्ताव जरूर है कि रिजर्व का काफी बड़ा भाग वहां सोने में रखा जाय। यह सच है कि १९०८ में रिजर्व के कागज या सिक्यूरिटीज बेचने से जो नुकसान हुआ है उससे अधिक ब्याज से आमदनी हो चुकी है। पर ऐसा संयोग हो सकता है कि जिस समय हमारे लिए सिक्यूरिटीज बेचना जरूरी हो उस समय साम्राज्य का हित उन्हें न बेचने में हो। परिस्थिति इतनी गम्भीर न भी हो, तो भी कागज या सिक्यूरिटीज में रखने से रिजर्व के स्वच्छन्द उपयोग में बाधा उपस्थित हो सकती है। इस विषय पर यहां के सभी पढ़े-लिखे लोग सहमत हैं कि जिस रूप में यह रिजर्व इस समय है वह बहुत खतरनाक है।

"अक्सर यह पूछा जाता है कि जब दूसरे देश अपने-अपने रिजर्व को—जो उनकी साख की भित्ति या आधार है—सोने के रूप में रखते हैं तब हम थोड़े से ब्याज के लिए अपने रिजर्व को सिक्यूरिटीज के रूप में रखकर इतनी बड़ी जोखिम क्यों उठाते हैं? इस समालोचना में बहुत कुछ सार है, और यह आपके ध्यान देने योग्य है। हमारा खयाल है कि अगर आप रिजर्व में अब और कागज या सिक्यूरिटीज रखना बन्द कर दें तो इसका फल बहुत अच्छा होगा।"

पर भारत-सचिव को यह स्वीकार न हुआ और उन्होंने सरकार को उत्तर देते हुए लिखा कि सिक्यूरिटीज बेचने की जिम्मेवारी हमारी है, और चाहे जैसी भी परिस्थिति होगी, हम लोग उसका सामना कर लेंगे। इस सम्बन्ध में मि० कोल की सम्मति उद्धृत करने योग्य है :—

"१९०७–०८ में आर्थिक संकट का केन्द्र न्यूयार्क न होकर लन्दन होता, तो भारत-सरकार के लिए स्टर्लिंग कागज या सिक्यूरिटीज बेचना असम्भव हो जाता। असम्भव से अभिप्राय यह है कि दाम जो मिलना चाहिए, नहीं मिलता—खरीदार जो कुछ देता वही लेना पड़ता।"

भारत-सचिव के निर्णय के आगे भारत-सरकार ने सिर झुकाया, पर इतना कहे विना उससे न रहा गया कि "आपका यह निर्णय हम खेद के साथ स्वीकार करते हैं।" भारत-सचिव ने केवल १,०००,००० पौंड सोने के रूप में रखना मंजूर किया था।

१९०६ में गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व की एक शाखा इस देश में खोली गई जिसमें छः करोड रुपए रखने की व्यवस्था की गई। यह कुछ ऊटपटांग-सी बात थी कि जिसका नाम 'स्वर्णनिधि' हो उसमें रुपए रखे जायं। पर भारत-सचिव यहां भी एक चाल चल रहे थे। करेन्सी रिजर्व में यह कानूनी व्यवस्था थी कि लन्दन में एक हद से ज्यादा रकम सोने में ही रखी जा सकती थी। मान लीजिए कि रुपयों की मांग हुई और लन्दन में भारत-सचिव को सोना मिला। अगर ये रुपए करेन्सी रिजर्व से दिए गए तो वह सोना उसी रिजर्व की सम्पत्ति हुई, और भारत-सचिव को उस सोने के साथ मनमानी करने का अधिकार नहीं था। पर गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व में कानून का कोई ऐसा नियन्त्रण नहीं था; भारत-सचिव जो चाहते, कर सकते थे। इसलिए इस रिजर्व की यह शाखा उनके सुभीते के लिए खोली गई। छः करोड़ रुपए तक इस शाखा से यहां दिए जा सकते थे, और इनके बदले विलायत में जो सोना मिलता उसका भारत-सचिव जिस प्रकार चाहते, उपयोग कर सकते थे।

३१ मार्च १९१३ को गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व इस रूप में था:—

	पौंड
सिक्यूरिटीज या कागज (बाजार दर से)	१५,९४५,६६९
रकम, जो थोड़े समय के लिए उधार दी गई थी	१,००५,६६४
	१६,९५१,३३३
बैंक ऑव् इंगलैण्ड में रखा हुआ सोना	१,६२०,०००
	१८,५७१,३३३
भारतीय शाखा में छः करोड़ रुपए, १६ पेंस की दर से	४,०००,०००
	२२,५७१,३३३ पौंड

उस समय गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व-सम्बन्धी नीति यह थी कि जब यह २५,०००,००० पौंड हो जाय तब इस विषय पर फिर से विचार हो कि रुपयों की ढलाई का मुनाफा और सूद से होनेवाली आमदनी सब-की-सब इस रिजर्व में जमा की जाय या नहीं।

३१ मार्च १९१३ को पेपर करेन्सी रिजर्व का यह हाल था कि चलन में कुल नोट ६८.९७ करोड़ रुपए के थे। इनकी पुश्ती के लिए रिजर्व में ये चीजें थीं:—

भारतवर्ष में रुपए	१६.४५	करोड़	रुपए
" सोना	२९.३७	"	"
लन्दन में सोना	९.१५	"	"
लन्दन में सिक्यूरिटीज	४.००	"	"
भारतवर्ष में "	१०.००	"	"
	६८.९७	करोड़	रुपए

१८६२ में चलन में कुल नोट ३.६९ करोड़ थे। १८९० में यह तादाद १५.७७ करोड़ हो चली थी। नोटों के प्रचार में विशेष वृद्धि चांदी की टकसाल बन्द हो जाने के बाद हुई। इधर उनकी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विधान में कई संशोधन हुए।

१८७५ से पहले रिजर्व में कुछ सोना रहता था, पर चांदी के मुकाबले जब सोना महंगा हो चला तब उसका रिजर्व में आना बन्द हो गया। १८९३ में सोने और रुपए के बीच की दर बांधी गई और सरकार सोने के बदले रुपए देने को तैयार हुई। पर चूंकि सोने की कीमत बाजार में ज्यादा थी, कोई रुपए लेने के लिए सरकार के पास अपना सोना न ले जाता था। १८९८ में जब एक्सचेंज १६ पेंस हो गया तब लोग सरकार को सोना देकर उससे रुपए लेने लगे। करेन्सी रिजर्व में इस प्रकार सोना इकट्ठा होने लगा। १९०० के आरम्भ में प्रायः ७॥ करोड़ रुपए का सोना वहां इकट्ठा हो चुका था।

सोने को चलन में लाने के लिए कुछ प्रयत्न किया गया, पर वह विशेष सफल न हो सका। उस समय भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में अकाल पड़ा हुआ था और आर्थिक अवस्था सोने के चलन के अनुकूल नहीं थी। पर जब सोना चलन से लौट कर सरकारी खजाने में आने लगा तब भारतवर्ष में उसके चलन के विरोधी इसका यह अर्थ लगाने लगे कि यहां के लोग गरीब होने के कारण सोने का व्यवहार नहीं कर सकते; उनके लिए रुपया ही विशेष उपयुक्त है, इत्यादि। वास्तव में उस साल यहां की अवस्था सोने के चलन के प्रतिकूल थी। इसके बाद फिर कभी सरकार की ओर से सोने को चलन में लाने के लिए कोई खास उद्योग नहीं किया गया।

आरम्भ में करेन्सी रिजर्व का सारा सोना इसी देश में रहता था। १८९८ में अस्थायी रूप से कुछ सोना लन्दन में रखा गया। पर यह व्यवस्था कुछ ही समय बाद स्थायी कर दी गई। कारण यह बताया गया कि वहां चांदी खरीदने के लिए सोना रखना जरूरी था। बाद में यह विधान बना कि करेन्सी रिजर्व का सोना सरकार, लन्दन में या इस देश में, जहां चाहे, रख सकती थी। भारत-सचिव इस रिजर्व का भी काफी सोना लन्दन में रखने लगे।

१९०५ के विधानद्वारा सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह करेन्सी रिजर्व का एक निश्चित भाग स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज में रख सकती है। पहले इसकी हद दो करोड़ रुपए थी। १९११ में वह चार करोड़ कर दी गई। सारा हिस्सा, जो सिक्यूरिटीज में यहां और लन्दन में रखा जा सकता था, १४ करोड़ था।

गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व और करेन्सी रिजर्व के अलावा भी सरकार के हाथ में कुछ रुपए रहते थे, जिसे सरकारी रोकड़ कहते थे। यह रोकड़ भारतवर्ष और लन्दन, दोनों जगह रखी जाती थी।

व्यवस्था यह थी कि लन्दन में कम-से-कम ४,०००,००० पौंड रहे और भारतवर्ष में कम-से-कम ८,०००,००० पौंड। नए साल के आरम्भ में भारतवर्ष में प्रायः १२,०००,००० पौंड रखना पड़ता था, अर्थात् सब

मिला कर १६,०००,००० पौण्ड। वास्तव में कब कहां कितनी रोकड़ थी, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा :—

३१ मार्च	लन्दन में पौंड	भारतवर्ष में पौंड	कुल जोड़ पौंड
१९०८	४,६०७,२६६	१२,८५१,४१३	१७,४५८,६७९
१९०९	७,९८३,८९८	१०,२३५,४८३	१८,२१९,३८१
१९१०	१२,७९९,०९४	१२,२३५,४२८	२५,०३४,५२२
१९११	१६,६९६,९९०	१३,५६६,९२२	३०,२६३,९१२
१९१२	१८,३९०,०१३	१२,२७९,६८९	३०,६६९,७०२

स्पष्ट है कि रोकड़ बाकी जितनी होनी चाहिए थी उससे कहीं ज्यादा थी, और इसका कारण यह था कि लन्दन का हिस्सा बढ़ते-बढ़ते प्रायः तिगुना होने लगा था। जहां ४,०००,००० पौंड पर्याप्त था वहां १८,०००,००० पौंड से भी अधिक जमा रहता था।

आखिर इतना रुपया आता कहां से था? इसका उत्तर है—बजट की बचत से। हर साल व्यय से आय अधिक होती, और जो बचत होती वह लन्दन मंगा ली जाती।

१८९८-९९ से बचत होना शुरू हुआ था, और प्रथम महासमर के आरम्भ तक होता ही गया। पहले दस वर्षों में जो बचत हुई वह ३७½ करोड़ रुपए थी। १९१० और १९१४ के बीच २० करोड़ की और बचत रही। यह भारत-सरकार के बजट की बात है। प्रांतीय सरकारों की बचत इसमें शामिल नहीं है।

श्रीयुत गोखले के बजट-सम्बन्धी भाषणों में सरकार की इसलिए काफी निन्दा मिलती है कि वह हर साल टैक्स के रूप में जरूरत से ज्यादा लोगों से वसूल करती, और अन्धाधुन्ध खर्च करने के बाद जो कुछ बच रहता उसे शिक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी कामों में न लगा कर और कामों में लगा देती। बजट बनाते समय आय का तखमीना जानबूझ कर कम किया जाता। खर्च पर किसी प्रकार का नियंत्रण था ही नहीं। यूरोपियन कर्मचारियों की संख्या बढ़ती ही जाती थी; पर यह सब होने पर भी जब बचत होती और सरकार से उसका कुछ हिस्सा शिक्षा-प्रचार या स्वास्थ्य-सुधार जैसे

कामों के लिए मांगा जाता, तब उत्तर मिलता कि इसमें से कुछ भी मिलना असम्भव है !

श्रीयुत गोखले ने अपने एक भाषण में दिखाया था कि १८९८-९९ और १९०८-०९ के बीच भारत-सरकार का खर्च—समान की तुलना समान से करने पर—बीस करोड़ रुपए बढ़ गया था। इस बीच में कुछ टैक्स माफ कर दिए गए थे सही, पर उसका असली कारण यह था कि एक्सचेंज ऊंचा होने के कारण विलायत जानेवाली रकम में काफी बचत होने लगी थी। ५ मार्च १९१० को श्रीयुत गोखले का बड़ी व्यवस्थापिका सभा में एक भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने कहा :—

"प्रायः छः साल से मैं लगातार कोशिश करता आ रहा हूं कि सरकार को जो बचत होती है वह प्रांतीय सरकारों को सफाई-जैसे काम पर खर्च करने के लिए दे दी जाय। दो साल की बात है कि तत्कालीन अर्थ-सदस्य सर एडवर्ड बेकर ने म्यूनिसिपैलिटियों द्वारा सफाई पर खर्च होने के लिए करीब पचास लाख रुपए दिए थे। मेरी सारी अपीलों का कोई नतीजा निकला तो वही ! उसको छोड़ दें तो कहना होगा कि मेरा प्रयत्न निष्फल रहा।"

सरकार का कहना था कि भारतवर्ष-जैसे देश में आय-व्यय का तखमीना बहुत कठिन काम है—हमें बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है; इस सावधानी के कारण अगर बचत रह जाती है तो हम इसके लिए अपराधी नहीं ठहराए जा सकते, पर उस बचत का उपयोग सबसे पहले कर्ज घटाने के लिए होना मुनासिब है। कर्ज लेने-देने का काम विलायत में पड़ता, इसलिए यह रकम भी वहीं भेज दी जाती। अगर कुछ समय के लिए इसकी आवश्यकता नहीं भी हुई, तो कहा जाता कि इसे व्यापारियों को उधार देकर कुछ ब्याज उपजाया जा सकेगा।

लन्दन में भारत-सचिव का रुपया बैंक आव् इंगलैंड में जमा रहता था। वह इस बैंक में कम-से-कम पांच लाख पौंड बराबर रखने को बाध्य थे। असलियत में वह रखते इससे ज्यादा थे। इस रुपए पर वह कुछ भी ब्याज पाने के हकदार नहीं थे। पर यह बैंक, इंडिया ऑफिस (भारत-सचिव

का विभाग) का रुपया-पैसा जमा रखने के अलावा भी उसका कुछ काम कर दिया करती—इसके लिए इसे जो कमीशन या पुरस्कार मिलता वह साल में ६६,००० पौंड होता था। सब मिला कर इस बैंक को इंडिया ऑफिस से साल में प्राय: ८६,००० पौंड अर्थात् १२,९०,००० रुपए का लाभ था। चेम्बरलेन-कमीशन के सामने इंडिया ऑफिस की ओर से आने वाले गवाहों ने भी स्वीकार किया कि यह रकम बहुत बड़ी थी और भारतवर्ष को यह सौदा बेहद महंगा पड़ रहा था। पर उनका कहना था कि इंडिया ऑफिस लाचार है। कानूनन वह दूसरी बैंक से अपना काम करा नहीं सकता, और जब बैंक आव् इंगलैण्ड से अनुनय-विनय करता है कि कमीशन घटाइए तब बैंक साफ इनकार कर देती है। वास्तव में बैंक आव् इंगलैण्ड इंडिया ऑफिस की बेबसी का नाजायज फायदा उठा रही थी।

इंडिया ऑफिस लन्दन में रुपया उधार देने का काम करता था। कहा जाता है कि इस विषय में वह ईस्ट इंडिया कम्पनी की बताई हुई राह पर चल रहा था।

इंडिया ऑफिस की ओर से एक खास दलाल लेन-देन के इस काम को देखता था। ऐसे लोगों की एक लिस्ट रखी जाती, जिन्हें रुपया उधार देने में कोई जोखिम नहीं थी। अगर कोई व्यक्ति या फर्म अपना नाम इस लिस्ट पर चढ़ाना चाहता तो उसे दरख्वास्त करनी पड़ती। यह दरख्वास्त इंडिया ऑफिस की फाइनेंस-कमेटी की सिफारिश हो जाने पर मंजूरी के लिए भारत-सचिव के पास जाती। जिनकी साख ऊंची होती वे ही इस लिस्ट पर आ सकते थे।

जिस फाइनेंस-कमेटी का यहां जिक्र किया गया है उसके चेयरमैन या अध्यक्ष इधर कुछ वर्षों से लन्दन के लॉर्ड इंचकेप या सर फेलिक्स शुस्टर जैसे बड़े व्यापारी होते आ रहे थे। लेन-देन के काम में इस चेयरमैन का बहुत बड़ा हाथ रहता, और भारत-सचिव प्राय: इन्हीं के कहने के अनुसार चलते थे।

कर्ज सिक्यूरिटीज पर दिया जाता था, पर कुछ खास बैंकों को बिना जमानत के ही दे दिया जाता। बैंक आव् इंगलैण्ड की ओर से गवाही देने

वाले मि० कोल ने चेम्बरलेन-कमीशन से कहा था कि उनके यहां यह प्रथा नहीं थी, और बड़ी-से-बड़ी बैंक को भी सिक्यूरिटीज देने पर ही रुपया उधार मिल सकता था। कर्ज लेनेवालों में दो बड़ी बैंकें ऐसी थीं, जिनसे लॉर्ड इंचकेप और सर फेलिक्स शुस्टर स्वयं सम्बद्ध थे। उस समय ऐसे समालोचकों की कमी नहीं थी, जिन्होंने इन दोनों पर पक्षपात का दोषारोपण करते हुए यह कहा कि इनका एक हाथ कर्ज देता था, और दूसरा लेता था। पर लॉर्ड इंचकेप ने अपनी और सर फेलिक्स शुस्टर की सफाई में कहा कि उन्होंने उन बैंकों के साथ जरा भी रिआयत नहीं की थी।

इण्डिया ऑफिस के दलाल मि० होरेस स्कॉट थे। उनसे पहले उनके पिता इस पद पर रह चुके थे। व्याज से जो आमदनी होती उसपर पांच प्रतिशत के हिसाब से मि० स्कॉट को दलाली मिलती थी। १९१०–११ में उनकी दलाली १६,००० पौंड अर्थात् २,४०,००० रुपए हुई थी। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स ने लिखा था—"जब पहले-पहल यह मालूम हुआ कि बड़े लाट को छोड़,भारत-सरकार की ओर से सबसे अधिक वेतन या पुरस्कार पानेवाला इण्डिया ऑफिस का यह दलाल है तब लोग आश्चर्य-चकित हो गए। मजा यह कि इस दलाल को अपना पूरा समय इण्डिया ऑफिस के काम के लिए नहीं लगाना पड़ता; उसका अपना भी व्यवसाय है, और वह उसे भी देखता-भालता है।"

आन्दोलन उठने पर मि० स्कॉट की दलाली घटा दी गई। फिर भी इससे उनकी आय आठ हजार पौंड अर्थात् १,२०,००० रुपए के लगभग थी। भारत-सरकार की ओर से स्टॉक (कागज) की खरीद-बिक्री करने के लिए उन्हें १,५०० पौंड अलग मिलता था। समालोचकों का कहना था—और बहुत ठीक कहना था कि घटा देने पर भी इण्डिया ऑफिस के दलाल की दलाली बहुत ज्यादा थी। लेन-देन करोड़ों का होता था, और ब्याज की दर बाजार की हालत पर निर्भर करती थी। दलाल की कार्यकुशलता से आमदनी में इतना ज्यादा फर्क नहीं पड़ सकता था कि उसे इस पैमाने पर पुरस्कार दिया जाय। पर इण्डिया ऑफिस ऐसी सलाह पर कब ध्यान देनेवाला था ?

भारतवर्ष का जो रुपया लन्दन के व्यापारियों को इस प्रकार उधार दिया जाता वह कभी-कभी २७ करोड़ के करीब पहुँच जाता था। व्याज की दर कभी-कभी इतनी नीची होती कि बैंक आव् इंगलैण्ड भी हैरान हो जाती। इस बात को सब स्वीकार करते थे कि लन्दन का सराफा और लन्दन का व्यापार, दोनों को इण्डिया ऑफिस की इस महाजनी से बहुत लाभ था।

पर भारतवर्ष का रुपया भारतवर्ष के काम न आ सकता था। यहां सरकार की नीति इतनी संकीर्ण थी कि बड़ी-से-बड़ी बैंक के लिए भी उधार लेना लाभप्रद नहीं था। १८९९ और १९०६ के बीच कुल छः बार बैंकों ने सरकार से कर्ज लिए—प्रत्येक बार २० से ४० लाख रुपए के बीच। १९०६ और १९१३ के बीच लेन-देन का काम हुआ ही नहीं। व्यापारियों को यहां प्रायः ऊँचे व्याज पर रुपया मिलता। ८ प्रतिशत यहां के लिए साधारण दर थी। जब कभी लोग सरकार से कहते कि रुपया सस्ता करके वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धंधों की उन्नति में सहायता पहुँचाइए तब उन्हें उत्तर मिलता कि "यह सहायता पहुँचाना हमारा काम नहीं। बाजार को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए, और भारतीय पूंजी ऐसे कामों में लग सके, इसका प्रबन्ध करना चाहिए।" भारतवर्ष का धन लन्दन के लिए था, भारतवर्ष के लिए नहीं!

भारत-सचिव भारत-सरकार पर जो हुण्डी किया करते वह 'कौंसिल बिल' कहलाती थी। भारतवर्ष में आयात (इम्पोर्ट) की अपेक्षा यहां से निर्यात (एक्स्पोर्ट) अधिक होने के कारण स्टर्लिंग की अपेक्षा रुपए की मांग प्रायः अधिक रहती थी। रुपए चाहनेवाले लोग विलायत में भारत-सचिव को सोना या स्टर्लिंग देकर उससे भारत-सरकार के नाम हुण्डी ले सकते थे और हुण्डी भुना कर उसके रुपए कर सकते थे। इसके लिए कायदा यह था कि रुपए चाहनेवालों को टेण्डर देना पड़ता—अर्थात् यह बताना पड़ता कि वे किस दर से उसे खरीदने को तैयार हैं। फिर भारत-सरकार की ओर से यह सूचित किया जाता कि किसकी दर मंजूर हुई है और किसको कितने की हुण्डी मिलेगी। तार-द्वारा जो हुण्डी की जाती उसके लिए

भारत-सचिव १५ १५/१६ पेंस से नीची रेट को किसी भी हालत में मंजूर करने को तैयार नहीं थे।

उस समय रुपए प्राप्त करने के दो तरीके थे; एक तो यह कि भारत-सरकार का यहां सोना दिया जाय और एक्सचेंज-दर से बदले में रुपए लिए जायं, दूसरा यह कि भारत-सचिव से हुण्डी खरीदकर उसके रुपए कर लिए जायं।

विलायत से या दूसरे देश से सोना लाने में कुछ खर्च जरूरी था। विलायत से यह खर्च (जहाज का भाड़ा, व्याज की हानि और बीमा) १६ पेंस (सोना) पीछे १/२ पेनी पड़ता था—अर्थात् सोना लानेवाले को एक रुपए की कीमत १६ १/२ पेंस पड़ती थी । ऐसी हालत में उसे अगर हुण्डी-द्वारा एक रुपया १६ १/१६ पेंस में ही मिल जाता तो वह कब सोना खरीदने और यहां भेजने वाला था ? भारत-सचिव की नीति बराबर यह रहती थी कि कम-से-कम सोना भारतवर्ष जाय। इसलिए वह इस हुण्डी की दर प्रायः इतनी नीची रखते थे कि लोग रुपए के लिए सोने के बजाय इसी हुण्डी का उपयोग करें । उन्हें विलायत में अपने काम के लिए रुपए-पैसे की जरूरत हो या न हो, वह हुण्डी बेचते ही रहते थे, बल्कि उन्होंने यह ऐलान कर रखा था कि १६ १/२ पेंस की दर से तो कोई जितने की चाहे, हुण्डी ले सकता है। भारत-सचिव सोने का लन्दन से यहां आना रोक कर ही सन्तुष्ट नहीं थे। और देशों से भी जब सोना यहां आने लगता तब वह लेनेवाले को ऐसी दर से हुण्डी बेच देते कि उसके लिए सोना लन्दन भेज देना और हुण्डी भुनाकर यहां रुपए कर लेना अधिक लाभदायक हो जाता।

भारत-सचिव की ओर से कहा जाता कि "आखिर सोने को एक-न-एक दिन लन्दन आना ही है—रुपयों की खातिर चांदी खरीदने के लिए या एक्सचेंज को गिरने से बचाने के लिए—फिर क्यों उसके जाने-आने में पैसे का अपव्यय होने दिया जाय ? बेहतर यह है कि सोना लन्दन में ही बना रहे और उसे उधार देकर भारत-सचिव कुछ व्याज भी उपजाते रहें।" इसका जवाब यह था :—

(१) रुपयों के लिए चांदी खरीदने की जरूरत इसलिए पड़ती थी कि हमारे शासक हमें वह सच्चा गोल्ड स्टैण्डर्ड (सोने का मान) देने को तैयार नहीं थे, जिसकी सिफारिश फौलर-कमेटी ने की थी और जिसे देना स्वयं भारत-सचिव ने स्वीकार कर लिया था। अगर चलन में सोने के सिक्के होते, तो चांदी के इन सिक्कों की न ऐसी आवश्यकता होती, न ऐसी बहुतायत।

(२) एक्सचेंज का गिरना बहुत दूर की बात या सम्भावना थी। भारतवर्ष में इम्पोर्ट से एक्सपोर्ट ज्यादा होने के कारण स्टर्लिंग से रुपए की मांग ज्यादा रहती है। कभी किसी साल ऐसा संयोग हो जाता है कि एक्सपोर्ट से इम्पोर्ट बढ़ जाता है और स्टर्लिंग की मांग बढ़ जाने के कारण एक्सचेंज की गंगा उलटी बहने लगती है। पर ऐसे अवसर बहुत कम हुए हैं। अधिकारियों को एक्सचेंज के गिरने की फिक्र तो इतनी थी कि उसको रोकने के लिए साल-ब-साल लन्दन में सोना इकट्ठा करते जाते थे! पर महासमर-जैसी परिस्थिति की उन्हें कोई भी चिन्ता नहीं थी, जिसमें न सोना मिल सकता था, न सिक्यूरिटीज या कागज ही बेचे जा सकते थे।

(३) ब्याज तो भारतवर्ष में भी उपजाया जा सकता था, बल्कि यहां इसकी गुंजाइश विलायत से ज्यादा थी। पर जहां मुद्रा-प्रणाली की वास्तविक भित्ति या आधार का प्रश्न हो वहां तो सब से पहले यह देखना चाहिए कि वह सुरक्षित किस प्रकार रह सकेगी। उसके सुरक्षित रहने से ही हम सुरक्षित बने रहेंगे। थोड़े से ब्याज के लिए इतनी बड़ी जोखिम उठाना कहां की बुद्धिमता थी? पर लन्दन में सोना इंगलैण्ड की भलाई के खयाल से रखा जा रहा था—भारतवर्ष को ब्याज के रूप में कुछ लाभ कराने के उद्देश से नहीं।

लन्दन में चांदी खरीदने का कारण लन्दन का पक्षपात था। वहां का बाजार बहुत ही छोटा है। चार दलालों के गुट या टोली को लन्दन में चांदी का बाजार समझना चाहिए। भारतवर्ष में लोगों की मांग थी कि चांदी के लिए टेण्डर कराए जायं और उनपर विचार होने के बाद चांदी बम्बई में खरीदी जाय। सर शापुर्जी भरोचा के कथनानुसार यह नगर संभ-

वतः संसार में 'चांदी का सब से वड़ा बाजार' था। पर इंडिया ऑफिस को लन्दन से वाहर चांदी खरीदना मंजूर न था। सर शापूर्जी चेम्बरलेन कमीशन के मेम्बर थे। उन्होंने एक गवाह की जिरह करते हुए कहा था कि "१९०४-०५ में कण्ट्रोलर-जनरल से मुझे चांदी का एक बड़ा आर्डर मिला, पर भारत-सचिव ने आगे के लिए ऐसी खरीदगी की मनाही कर दी। पार साल लन्दन में जिस भाव चांदी खरीदी गई उससे बम्बई में दो पेंस सस्ती खरीदी जा सकती थी।" तमाशा यह था कि लन्दन में जो चांदी खरीदी गई थी वह भारतीय व्यापारियों की थी। पर भारतवासी भारत-सरकार को भारतवर्ष में अपनी चांदी न बेच पाते थे!

एक बार प्रायः ९ करोड़ रुपए की चांदी लन्दन में सैमुयल मौण्टेग्यू कम्पनी (दलाल) की मार्फत खरीदी गई। मि० मॉण्टेगू—जो बाद में भारत सचिव हुए थे, उस समय इण्डिया ऑफिस में अण्डर-सेक्रेटरी थे, और उसी कुल-परिवार के थे जो उस कम्पनी का मालिक था। उनके विपक्षियों ने इस सौदे को लेकर हाउस ऑव् कॉमन्स में काफी हो-हल्ला मचाया और कितनी ही ऐसी बातों पर प्रकाश डाला, जिनसे पक्षपात का सन्देह हुए बिना न रह सकता था।

सोने का उत्पादन इधर काफी बढ़ चला था और यह वृद्धि इस प्रकार हुई थी:—

	टन
१८९०	१७७
१८९५	२९०
१९००	३७७
१९०५	५७७
१९१०	६७४

सोने में दाम भी बढ़ चले थे, और बढ़ते ही जा रहे थे। भारतवर्ष में भी दाम ऊंचे हो रहे थे। ऐसी अवस्था में, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है—लोग चांदी को स्वयंसिद्ध मुद्रा कराने के पक्षपाती न रह गए। चेम्बरलेन-कमीशन के सामने सिर्फ एक गवाह ने यह मांग पेश की

थी कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके इस देश में चांदी को उसकी पुरानी जगह फिर दे दी जाय।

सोने में दामों की अपेक्षा रुपए में दाम ज्यादा बढ़े थे और कुछ विशेषज्ञों का—खास कर श्रीगोखले का—मत यह था कि रुपए चलन में आवश्यकता से अधिक थे। उनका कहना था कि "सोने के सिक्के, आवश्यकता न रहने पर, निकल जाते हैं (जैसे निर्यात के रूप में), पर रुपए निकल नहीं सकते; उन्हें गलाने से लाभ नहीं, भुगतान के लिए उन्हें विदेश भेजना संभव नहीं। या तो वे लौट कर बैंकों में या सरकारी खजाने में आ जायंगे या चलन में बने रहेंगे। पर इस देश में बैंक-व्यवसाय की अभी यथेष्ट उन्नति नहीं हुई है, इसलिए रुपए जल्दी लौटते नहीं, लोगों के ही पास बने रहते हैं और दामों पर अपना असर डालते रहते हैं।" इस विषय का अनुसन्धान करने के लिए १९१० में एक छोटी-सी कमेटी बैठी थी, जिसके अध्यक्ष मि० के० एल० दत्त थे। इसकी राय यह ठहरी कि रुपयों की वृद्धि आवश्यकता के अनुसार ही हुई थी और उनकी कोई ऐसी बहुतायत न थी। हां, बैंकों से उधार मिलने में अब बड़ी सहूलियत हो चली थी, और इसका असर दामों पर बेशक पड़ा था।

चेम्बरलेन-कमीशन की सिफारिशों का जिक्र करने से पहले परिस्थिति का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है:—

(१) इस समय सॉवरेन (गिनी) और रुपया, दोनों ही चलन में थे, और लोग दोनों को ही लेने-देने को बाध्य थे।

(२) सरकार रुपए के बदले सोना देने को कानूनन बाध्य नहीं थी, पर एक हद तक वह सोना देने को तैयार रहती थी।

(३) सरकार सॉवरेन के बदले १६ पेंस की दर से रुपया देने को बाध्य थी, पर धातु के रूप में सोने के बदले नहीं।

(४) भारत-सचिव १६$\frac{१}{८}$ पेंस की दर से चाहे जितने की हुंडी भारत-सरकार के नाम बेचने को तैयार रहते थे। भारत-सरकार भी भारत-सचिव के नाम उलटी हुंडी बेचना स्वीकार कर चुकी थी, पर १५$\frac{२९}{३२}$ पेंस से नीची दर से नहीं। ऐसी हालत में एक्सचेंज न तो १६$\frac{१}{८}$ पेंस से ऊपर जा सकता था, न १५$\frac{२९}{३२}$ पेंस से नीचे।

(५) चलन में विशेषता रुपयों की थी। करेंसी रिजर्व और सरकार के हाथ के रुपयों को छोड़, बाकी रुपयों का चलन १९१२ में २०० करोड़ कूता गया था।

सोने के सिक्कों का प्रचार बढ़ रहा था। ३१ मार्च १९१३ को समाप्त होनेवाले १२ वर्षों में प्रायः ९० करोड़ के सॉवरेन सार्वजनिक चलन में गए। इन बारह वर्षों में चांदी के रुपए भी प्रायः ९० करोड़ ही ढले। सोने के चलन की रफ्तार १९०९ के बाद तेजी से बढ़ने लगी थी। ३१ मार्च १९०९ और ३१ मार्च १९१३ के बीच ४५ करोड़ के सॉवरेन सार्वजनिक चलन में गए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सब-के-सब सॉवरेन चलन में मौजूद थे, पर चेम्बरलेन-कमीशन की रिपोर्ट ने भी यह बात स्वीकार की थी कि लेन-देन के काम में सॉवरेन अधिकाधिक आ रहा था—खास कर बम्बई, संयुक्त प्रांत, पंजाब और मद्रास के कुछ हिस्सों में।

सोने का यह प्रचार या उपयोग हमारे शासकों की अनिच्छा होते हुए भी होने लगा था। हमारे शासन-सूत्रधर की तो बराबर यह चेष्टा रहती थी कि सोना लन्दन से भारतवर्ष आने न पावे। पर फिर भी कुछ-न-कुछ सोना आता ही रहता था; और करेन्सी के रूप में सॉवरेन के उपयोग का बढ़ना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं था।

जिस विशुद्ध गोल्ड स्टैण्डर्ड या सुवर्ण-मान की फौलर कमेटी ने सिफारिश की थी वह हमें न दिया गया। उसकी जगह दिया गया 'गोल्ड एक्सचेंज स्टैण्डर्ड' जिसकी सिफारिश मि० लिण्डसे ने की थी और जो उस समय अस्वीकृत कर दिया गया था। इस स्टैण्डर्ड के अनुसार मूल्य का मान या मापक सोना ही था—एक रुपया वास्तव में ७.५३३४४ ग्रेन सोने का प्रतीक या प्रतिनिधि था—पर हमारा अपना कोई सोने का सिक्का नहीं था, और रुपए का मूल्य सरकारी व्यवस्था पर निर्भर करता था। सोने का रिजर्व यहां से सात समुद्र-पार विलायत में रख दिया गया था और भारत-सचिव अपनी नीति-रीति ऐसी रखते थे कि कम-से-कम सोना भारतवर्ष आने पावे।

भारत-सरकार का अपना मत कई बातों में भारत-सचिव से भिन्न था; पर वह परतंत्र होने के कारण लाचार थी। भारत-सचिव लंदन के पूंजी-

पतियों के हाथ की कठपुतली थे। उन्हें वही करना पड़ता था जो इंगलैण्ड के हित के अनुकूल था, जिससे इंगलैण्ड की भलाई निश्चित थी।

१७ अप्रैल १९१३ को एक रायल कमीशन भारतीय मुद्रा-प्रणाली के हर पहलू पर विचार करने के लिए नियुक्त हुआ। इसके अध्यक्ष थे मि० ऑस्टेन चेम्बरलेन, जो बाद में भारत-सचिव और परराष्ट्रसचिव हुए थे। कमीशन के दूसरे मेम्बरों में लॉर्ड फैब्र, सर शापुर्जी भरोचा, सर अर्नेस्ट केबल और अध्यापक केन्स थे। इसके सेक्रेटरी थे सर बेसिल ब्लैकेट, जो बाद भारत के अर्थ-सदस्य हुए।

पिछली कमेटियों की तरह इस कमीशन की भी सारी कार्रवाई लन्दन में ही हुई। इसकी रिपोर्ट २४ फरवरी १९१४ को ब्रिटिश सरकार के पास भेजी गई। इसके एक मेम्बर सर जेम्स बेग्बी ने सोने के प्रचार के सम्बन्ध में औरों से अपना मतभेद प्रकट किया था। रिपोर्ट में अध्यापक (वर्त्तमान लॉर्ड) केन्स का रिजर्व बैंक जैसी संस्था पर एक नोट था।

कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह स्वीकार किया कि कितनी ही बातों में वस्तुस्थिति फौलर-कमेटी द्वारा स्वीकृत स्कीम से भिन्न थी। यहां की मुद्रा-प्रणाली का आधार था तो मि० लिण्डसे का प्रस्ताव, जो कमेटी द्वारा अस्वीकृत हो चुका था; पर कमेटी के बताए हुए मार्ग का अवलम्बन न करने के लिए कमीशन ने अधिकारियों की किसी प्रकार की निन्दा नहीं की, बल्कि उसका कहना था कि जो कुछ हुआ था, अच्छा ही हुआ था।

कमीशन की सिफारिशों में कुछ खास बातें ये थीं :—

(१) यह निश्चित हो जाना चाहिए कि भारतीय मुद्रा-प्रणाली का लक्ष्य क्या है। १८९८ की कमेटी की राय थी कि इस देश में सोने के मान की सफलता के लिए सोने का सिक्का आवश्यक है। पर पिछले १५ वर्षों के इतिहास से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती।

(२) चलन में सोने के उपयोग को प्रोत्साहन देना भारतवर्ष के लिए हितकर न होगा।

(३) सोने के सिक्के की यहां ढलाई की कोई आवश्यकता नहीं। पर भारतीय जनता सचमुच इसे चाहती है और भारत-सरकार इसका

खर्च देने को तैयार है, तो सिद्धांततः कोई आपत्ति नहीं हो सकती। हां, जो सिक्का ढाला जाय वह सॉवरेन होना चाहिए।

(४) एक्सचेंज की पुश्ती के लिए रिजर्व में काफी सोना और स्टर्लिंग रहना चाहिए।

(५) गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व की अभी कोई हद नहीं बांधी जा सकती।

(६) रुपयों की ढलाई से जो मुनाफा हो वह पूरा-का-पूरा इसी रिजर्व में जमा किया जाय।

(७) इस रिजर्व में इस समय जितना सोना रखा जाता है उससे अधिक रखने की जरूरत है।

(८) गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व लन्दन में ही रहना चाहिए।

(९) सरकार को साफ तौर से यह जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेनी चाहिए कि जब कभी स्टर्लिंग की भारतवर्ष में मांग होगी तब वह भारत-सचिव के नाम १५$\frac{२९}{३२}$ पेंस की दर से हुंडी बेचने को तैयार रहेगी।

(१०) भारत-सरकार के हाथ में जब कभी बचत का रुपया हो तब उसे प्रेसिडेंसी बैंकों को उधार देने का नियम-सा कर लेना चाहिए। किन शर्तों पर रुपया उधार दिया जाय, यह निश्चित हो जाना चाहिए।

(११) इस समय हम किसी स्टेट या सेण्ट्रल (केन्द्रीय) बैंक की स्थापना के पक्ष या विपक्ष में कुछ भी नहीं कह सकते; पर इतना हम अवश्य कहेंगे कि यह विषय महत्वपूर्ण है और इसपर विशेषज्ञों की एक छोटी-सी कमेटी द्वारा विचार होने की आवश्यकता है।

इंडिया ऑफिस की फाइनेन्स कमेटी के दो चेयरमैन और एक मेम्बर ऐसी बैंकों से सम्बद्ध रह चुके थे, जिनका इंडिया ऑफिस से लेन-देन का सरोकार रहता था। यह बात समालोचकों-द्वारा आपत्तिजनक बताई जा चुकी थी। इसपर कमीशन ने अपनी राय यह दी कि ऐसे सम्बन्ध के कारण किसी प्रकार का पक्षपात तो साबित नहीं होता, पर भारत-सचिव को चाहिए कि जहां तक हो सके, ऐसी समालोचना या शिकायत के लिए कोई मौका ही न दें।

इंडिया ऑफिस के दलाल को जिस उसूल पर दलाली दी जाती थी,

उसका कमीशन समर्थन न कर सका। उसकी सिफ़ारिश थी कि कुछ समय बाद इस प्रश्न पर फिर से विचार किया जाय।

बैंक आव् इंगलैंड के विषय में उसने दबी जबान इतना ही कहा कि हम लोगों के विचार में, इंडिया ऑफिस और इस बैंक के सम्बन्ध को नई भित्ति पर रखने का समय आ गया है।

कमीशन की रिपोर्ट सरकार के विचाराधीन ही थी कि अगस्त १९१४ में प्रथम महासमर छिड़ गया। अब यह निश्चय हुआ कि जब तक शांति स्थापित नहीं होती तब तक कार्रवाई मुल्तवी रहे।

५

लेने के देने

महासमर के कारण भारतवर्ष को जो आर्थिक लाभ होना चाहिए था नहीं हुआ; वल्कि गहरी हानि हुई। परतन्त्रता के फलस्वरूप उसे लेने के देने पड़ गए।

आरम्भ में हमारे व्यापार को धक्का-सा लगा और काम-काज बहुत कम हो चला। एक्सचेंज में कमजोरी आने लगी जिसको रोकने के लिए सरकार ने भारत-सचिव के नाम उलटी हुण्डी बेचना शुरू किया। लोग बैंकों से अपने-अपने रुपए उठाने लगे। पहले दो महीनों में ही सेविंग्स बैंक डिपॉजिट में छः करोड़ की कमी हो चली। सितम्बर से अक्टूबर १९१४ तक दो करोड़ की और कमी हुई। बाद में परिस्थिति सुधरी और डिपॉजिट बढ़ने लगे। शुरूआत में घबराहट के मारे लोग नोट भी तेजी से भुनाने लगे। ३१ जुलाई १९१४ और ३१ मार्च १९१५ के बीच नोटों का चलन प्रायः दस करोड़ कम हो चला। पर इसके बाद अवस्था सुधरने पर नोटों का चलन फिर बढ़ने लगा और बढ़ता ही गया। जुलाई १९१४ के अन्त में सोने की मांग बढ़ चली और सरकार के हाथ से प्रायः १,८००,००० पौंड का सोना निकल गया। ५ अगस्त को सरकार ने सोना देना बन्द कर दिया। उसके बाद नोटों के बदले सिर्फ रुपए मिल सकते थे।

भारतवर्ष की करेन्सी और एक्सचेंज पर महासमर का क्या असर हुआ उसे बताने से पहले यह बता देना आवश्यक है कि इंगलैण्ड में अब सोना और स्टर्लिंग दोनों दो चीजें हो चलीं, उनकी समानता जाती रही। हमारा जितना धन विलायत में जमा था,और जिसे हम बराबर सोना मानते आते थे, अब स्टर्लिंग कागज रह गया।

इंगलैण्ड तथा अन्य मित्र-देशों को इस समय भारतवर्ष से बहुत कुछ माल मिल सकता था और वह मिलने भी लगा।

एक्सपोर्ट के मार्ग में कई कठिनाइयां थीं। जहाज कम मिलते थे, आर्थिक प्रतिबन्ध के कारण जितना माल जा सकता था, न जा पाता था। फिर भी एक्सपोर्ट में कमी नहीं हुई, बल्कि १९१६–१७ से वृद्धि ही होने लगी। दूसरी ओर बाहर से कम माल आने लगा, क्योंकि जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी जैसे देशों से तो कुछ आ ही नहीं सकता था और दूसरे देशों से भी आने में कई तरह की रुकावटें थीं। फिर भी दाम ऊंचे होने के कारण जो कुछ आया उसकी कीमत महासमर के पूर्व जैसी ही बनी रही। १९१४–१५ से १९१८–१९ तक ऐसे माल का जितना इम्पोर्ट हुआ उससे हर साल प्रायः ७६ करोड़ रुपए अधिक का एक्सपोर्ट हुआ। यह कोई असाधारण बात नहीं थी, पर सोना-चांदी पहले की अपेक्षा बहुत कम आई, इसलिए और देशों से हमारा पावना पहले से कहीं अधिक हो चला। लड़ाई से पहले पांच वर्षों में यहां १८० करोड़ की सोना-चांदी आई थी। पर इन पांच वर्षों में कुल ५४ करोड़ की आई। सालाना औसत प्रायः ११ करोड़ बैठा।

भारतवर्ष से ही उस समय ईराक, ईरान और पूर्व अफ्रीका में लड़ाई के खर्च के रुपए मंगाए जाते थे। फौज का वेतन-आदि चुकाने, लड़ाई के सामान खरीदने और शासन-सम्बन्धी सारा व्यय चुकाने के लिए इन रुपयों की जरूरत पड़ती थी। इन रुपयों के बदले भारत-सरकार विलायत में ब्रिटिश सरकार से स्टर्लिंग पाती थी। १९१४ और १९१९ के बीच इस प्रकार के खर्च का जोड़ २४०,०००,००० पौंड हो चुका था और खर्च जारी ही था। भारतवर्ष में अमेरिका और ब्रिटिश उपनिवेशों की ओर से उन दिनों करोड़ों के माल खरीदे गए थे, इसके लिए भी खास व्यवस्था करनी पड़ी थी।

इन सब कारणों से यहां करेन्सी की मांग बढ़ने लगी और टकसालों में रुपयों की ढलाई जोर-शोर से होने लगी। अप्रैल १९०४ और मार्च १९०९ के बीच जब करेंसी की मांग काफी अच्छी थी, प्रायः १८०,०००,००० स्टैण्डर्ड औंस चांदी के रुपए ढले थे। पर अप्रैल १९१६ और मार्च १९१९

के बीच प्रायः ५००,०००,००० स्टैण्डर्ड औंस चांदी का इस काम में उपयोग हुआ ।

३१ मार्च १९१४ को प्रायः ६६ करोड़ के नोट चलन में थे। ३० नवम्बर १९१९ को यह तादाद प्रायः १८० करोड़ हो चली थी। नोट बढ़ते गए पर उनकी पुश्ती के लिए करेन्सी रिजर्व में जो सोना-चांदी रखी जाती थी उसका अनुपात घटता गया। महासमर से पहले कानून था कि रिजर्व में सिक्युरिटीज या कागज अधिक-से-अधिक १४ करोड़ रुपए के रखे जा सकते थे। धीरे-धीरे यह हद बढ़ाकर १२० करोड़ कर दी गई जिसमें २० करोड़ के कागज भारत-सरकार के रखे जा सकते थे, बाकी ब्रिटिश सरकार के। ३० नवम्बर १९१९ को नोटों के चलन की पुश्ती इस प्रकार थी:—

	करोड़ रुपए
चांदी (रुपए)	४७
सोना	३३
कागज	१००
	१८०

नोटों के सम्बन्ध में दूसरी नई बात यह हुई कि १९१७ में ढाई रुपए के और १९१८ में एक रुपए के नोट जारी किए गए। ३१ मार्च १९१९ को ढाई रुपए के नोट प्रायः १ करोड़ ८४ लाख के और एक रुपए के नोट प्रायः १०॥ करोड़ के चलन में थे।

पहले सरकार की नीति यह रहती थी कि नोट भुनाने के लिए सर्व-साधारण को हर तरह की सुविधा दी जाय। महासमर में यह नीति कायम न रह सकी। कागज की पुश्ती कागज से करके नोट बढ़ाए जा रहे थे, इस-लिए लोगों का नोटों में वह विश्वास न रह गया था जो पहले था। लोग रुपए मांगते थे। १९१६–१७ में प्रायः ३८ करोड़ और १९१७–१८ में २८ करोड़ रुपए चलन में गए। १ अप्रैल १९१८ को रिजर्व में कुल १०॥ करोड़ रुपए रह गए थे—अर्थात् महासमर से पूर्व कम-से-कम जितना रिजर्व में रखना निरापद समझा जाता था उससे प्रायः आठ करोड़ कम।

मार्च और अप्रैल १९१९ में महासमर-सम्बन्धी परिस्थिति कुछ चिन्ता-जनक हो चली जिसका नतीजा यह हुआ कि लोग नोटों को बेतहाशा भुनाने लगे। जून के पहले सप्ताह में रुपए कुल प्रायः चार करोड़ रह गए थे। इस बीच में सरकार ने अमेरिका से कुछ चांदी लेने की व्यवस्था कर ली थी और वह चांदी अब आने भी लगी। इसके फलस्वरूप परिस्थिति में सुधार होने लगा।

सरकार नोटों के बदले रुपए देने के लिए सब जगह बाध्य नहीं थी पर आम तौर से दिया करती थी। पर यह सुविधा अब न रही। रेल या स्टीमर-द्वारा सिक्के ले जाने पर प्रतिबन्ध लग गया। डाक-द्वारा भी अब कोई उन्हें कहीं न भेज सकता था। करेन्सी ऑफिसों में सरकार नोटों के बदले रुपए देने को अब भी बाध्य थी। पर वहां भी अब यह विधान कर दिया गया कि एक आदमी को एक ही दिन इतने से ज्यादा रुपए न मिल सकेंगे। इन प्रतिबन्धों और रुकावटों के कारण चलन में रुपयों का स्थान नोट ग्रहण करते गए। पर नोटों पर ऐसी हालत में बट्टा लगना स्वाभाविक था। कुछ समय तक तो कहीं-कहीं यह बट्टा १९ प्रतिशत तक रहा।

हम स्वाधीन होते और दूसरों के हाथ माल बेचते या उनके लिए कुछ खर्च करते तो हम उनसे बेबाकी स्टर्लिंग–जैसे कागजी रुपए में न कराके चांदी या सोने में कराते। घड़ी भर के लिए यह मान लें कि हमारे देनदार चांदी या सोना देने में असमर्थ होते और हम फिर भी उनके साथ कारोबार करना चाहते तो हम यह व्यवस्था कर सकते थे कि उन्हें कुछ समय के लिए अपना रुपया कर्ज दें। पर हम थे पराधीन और इस पराधीनता के कारण हम दाम या भुगतान अपनी इच्छा या सुविधा नहीं बल्कि इंगलैण्ड की इच्छा और सुविधा के अनुसार लेने को विवश थे। वर्षों वहां हमने जो सोना जमा कर रखा था वह तो कागज हो ही गया, अब इंगलैण्ड हमसे जो कुछ लेने लगा उसका दाम भी कागज में ही चुकाने लगा। करेन्सी रिजर्व की जो शाखा लन्दन में थी उसमें स्टर्लिंग के कागज रख दिए जाते और उनके मद्दे इधर नोट निकाल दिए जाते। दोनों ओर पतंगबाजी थी।

महासमर छिड़ते ही प्रायः प्रत्येक देश ने सोने के निर्यात पर प्रति-

बन्ध लगा दिया। सोना बाहर जा सकता था तो उसी हालत में जब बिना सोना दिए किसी देश का काम चलनेवाला न था। १९१७–१८ में भारतवर्ष में जापान और अमेरिका से कुछ सोना इस कारण आया था कि उन्हें यहां माल खरीदना था और उस समय भारत-सचिव से हुंडी मिलने में कठिनाई थी। जब सोना दुर्लभ हो चला तब चांदी की मांग बढ़ी। पर चांदी का उत्पादन १९१४ से ही कम होने लगा था। १९१० से १९१३ तक तमाम दुनिया की खानों से २२८,५५२,००० औंस चांदी निकली थी। १९१४ से १९१७ तक कुल चांदी १७८,०७५,००० औंस निकली। इस कमी का खास कारण यह था कि मेक्सिको में राजनैतिक अशान्ति के कारण चांदी का उत्पादन बहुत घट गया। इधर ब्रिटिश साम्राज्य और चीन आदि देशों की ओर से मांग कहीं-से-कहीं बढ़ गई। इसका नतीजा यह हुआ कि चांदी महंगी हो गई। १९१५ में जो दाम २७। पेंस था वह अगस्त १९२७ में ४३ पेंस, और एक ही महीना बाद ५५ पेंस हो चला था।

अमेरिका, कनाडा और ग्रेट ब्रिटेन ने चांदी के दाम की घटाबढी को रोकने की कुछ खास व्यवस्था की, जिससे चांदी का दाम कुछ समय तक प्रति औंस प्रायः एक डॉलर बना रहा। मई १९१८ और अप्रैल १९१९ के बीच लन्दन में दाम ४७।।। और ५० पेंस के बीच रहा। मई १९१९ में अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ने चांदी के बाजार से अपना-अपना नियन्त्रण उठा लिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि लन्दन में दाम फौरन ५८ पेंस हो गया। उसके बाद भी दाम बढ़ता ही गया और १७ दिसम्बर को ७८ पेंस तक पहुंच गया था।

चौथे अध्याय में कहा गया है कि जब चांदी का दाम लन्दन बाजार में २४ पेंस होता तब एक रुपए की चांदी की कीमत ९ पेंस से कुछ ऊपर होती। इसी प्रकार जब चांदी का दाम ४३ पेंस हो गया तब रुपए की चांदी की कीमत १६ पेंस के पास पहुंच गई, अर्थात् चांदी इतनी महंगी होते ही रुपए की असली कीमत उसकी नकली कीमत के पास पहुंच गई। और जब चांदी और भी महंगी हुई तब १६ पेंस में रुपया देना सरकार के लिए असंभव हो गया।

बचाव के लिए सरकार ने एक्सचेंज को ऊंचा करना शुरू कर दिया। २८ अगस्त १९१७ को•टी० टी०* का दाम १६$\frac{1}{5}$ पेंस से १७ पेंस कर दिया गया। उसके कुछ ही दिन बाद यह विज्ञप्ति निकली कि भारत-सरकार के नाम हुंडी की दर अब चांदी के दाम पर निर्भर करेगी। १२ अप्रैल १९१९ को दर १८ पेंस कर दी गई और १३ मई १९१९ तक यही दर रही। अमेरिका ने चांदी के बाजार पर से नियंत्रण उठा लिया, इस कारण चांदी और भी महंगी हो चली और रुपए की एक्सचेंज-दर अब २० पेंस कर दी गई। उसके बाद ज्यों ज्यों चांदी तेज होती गई यह दर ऊंची होती गई। इसके मरातिब ये थे :—

१२ अगस्त १९१९	२२ पेंस
१५ सितम्बर ,,	२४ पेंस
२२ नवम्बर ,,	२६ पेंस
१२ दिसम्बर ,,	२८ पेंस

३ सितम्बर १९१७ को चांदी का व्यापारियों-द्वारा इम्पोर्ट बन्द कर दिया गया। एक्सपोर्ट पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया—बिना सरकार से लाइसेंस प्राप्त किए कोई सोना या चांदी के सिक्के इस देश से बाहर नहीं भेज सकता था।

इम्पोर्ट रोका गया था इस उद्देश से कि जो चांदी संसार में उपलभ्य थी उसका कोई हिस्सा भारतवर्ष के व्यापारियों के हाथ लगने न पावे। एक्सपोर्ट इसलिए रोका गया था कि लोग सिक्कों को गला कर या यों ही बाहर भेजना न शुरू कर दें। २९ जून १९१७ के बाद तो चांदी या सोने के सिक्कों को और किसी काम में ले आना भी जुर्म करार दे दिया गया।

चांदी की कमी के कारण सरकार अपना सोने का स्टॉक भी बढ़ाने लगी। २९ जून १९१७ के बाद जो सोना विदेश से आता उसे मंगानेवाले को सरकार के हाथ बेच देना पड़ता। अगस्त १९१९ में रॉयल मिण्ट अर्थात् ब्रिटिश टकसाल की एक शाखा बम्बई में खोली गई और वहां सॉव-

---

* Telegraphic Transfers—तार-द्वारा की जानेवाली हुंडी।

रेन ढाले जाने लगे। इससे पहले कुछ ऐसी मोहरें यहां की टकसालों में ढाली जा चुकी थीं जो प्रायः हर बात में सॉवरेन के समान थीं। अप्रैल १९१९ में रॉयल मिण्ट की यह शाखा उठा दी गई।

ऊपर कहा जा चुका है कि महासमर छिड़ते ही सरकार ने सॉवरेन देना बन्द कर दिया था। बाजार में सॉवरेन की कीमत बढ़ चली और १५) से ऊपर रहने लगी। कानूनन सॉवरेन की कीमत अब भी वही १५) थी, और सरकार उसके बदले १५) देने को ही बाध्य थी। सॉवरेन ऐसी हालत में करेन्सी के काम न आ सकते थे। फिर भी रुपयों की इतनी कमी हो रही थी कि दो बार सरकार को इस देश के कुछ हिस्सों में किसानों से माल खरीदने के लिए कई करोड़ के सोने के सिक्के (सॉवरेन और देशी मोहरें) देने पड़े।

शांति स्थापित हो जाने पर अमेरिका ने ९ जून १९१९ से सोने के एक्सपोर्ट की स्वतंत्रता दे दी। दक्षिण अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया का सोना भी बाहर जाने के लिए स्वतंत्र हो गया। इसलिए इस देश में सोने की आमद बढ़ चली। भारतवर्ष लन्दन में और अन्यत्र भी सोना खरीदने लगा। १५ सितम्बर १९१८ के बाद भारत-सरकार इम्पोर्टर को सोने का दाम इस हिसाब से देने लगी कि हुंडी की दर की घटा-बढ़ी के अनुसार सोने की जो कीमत हो वह उसे मिल जाया करे।

अगस्त १९१९ के अन्त में भारत-सरकार ने यह घोषित किया कि हर पखवारे उसकी ओर से सोने की बिक्री की जायगी। इस बिक्री का नतीजा यह हुआ कि बाजार में सोने का दाम गिर पड़ा। १५ अगस्त १९१९ को दाम था ३२.१२ रुपए तोला। २२ सितम्बर को यह गिर कर २७ रुपए रह गया था। फिर दाम में कुछ तेजी आई और अक्तूबर के अन्त तक वह २९.१२ रुपए तोला हो चला। फिर कुछ ही दिन बाद वह गिर कर २८.५ रुपए तोला रह गया। जब दाम ३२.१२ रुपए तोला था तब एक सॉवरेन की कीमत २०.९ रुपए थी। जब दाम २८.५ रुपए तोला रह गया तो सॉवरेन की कीमत थी १७.११ रुपए।

चांदी-सम्बन्धी परिस्थिति को काबू में लाने के लिए सरकार ने हर

तरह की तदबीर की, पर चांदी की कमी बनी ही रही और अन्त में उसे ब्रिटिश सरकार की मार्फत अमेरिका का दरवाजा खटखटाना पड़ा। अमेरिका के पास रिजर्व में बहुत कुछ चांदी पड़ी हुई थी और उसने उसका एक हिस्सा भारत-सरकार को देना स्वीकार कर लिया। २३ अगस्त १९१८ को वहां इसके लिए पिटमैन ऐक्ट नामक विधान बना जिसका आशय था कि वहां की सरकार दूसरी सरकारों को इस रिजर्व में से ३५०,०००,००० चांदी के डॉलर तक चांदी बेच सकती है। भारत को इसमें से २००,०००,००० औंस चांदी मिली जिसका दाम प्रति औंस (खालिस चांदी) १०१¼ सेंट चुकाना पड़ा। यह चांदी मिल जाने से भारत-सरकार का बहुत बड़ा संकट टल गया। समय-समय पर वह बाजार में भी चांदी खरीदती रही। सब मिला कर उसने ५३८,००५,००० औंस (स्टैण्डर्ड) चांदी खरीदी।

३० मई १९१९ को एक करेन्सी कमेटी की नियुक्ति हुई जिसके अध्यक्ष मि० बैबिंगटन स्मिथ थे और जिसके एकमात्र भारतवासी मेम्बर थे मि० दादीबा मेरवान जी दलाल। कमेटी को यह देखना था कि भारतीय प्रणाली पर महासमर का क्या असर हुआ है—उस प्रणाली में कौन से हेरफेर की जरूरत है और किस प्रकार यहां के 'गोल्ड एक्सचेंज स्टैंडर्ड' में स्थिरत्व या स्थायित्व लाया जा सकता है। उस समय एक्सचेंज की दर २० पेंस थी।

२२ दिसम्बर १९१९ को कमेटी की रिपोर्ट तैयार हुई और भारत-सचिव के पास भेजी गई। मि० दलाल, कमेटी की रिपोर्ट से सहमत न हो सके और उन्होंने अपने विचार अलग ही एक नोट में प्रकट किए।

कमेटी की खास सिफारिश यह हुई कि रुपए की एक्सचेंज-दर सोने में बांध दी जाय और यह दर २४ पेंस (सोना) हो। इस हिसाब से सॉवरेन की कीमत १५) के बजाय १०) होती। १८७३ से पहले एक्सचेंज की जो रेट थी उसे फिर से ले आने के लिए, ऊंचे एक्सचेंज के पक्षपातियों की दृष्टि में, यह अवसर अनुपम था—इसे हाथ से जाने देना परले सिरे की मूर्खता होती।

मि० दलाल ने इस धींगाधींगी का जोरों से विरोध किया। उन्होंने अकाट्य युक्तियों से यह प्रमाणित कर दिया कि एक्सचेंज की दर (१६ पेंस) में किसी प्रकार का परिवर्तन न होना चाहिए था।

कमेटी ने जिस दर की सिफारिश की थी वह थी २४ पेंस (सोना)। उस समय इंगलैण्ड में सोने का स्टैण्डर्ड या मान नहीं था—नोटों के बदले सोना मिलना वन्द हो गया था। सोना और स्टर्लिंग दोनों दो चीजें हो रही थीं। एक सौ औंस खालिस सोना हो तो उसके ४२५ सॉवरेन ढाले जा सकते हैं—शायद यह कहना ठीक होगा कि ढाले जा सकते थे। पर १७ दिसम्बर १९१९ को जो भाव था उसके अनुसार एक सौ औंस खालिस सोने का दाम प्रायः ५४४ पौंड स्टर्लिंग (कागजी) होता था। एक पौंड स्टर्लिंग (कागजी) अब एक सॉवरेन के बराबर न होकर ४२५/५४४ अर्थात् ·७८ सॉवरेन (सोना) के बराबर था। इसीको दूसरी तरह यों कह सकते हैं कि एक सॉवरेन (सोना) अब ५४४/४२५ अर्थात् १.२८ पौंड स्टर्लिंग (कागजी) के बराबर था। कमेटी ने रुपए को स्टर्लिंग से न बांध कर सोने से बांधने की सिफारिश की। २४ पेंस (सोने) का अर्थ २४ पेंस स्टर्लिंग नहीं, बल्कि इससे कहीं अधिक था।

एक्सचेंज को उठाने के पक्ष में दलील यह दी गई थी और दी जा रही थी कि चांदी का दाम ४३ पेंस से ऊपर हो जाने पर रुपए का प्रतीक-मुद्रा रहना असम्भव था; इसलिए रुपए को चलन में कायम रखने के लिए उसकी एक्सचेंज-दर को काफी ऊँचा रखने की जरूरत थी। भविष्य के सम्बन्ध में भी कमेटी की धारणा थी कि चीजों के दाम शीघ्र गिरनेवाले न थे—और चांदी का दाम इतना ऊँचा रहनेवाला था कि रुपए की कीमत २ शिलिंग अर्थात् २४ पेंस (सोने में) से कम रखने से उसके चलने से निकल जाने का अर्थात् धातु के रूप में बिक जाने का डर था। लॉर्ड केन्स आर्थिक विषयों में बड़े दूरदर्शी माने जाते हैं। उन्होंने भी दो शिलिंग जैसी ऊँची दर का समर्थन इस आधार पर किया कि संसार में चीजों के दामों के गिरने की कोई सम्भावना न थी—बल्कि सम्भावना यह थी कि दाम और भी ऊपर चढ़ेंगे। कहा गया कि इस महंगी को ध्यान में रखते हुए यह और

भी जरूरी था कि रुपए की एक्सचेंज-दर काफी ऊँची हो—जिससे भारतवर्ष में महंगी की भीषणता कुछ हद तक कम हो सके।

वास्तव में—जैसा कि मि० दलाल ने अपने वक्तव्य में कहा था—चांदी की तेजी ही एक्सचेंज की दर में वृद्धि का एकमात्र कारण नहीं हो सकती थी, क्योंकि अधिकारियों की मंशा थी कि चांदी सस्ती हो जाय तो भी एक्सचेंज १६ पेंस से काफी ऊँचा रखा जाय।

पर जो दलील दी गई थी उसका मि० दलाल के शब्दों में जवाब यह था—

"महासमर की समाप्ति हो जाने पर भी चांदी के एक्सपोर्ट पर प्रतिबन्ध बना रहा। अगर यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया होता तो चांदी में इतनी तेजी न आती। भारतवर्ष आसानी से दूसरे देशों के हाथ अपनी चांदी का एक हिस्सा बेच सकता था। इसका चांदी के दामों पर अच्छा असर पड़ता। चांदी का एक्सपोर्ट रुक जाने से और जो चांदी बेच सकता था उसका चांदी का खरीदार बन जाने से ही इस बाजार में आग लग गई।

"अगर यह मान भी लिया जाय कि चांदी का एक्सपोर्ट होने लायक न था तो भी लड़ाई के समय उसका दाम बढ़ने के कारण एक्सचेंज को उठाना मुनासिब न था। भारत-सचिव को चाहिए था कि जितने रुपए की उन्हें जरूरत होती उतने की भारत-सरकार के नाम हुण्डी करके इस काम से हाथ खींच लेते—व्यापारी अपना देना, चांदी न भेजकर, और जिस तरह चुका सकते, चुकाते।

"जब तक संसार-मात्र में सोने के एक्सपोर्ट पर प्रतिबन्ध था तब तक थोड़े समय के लिए एक्सचेंज में कुछ वृद्धि शायद अनिवार्य-सी थी, पर जब अमेरिका ने ९ जून १९१९ से प्रतिबन्ध हटा लिया और दक्षिण अफ्रीका का सोना भी १८ जुलाई १९१९ से लन्दन के बाजार में बे-रोक-टोक बिकने लगा तब कोई भी कारण न हो सकता था कि एक्सचेंज की दर को २० पेंस से २८ पेंस कर दिया जाय।

"सोने और रुपए के बीच की दर जो कायम थी वह महासमर के समय उठा दी गई। पर महासमर के बाद जो कुछ किया गया वह उससे

भी अनुचित था। शान्ति स्थापित हो जाने पर परिस्थिति बदल गई। लड़ाई के कारण बड़े पैमाने पर होनेवाले तरह-तरह के खर्च की अब कोई जरूरत न रह गई। व्यापार के लिए रुपए की मांग अवश्य थी, पर यह मांग पूरी करने से कहीं अधिक आवश्यक यह था कि यहां की जनता के मुद्रा-सम्बन्धी अधिकार की रक्षा की जाय, मूल्य का जो मान या स्टैण्डर्ड कर दिया गया था उसे अविचल रहने दिया जाय। हर हालत में—पर खास कर शान्ति स्थापित हो जाने पर—चाहिए यह कि व्यापार उस मान या स्टैण्डर्ड के पीछे चले—न कि यह कि मान या स्टैण्डर्ड ही व्यापार का अनुवर्ती बन जाय। अगर उस स्टैण्डर्ड को बदले बिना व्यापार की मांग पूरी नहीं की जा सकती थी तो मुनासिब था कि वह मांग पूरी न की जाय; यह हर्गिज मुनासिब न था कि मांग तो पूरी की जाय और स्टैण्डर्ड को उठा दिया जाय।"

रुपया स्वयं हमारी मुद्रा-प्रणाली में, मूल्य का कोई मान न था। यह मान या स्टैण्डर्ड १६ पेंस अर्थात् ७.५३३४४ ग्रेन सोना था। रुपया कागजी नोट की तरह उसका प्रतिनिधि-मात्र था। अगर चांदी महंगी हो गई थी तो सरकार को चाहिए था कि मान या माप-दण्ड को ज्यों-का-त्यों*

---

* मान या मापदण्ड के लिए जिस धातु का उपयोग होता था वह महंगी हो रही थी, इसलिए मान या मापदण्ड ही बदल दिया जाय—यह प्रस्ताव कितना अनुचित था यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। नापने के गज को लीजिए। यह १६ गिरह या तीन फुट का होता है। मान लीजिए कि कहीं गज नापने के लिए रेशम का फीता काम में लाया जाता है (सोलह पेंस के लिए एक रुपए की तरह)। अचानक रेशम महंगा हो गया और गज के लिए उसका उपयोग असम्भव है। ऐसी दशा में वहां वाले क्या करेंगे? अवश्य ही रेशम की जगह वह और किसी वस्तु का उपयोग करने लगेंगे जो रेशम से सस्ती हो। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि इस विषय का नियन्त्रण सरकार करती है और उसने रेशम की जगह सूत के व्यवहार की आज्ञा न देकर यह आज्ञा दे दी कि १६ अंगुल के बजाय अब २४ अंगुल का एक गज समझा जायगा। ऐसी आज्ञा

रखते हुए, रुपए में चांदी का परिमाण कम कर देती या नए रुपए ढालती ही नहीं। कई व्यक्तियों और संस्थाओं ने उस समय यह प्रस्ताव किया था कि दो या तीन रुपए के ऐसे सिक्के निकाले जायं जिनमें चांदी का परिमाण फी रुपया १६५ ग्रेन के हिसाब से न होकर इतना कम हो कि चांदी का दाम काफी ऊँचा होते हुए भी रुपयों के चलन से निकल जाने का कोई खतरा न रहे। दरअसल नए रुपए ढालने की कोई ऐसी जरूरत ही न थी। व्यापारियों पर ही यह जिम्मेवारी छोड़ देनी चाहिए थी कि अपना देना चुकाने के लिए उन्हें जो व्यवस्था उत्तम जंचती, करते।

पूछा जा सकता है कि व्यापारी आखिर क्या करते ? उत्तर यह है कि इंगलैण्ड को अगर हमारे माल की जरूरत थी तो वह हमें सोना देता—खास कर जब शान्ति स्थापित हो गई और कई देशों में सोने को बाहर जाने की स्वतन्त्रता मिल गई—या इंगलैण्ड हमसे कर्ज लेता। इसके बजाय किया यह गया कि हमारा स्टैण्डर्ड बदल दिया गया—एक्सचेंज की जो ऊँची-से-ऊँची दर उस समय हो सकती थी, कायम कर दी गई—नोटों की छूट कर दी गई और नोटों की पुश्ती के लिए लन्दन में ब्रिटिश 'ट्रेजरी बिलों' के रूप में स्टर्लिंग कागज रखे जाने लगे। इन ट्रेजरी बिलों के द्वारा भी ब्रिटिश सरकार ने हमसे कर्ज लिया, पर यह कर्ज ऐसा न था जिसे हमने अपनी खुशी या रजामन्दी से दिया हो। यह तो हमसे जबरन लिया हुआ कर्ज था—और जिस समय बैबिगटन स्मिथ कमेटी की रिपोर्ट तैयार हुई उस समय यह कर्ज ८३ करोड़ रुपए से ऊपर हो चला था।

या विधान का एक फल यह होगा कि जो किसीको एक गज देने के लिए बाध्य है उसे १६ की जगह अब २४ अंगुल नाप कर देना होगा। एक्सचेंज-रेट बढ़ा देने का नतीजा भी ठीक ऐसा ही हुआ। पहले जो किसीको १) देने को बाध्य था उसे अब ७.५३३४४ ग्रेन की जगह ११.३००१६ ग्रेन सोना (या इसी हिसाब से अपने खेत की उपज) देना पड़ा। कारण कि रुपया-रूपी गज अब १६ की जगह २४ अंगुल की नाप या स्टैण्डर्ड बन गया था।

ऊँची एक्सचेंज-दर के द्वारा इस देश में दाम गिराने के सम्बन्ध में कमेटी ने जो कुछ कहा था उसपर मि० दलाल की टिप्पणी यह थी :—

"कहा गया है कि एक्सचेंज उठाने का एक अच्छा नतीजा यह होगा कि भारतवर्ष में दाम गिर जायंगे। दाम जरूर गिरेंगे, पर दाम गिराने का यह तरीका ठीक नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष में कृत्रिम फुलावट-जैसी अवस्था नहीं हुई है। वहां फुलावट हुई भी है तो उस प्रकार की जिसे स्वाभाविक विस्तार का नाम देना अधिक उपयुक्त होगा।············ एक्सचेंज-दर ऊँची कर देने से रुपयों में दाम जरूर गिरेंगे, पर जहां करेन्सी की फुलावट हो वहां गिरावट करके दाम गिराना तो जायज है पर स्टैण्डर्ड या मूल्य के मान में अदल-बदल करके दाम गिराना जायज नहीं हो सकता। भारतवर्ष में करेन्सी की मिकदार, दाम ऊँचे होने के कारण बढ़ी है; दाम, करेन्सी अधिक होने के कारण नहीं बढ़े हैं। और बढ़ी हुई करेन्सी का दामों पर कोई खास असर इसलिए नहीं पड़ा है कि लोग हर तरह की करेन्सी को दबा कर बैठ गए हैं। भारतवर्ष में एक्सचेंज ऊँचा होने से दाम जरूर नीचे रहेंगे, पर दाम बढ़ने का जो वास्तविक कारण है वह ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।"

कमेटी की दूसरी सिफारिशें में कुछ इस प्रकार थीं :—

(१) भारत-सरकार, बिना भारत-सचिव की अनुमति प्राप्त किए, एक्सचेंज कमजोर पड़ने पर उलटी हुण्डी बेचने को तैयार रहे। इस उलटी हुण्डी की दर इस बात को ध्यान में रख कर निश्चित की जाय कि भारतवर्ष से इंगलैण्ड सोना भेजने में क्या खर्च पड़ता है। इसका अर्थ यह था कि इस देश में दस रुपए देनेवाले को सरकार लन्दन में एक सॉवरेन या उतने का स्टर्लिंग (सोना भेजने का खर्च काट कर) दे दे।

(२) भारतवर्ष में अब सोना बेरोक-टोक आने दिया जाय।

(३) जब तक चांदी की तेजी बनी रहे तब तक सरकार थोड़ी मिकदार में चलन के काम आने के लिए सोने के सिक्के दिया करे।

(४) रॉयल मिण्ट या ब्रिटिश टकसाल की जो शाखा बम्बई में खुली थी, और जो बाद में बन्द कर दी गई थी वह फिर से खोल दी जाय। इसमें

सॉवरेन (गिनी) ढालने की व्यवस्था की जाय। सरकार यह घोषित कर दे कि जो कोई सोना लावेगा उसे नई एक्सचेंज-दर से—अर्थात् एक रुपया = ११.३००१६ ग्रेन खालिस सोना के हिसाब से सॉवरेन मिल सकेंगे।

(५) चांदी की कमी और महंगी के कारण सरकार के लिए अब सॉवरेन के बदले रुपए देना आवश्यक न रहे।

(६) सॉवरेन की कीमत अब १५) के बजाय १०) होगी, इसलिए सरकार यह घोषित कर दे कि अमुक तिथि तक जो कोई सॉवरेन लाकर देगा उसे फी सॉवरेन १५) मिल जायगा। यही बात मोहर के सम्बन्ध में भी रहे, और कुछ समय बाद चलन से मोहर उठा दी जाय।

(७) चांदी के इम्पोर्ट पर जो प्रतिबन्ध है वह यथासम्भव शीघ्र हटा दिया जाय।

(८) एक्सपोर्ट-सम्बन्धी प्रतिबन्ध अभी कुछ समय के लिए बना रहे।

(९) चांदी खरीदने की जो वर्तमान व्यवस्था है उसमें किसी प्रकार के हेर-फेर की हम सिफारिश नहीं करते।

(१०) करेन्सी रिजर्व का जो हिस्सा कागज के रूप में रखा जा सकता है वह कुछ समय के लिए १२० करोड़ बना रहे।

(११) करेन्सी रिजर्व में जितना सोना या स्टर्लिंग* है उसकी नई कीमत २४ पेंस की दर से ठहराई जाय। ऐसा करने से रिजर्व में ३८.४ करोड़ की कमी होगी। यह कमी धीरे-धीरे पूरी कर दी जायगी।

(१२) करेन्सी रिजर्व की जो सोना-चांदी हो वह इसी देश में रखी जाय। बाहर उसी हालत में रह सकती है जब यहां आनेवाली हो या आ रही हो।

(१३) नोट भुनाने के लिए जो सुविधाएँ सर्वसाधारण को पहले प्राप्त थीं वे स्थिति सुधरते ही फिर से जारी कर दी जायं। सरकार को यह अधिकार हो कि वह नोटों के बदले चांदी या सोने के सिक्के दे सके।

(१४) सरकार को जो सोना प्राप्त हो सके वह फिलहाल गोल्ड

---

* इसके लिए सोना और स्टर्लिंग समान माने गए।

स्टैण्डर्ड रिजर्व में न रख कर पेपर-करेन्सी रिजर्व में रखा जाय। जब ऐसा करना सम्भव हो तब गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व में भी काफी सोना रखने की व्यवस्था की जाय; पर इस समय तो सब से सन्तोषजनक व्यवस्था यही हो सकती है कि उस रिजर्व को ऐसी सिक्यूरिटीज* के रूप में रखा जाय जिनकी मीयाद थोड़े ही समय में पूरी होनेवाली हो।

(१५) गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व के सोने का अधिक-से-अधिक आधा हिस्सा भारतवर्ष में रखा जाय, पर सर्वसाधारण को वह सिर्फ निर्यात के लिए मिल सके।

कमेटी ने बहुमत से जो सिफारिश की थी उसे भारत-सचिव ने मंजूर कर लिया। फरवरी १९२० में सरकारी विज्ञप्ति निकलते ही एक्सचेंज की दर २८ पेंस (स्टर्लिंग) से ३२॥ पेंस (स्टर्लिंग) हो चली। यह नई दर २४ पेंस (सोना) के आसपास थी। पर बाजारवालों को इतनी ऊँची दर के ठहरने का विश्वास न हो सका और उनकी ओर से स्टर्लिंग की मांग होने लगी। उद्देश यह था कि पहले रुपयों के बदले ऐसी ऊँची दर से स्टर्लिंग ले लिया जाय, फिर एक्स्चेंज गिरने पर उसी स्टर्लिंग से अधिक रुपए बना लिए जायं। सरकार स्टर्लिंग की मांग पूरी करने के लिए, कमेटी की सिफारिश के अनुसार उलटी हुण्डी बेचने लगी। विधान में संशोधन कर सॉवरेन की कीमत १०) कर दी गई और लोग उसे इस दर में लेने-देने को बाध्य कर दिए गए।

स्टर्लिंग की मांग इतनी ज्यादा थी कि सरकार के लिए उसे पूरा करना असम्भव था। उसे नेक सलाह दी गई कि वह मांग पूरी करने के प्रयत्न को छोड़ दे और भारतवर्ष का जो धन लन्दन में संचित था उसे बरकरार रखे। पर सरकार ने एक न सुनी और उलटी हुण्डी बेचती ही गई। जब इससे भी २४ पेंस (सोना) वाली दर कायम न हो सकी तब वह अपनी नीति बदल कर २४ पेंस स्टर्लिंग पर एक्सचेंज को ठहराने की कोशिश

*** ३० नवम्बर १९१९ को रिजर्व ३७,४३८,३१७ पौंड स्टर्लिंग था जिसमें ३७,४११,२२४ पौंड स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज के रूप में था।**

करने लगी। यह नीति-परिवर्तन २४ जून १९२० से किया गया। पर इसमें भी उसे सफलता नहीं मिली और अन्त में हार मान कर उसने २८ सितम्बर को उल्टी हुण्डी बेचना बन्द कर दिया।

स्टर्लिंग की मांग अपरिमित-सी थी और वह मांग पूरी करने की सरकार की शक्ति अत्यन्त परिमित। ऐसी दशा में एक्सचेंज का गिरना स्वाभाविक था। जो दर १ जनवरी १९२० को २७½ पेंस स्टर्लिंग थी वह १ अगस्त १९२० को २२½ पेंस स्टर्लिंग हो चली थी। उसके बाद भी दर क्रमशः गिरती ही गई।

१९१९–२० और १९२०–२१ में सब मिलाकर सरकार ने ५५,५३२,००० पौंड स्टर्लिंग की उल्टी हुण्डियां बेचीं। सरकार को इसके बदले यहां ४७ करोड़ १४ लाख रुपए मिले। अगर पुरानी दर १६ पेंस रहती तो इतने रुपयों के बदले सरकार को कुल ३१,४२६,६६६ पौंड स्टर्लिंग बेचना पड़ता। इससे स्पष्ट है कि २४ पेंसवाली दर को कायम करने के प्रयत्न में सरकार ने २४,०००,००० पौंड स्टर्लिंग से अधिक गंवा दिया। यह धन भारतवासियों का था, जिसे सरकार ने उनके हानि-लाभ की तनिक भी परवा न कर बात-की-बात में लुटा दिया। पुरानी दर से २४,०००,००० पौंड स्टर्लिंग के ३६ करोड़ रुपए हुए।

स्टर्लिंग के लिए जो इतनी बड़ी मांग पैदा हो गई वह इस नई ऊंची दर के कारण ही। इसलिए यद्यपि यह कहा गया है कि उल्टी हुंडियों की बिक्री से प्रायः ३६ करोड़ की हानि हुई तथापि यह भी ध्यान में रखने की बात है कि अगर यह ऊंची दर सरकार-द्वारा स्वीकृत न होती तो स्टर्लिंग के लिए जो कृत्रिम मांग पैदा हो गई वह न होती और लन्दन में जो हमारा स्टर्लिंग धन था वह इस प्रकार हवा न हो जाता।

१९१९–२० में यहां से एक्सपोर्ट बहुत ही बड़े पैमाने पर हुआ। सोने-चांदी को छोड़ बाकी चीजों के इम्पोर्ट से एक्सपोर्ट प्रायः १२६ करोड़ रुपए अधिक का हुआ। पर स्थिति पलटते देर न लगी। १९२०–२१ में एक्सपोर्ट तो ३२७ करोड़ से २५८ करोड़ और इम्पोर्ट २०१ करोड़ से ३३२ करोड़ हो चला। १९२१–२२ में भी ऐसी ही अवस्था रही। जिस समय एक्सचेंज

१२

की दर २४ पेंस की जा रही थी उस समय इसके विरोधियों ने कहा था कि इस ऊंची दर का परिणाम यह होगा कि एक्सपोर्ट कम हो जायंगे और इम्पोर्ट बढ़ जायंगे—और सम्भवतः एक्सपोर्ट से इम्पोर्ट का पलड़ा भारी हो जायगा। ठीक यही हुआ। जून १९२० से ही यह पलड़ा भारी होने लगा और दोनों वर्षों के अंकों को मिला कर एक्सपोर्ट से इम्पोर्ट का पलड़ा प्रायः ९९ करोड़ रुपए भारी रहा। स्थिति में इस विपर्य्यय की बहुत बड़ी जिम्मेवारी एक्सचेंज की नई दर पर थी। सर वैलण्टाइन शिरोल अपनी India—Old and New (भारत—प्राचीन और नवीन) नामक पुस्तक में लिखते हैं :—

"बैबिंग्टन स्मिथ कमेटी की सिफारिश को भारत-सचिव ने स्वीकार कर लिया और फरवरी १९२० में नई दर को कायम करने के लिए उद्योग होने लगा, हालांकि जनवरी में ही इस बात का सबूत मिल गया था कि आर्थिक स्रोत की गति भारतवर्ष के प्रतिकूल होने लगी थी। रुपए की एक्सचेंज-दर २ शिलिंग सोना होने जा रही थी। कमेटी में इसके एकमात्र विरोधी बम्बई के सराफा बाजार के पारसी व्यापारी मि० मेरवान जी दलाल थे जिन्हें इस विषय का व्यावहारिक ज्ञान शायद कमेटी के बाकी सब मेम्बरों से अधिक था। उन्होंने सिफारिश की थी कि पुरानी एक्सचेंज-दर को बदला न जाय। शीघ्र ही यह बात प्रमाणित होनेवाली थी कि उनका यह कहना बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से पूर्ण था।"

उलटी हुण्डियों की बिक्री और सरकारी नीति की असफलता का उल्लेख करते हुए सर वैलण्टाइन आगे लिखते हैं :—

"जब सरकार ने यह घोषित कर दिया कि वह एक्सचेंज-दर २ शिलिंग सोना करने जा रही थी तब भारतीय व्यापारियों ने यह मान लिया कि वह ऐसा कर सकती थी और जरूर करेगी। लड़ाई के दिनों में उनका स्टॉक प्रायः खाली हो गया था—उन्होंने दो शिलिंग की रेट से हिसाब लगा कर कपड़े तथा दूसरी ब्रिटिश वस्तुओं के लिए बड़े-बड़े आर्डर दिए। उस समय दाम खूब तेज थे। पर माल भारतवर्ष में पहुँचते-पहुँचते रुपए की एक्सचेंज-दर काफी नीचे आ गई थी और दाम भी गिर पड़े थे। भारतीय इम्पोर्टर

ने देखा कि यह सौदा उसको बेतरह महंगा पड़ने जा रहा था। .....
बस, उसने माल छुड़ाने से ही इनकार कर दिया, क्योंकि माल छुड़ाने
का अर्थ था उसका सर्वनाश। उससे यह कहना कि व्यापारी को अपना
कौल-करार जरूर पूरा करना चाहिए, बिलकुल व्यर्थ था; वह इसका
उत्तर यह देता कि इस विषय में सरकार ही अपना उदाहरण सबके सामने
रख चुकी थी—उसने भी एक तरह का कौल-करार किया था कि वह
रुपए की कीमत दो शिलिंग कर देगी और उससे अपने वचन की रक्षा
न हो सकी थी। सरकार की ओर से कहा गया कि उसने कोई कौल-करार
नहीं किया था, पर भारतीय व्यापारी की ओर से इसका जवाब यह दिया
गया कि अब तक तो सरकार की बात को लोग इसी प्रकार का महत्व
देते आ रहे थे—यहां तो यही समझा जाता था कि उसने जो कुछ कह
दिया उसे वह पूरा करके ही रहेगी।"

सर वैलण्टाइन शिरोल भारतीय आकांक्षाओं के और भारत के
राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी और निन्दक थे; इसलिए उनका ऐसा लिखना
विशेषतापूर्ण है।

उलटी हुंडियों की बिक्री-द्वारा जो परिस्थिति पैदा की गई उसे उस
समय 'लूटपाट' कहा गया था। इसकी सार्थकता समझने के लिए कुछ बातें
ध्यान में रखने की हैं। लन्दन में हमारा जो धन संचित था वह १६ पेंस
या उससे कुछ ऊँची दर के हिसाब से—अर्थात् जब हमने १५) का माल बेचा
तब हमें लन्दन में एक पौंड स्टर्लिंग या उससे कुछ अधिक स्वीकार करना
पड़ा। पर जब दर २४ पेंस (सोना) कर दी गई और उसे ठहराने के लिए
उलटी हुंडियां बेची जाने लगीं तब एक पौंड स्टर्लिंग ७) में ही मिलने
लगा* । १५) की दर से हमने लन्दन में जो कुछ जमा किया था उसे

---

* स्टर्लिंग में उलटी हुंडियों की दर २७ $\frac{3}{32}$ पेंस से ३४ $\frac{3}{32}$ पेंस
तक थी। स्टर्लिंग सोने की अपेक्षा सस्ता था; इसलिए (२४ पेंस सोना)
३४ $\frac{3}{32}$ पेंस (स्टर्लिंग) होता था। ३४ $\frac{3}{32}$ पेन्स के हिसाब से एक
पौंड स्टर्लिंग प्रायः ७) का हुआ।

७) की दर से हमें छोड़ना पड़ा। यह लूट-खसोट नहीं तो और क्या था ?

इस लूट-खसोट के लिए दोषी कहां तक भारत-सचिव थे और कहां तक भारत-सरकार, इसका स्पष्टीकरण न हो सका। जनता की ओर से कई बार यह मांग पेश की गई कि सरकार इस सम्बन्ध में भुगते हुए पत्रों और तारों को प्रकाशित करे। पर उसने ऐसा नहीं किया। अनुमान—जिसकी पुष्टि इतिहास से होती है—यही है कि जो कुछ हुआ, भारत-सचिव की प्रेरणा और दबाव से।

२८ सितम्बर १९२० के बाद उलटी हुंडियों की बिक्री तो बन्द हो गई, पर कानूनन दर २४ पेंस (सोना) ही बनी रही—अर्थात् एक सॉवरेन के बदले सरकार केवल १०) देने को बाध्य थी। एक्सचेंज गिर जाने के कारण सॉवरेन की वास्तविक कीमत इससे कहीं ज्यादा थी; और ऐसी हालत में सॉवरेन करेन्सी के काम न आ सकते थे।

सरकार रुपए लेकर बदले में स्टर्लिंग दे रही थी। इसका अर्थ यह हुआ कि चलन से रुपए या नोट निकले जा रहे थे। १ फरवरी और १५ सितम्बर १९२० के बीच उलटी हुंडियों की बिक्री के फलस्वरूप नोटों का चलन १८५ करोड़ रुपए से घट कर १५८ करोड़ रुपए हो गया था। इसके अलावा रुपयों के चलन में भी कमी हुई थी। सिद्धान्ततः सरकार के लिए यह सम्भव था कि रुपयों की कमी करके एक्सचेंज की दर को जो चाहती, कर देती। पर व्यवहार में ऐसी कमी करना उस समय सरकार के बस की बात नहीं थी। इसलिए वह ऐसी कृत्रिम दर को न ठहरा सकी।

पर कुछ भी हो, हमारे शासकों का ध्येय यही बना रहा कि रुपए का विनिमय-मूल्य २ शिलिंग सोना कर दिया जाय, और वे इसके लिए अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा करने लगे।

फरवरी १९२० में चांदी के इम्पोर्ट का रास्ता खुल गया और प्रतिबन्ध एक-एक कर हटाए जाने लगे। २१ जून को सोने का इम्पोर्ट भी खुल गया। पेपर करेन्सी रिजर्व-सम्बन्धी विधान में संशोधन कर यह व्यवस्था की गई कि सिक्यूरिटीज की हद तो १२० करोड़ ही रहे पर ऐसा कोई नियम न

हो कि इतनी सिक्यूरिटीज तो स्टर्लिंग में रहे और इतनी रुपए में। इस विधान में दूसरे ऐक्ट द्वारा और भी हेर-फेर किए गए। रिजर्व में जो सिक्यू-रिटीज और सोना था उनकी कीमत नई दर से लगाई गई। एक सॉवरेन पहले १५) के नोट की पुश्ती करता था, अब १०) के नोट की पुश्ती करने लगा। इस कारण रिजर्व में कुछ कमी पड़ी, जिसकी पूर्ति भारत-सरकार ने अपने कागज रिजर्व को देकर कर दी।

१८ पेंस का रुपया

जिस समय उलटी हुंडियों की विक्री शुरू हुई (फरवरी १९२०) प्रायः उसी समय से चांदी का भाव गिरने लगा। उस समय दाम ८२ और ८९।। पेंस के बीच था, पर सितम्बर १९२० तक ५७$\frac{१}{८}$ और ६०$\frac{३}{४}$ पेंस के बीच आ चुका था। उसके बाद चांदी के दाम यों रहे :—

	ऊंचे-से-ऊंचा पेंस	नीचे-से-नीचा पेंस
जनवरी १९२०	४२$\frac{१}{२}$	३५$\frac{१}{८}$
दिसम्बर ,,	३७$\frac{५}{८}$	३४$\frac{१}{२}$
१९२२	३७$\frac{३}{८}$	३०$\frac{३}{८}$
१९२३	३३$\frac{१}{१६}$	३०$\frac{१}{२}$
१९२४	३६$\frac{१}{१६}$	३१$\frac{१}{२}$
१९२५	३३$\frac{७}{१६}$	३१$\frac{१}{१६}$

एक्सचेंज का क्रम यह रहा :—

		स्टर्लिंग पेंस	सोना पेंस
१ जनवरी	१९२१	१७$\frac{१}{४}$	१२$\frac{१५}{३२}$
,,	१९२२	१५$\frac{१५}{१६}$	१३$\frac{२५}{३२}$
,,	१९२३	१६$\frac{१}{३२}$	१५$\frac{३}{३२}$
,,	१९२४	१७$\frac{५}{३२}$	१५$\frac{१}{१२}$
,,	१९२५	१८$\frac{१}{१६}$	१७$\frac{२१}{३२}$

धीरे-धीरे स्टर्लिंग की कीमत बढ़ती गई और जून १९२५ में

में फिर सोने के मान या स्टैण्डर्ड की प्रतिष्ठा हो गई। उसके बाद स्टर्लिंग और सोने में मूल्य-सम्बन्धी एकता हो चली।

१ अगस्त १९२१ को रुपए की एक्सचेंज-दर स्टर्लिंग में १५$\frac{१३}{३२}$ पेंस और सोने में ११$\frac{३}{३२}$ पेंस थी। पर कानूनन दर वही २४ पेंस (सोना) थी—अर्थात सरकार एक सॉवरेन के बदले १०) से ज्यादा देने को तैयार नहीं थी। जाहिरा तौर पर वह चुपचाप बैठी हुई थी, कुछ नहीं कर रही थी; पर असलियत में उसने अपनी इस नीति-द्वारा नई करेन्सी की पैदाइश को रोक रखा था। उद्देश था धीरे-धीरे रुपए को महंगा करके उसके मूल्य में मनमानी वृद्धि करना। अनुकूल परिस्थिति का अर्थ था रुपए का ऐसा अभाव कि लोग उसकी कीमत ज्यादा देने को मजबूर हो जायं। कुछ न करके सरकार वास्तव में ऐसे अभाव को प्रकृत या यथार्थ करना चाहती थी।

२४ जनवरी १९२२ को व्यवस्थापिका परिषद् में सर विट्ठलदास ठाकरसी ने इस आशय का एक प्रस्ताव उपस्थित किया कि—

"एक ऐसी कमेटी नियुक्त की जाय जिसके अधिकांश मेम्बर भारतवासी हों और जो निम्नलिखित विषयों पर विचार करे :—

(१) करेन्सी और एक्सचेंज-सम्बन्धी वर्तमान नीति;

(२) भारतीय टकसालों में सोने के सिक्कों की अवाधित ढलाई;

(३) गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व को लन्दन से हटा कर भारतवर्ष में रखने की आवश्यकता।"

उस समय तक दाम काफी गिर चुके थे। कपास, पाट, चाय, लोहा, प्राय: सभी चीजों के दाम नीचे हो रहे थे। अगर १९१३ के दाम को १०० मान लें तो फरवरी १९२० में दाम इस प्रकार थे :—

ग्रेट ब्रिटेन	३०३
अमेरिका	२३२

और ये दाम गिर कर जनवरी १९२२ में क्रमश: १५९ और १३८ हो गए थे।

भारतवर्ष में जुलाई १९१४ का दाम १०० माना जाय तो १९२०

का औसत २०४ बैठता था और १९२१ का १८१ होता था। जनवरी १९२० में यहां के दाम का 'इण्डेक्स नम्बर'—अर्थात् 'सूचक अंक' १७८ था।

चांदी की बात ऊपर कही जा चुकी है। बैबिंग्टन स्मिथ कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि:—

"अगर लोगों के विश्वास के प्रतिकूल, संसार में चीजों के दाम तेजी से गिर पड़े तो यह उलट-फेर कर देनेवाली एक नई बात होगी। इस हालत में हो सकता है कि भारतवर्ष में मजूरी आदि इसी हिसाब से न गिरे और भारतवर्ष से एक्सपोर्ट इतना कम हो कि जिस एक्सचेंज-दर की हम लोग सिफारिश कर रहे हैं उसे कायम रखना असम्भव हो जाय। अगर परिस्थिति सचमुच ऐसी हो जाय तो इस विषय पर नए सिरे से विचार करना और तदनुकूल कार्य करना आवश्यक होगा।"

सर विट्ठलदासका कहना था कि परिस्थिति इस समय सचमुच ऐसी ही हो रही थी, इसलिए आवश्यक था कि सारे विषय पर फिर से विचार किया जाय और २४ पेंसवाली फरजी दर के कारण व्यापारियों को जो दुविधा या चिन्ता हो रही थी उसका अन्त कर दिया जाय।

पर सरकार की ओर से यही उत्तर मिला कि अभी कुछ भी करना ठीक न होगा—अभी कुछ और ठहरिए और देखिए कि स्थिति कैसी होती है।

२० जनवरी १९२० से भारत-सचिव ने भारत-सरकार पर हुंडी करना बन्द कर दिया। तीन साल तक इन हुण्डियों की बिक्री बन्द रही। जब एक्सचेंज-रेट १६ पेंस स्टर्लिंग हो चली तब फिर हुण्डियां बिकने लगीं। इस बीच में भारत-सचिव अपना काम ब्रिटिश सरकार से भारत-सरकार का पावना वसूल कर और लन्दन में कर्ज लेकर चलाते रहे। इधर सरकारी बजट में टोटा होने लगा था। १९१८-१९ और १९२२-२३ के बीच प्रायः ९८ करोड़ का टोटा रहा। इसके कई कारण थे—साधारण व्यय में वृद्धि, १९१९ के अफगान-युद्ध का खर्च और एक्सचेंज को २४ पेंस (सोना) करने का प्रयत्न। लेहाजा सरकार को लन्दन में काफी कर्ज लेना पड़ा, जो इस प्रकार था:—

१९२१-२२ में	१३,५००,०००	पौंड	स्टर्लिंग
१९२२-२३ में	३२,५००,०००	"	"
१९२३-२४ में	२०,०००,०००	"	"

सरकारी दर २४ पेंस सोना होने के कारण नई करेन्सी की पैदाइश बन्द थी ही, उधर सरकारी नीति के कारण जो करेन्सी मौजूद थी उसका भी संकोच हो रहा था। यह संकोच कई प्रकार से किया जा सकता था। जब रुपया चलन में जाता है तब करेन्सी का विस्तार होता है; जब रुपया चलन मे खिंच कर सरकारी खजाने या रिजर्व में पहुंच जाता है तब करेन्सी का संकोच होता है। जब भारत-सचिव भारत-सरकार के नाम हुंडियां बेचते और यहां उन हुंडियों के भुगतान के लिए रुपए दिए जाते तब करेन्सी का विस्तार होता। इसके विपरीत जब भारत-सरकार लोगों से रुपए लेकर उलटी हुंडियां बेचती तब करेन्सी का संकोच होता। १ जनवरी १९२० और ३१ अगस्त १९२४ के बीच इस प्रकार प्रायः ४५॥। करोड़ रुपए का संकोच हुआ। इसी तरह जब सरकार कर्ज लेती तो करेन्सी का संकोच होता, और जब कर्ज चुकाती तब करेन्सी का विस्तार।

सरकार की नीति कुछ हद तक सफल हो चली और सितम्बर १९२४ में एक्सचेंज-दर १६ पेंस (सोना) पर आ गई। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने उस समय व्यवस्थापिका परिषद् में दो बिल पेश कर यह विधान कराना चाहा कि स्थायी रूप से एक्सचेंज १६ पेंस (सोना) कर दिया जाय। पर इन बिलों पर परिषद् में विचार न हो सका। इस समय अर्थ-सदस्य सर बेसिल ब्लैकेट थे। उन्होंने सरकारी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए १९ सितम्बर को कहा कि :—

"ऐसे समय में जब कि हॉलैण्ड, स्विटजरलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका जैसे देश भी स्टर्लिंग की गति के विषय में कुछ और निश्चयपूर्वक जाने बिना सोने के मान या स्टैण्डर्ड की स्थापना को अपने लिए जोखिम का काम समझते हैं, भारत-सरकार रुपए की एक्सचेंज-दर को सोने में अभी निश्चित कर देना भारतवर्ष के लिए हितकर नहीं समझती।"

बात यह थी कि सरकार की नीयत १६ पेंस (सोना) से ऊंची दर करने

की थी और वह जिस अवसर की प्रतीक्षा में थी वह अभी पहुंचा नहीं था।

१९२३ में बाजार में रुपए की तंगी यहां तक बढ़ गई कि बैंक-रेट ५ प्रतिशत से ९ प्रतिशत कर दी गई। जुलाई १९२४ में बंगाल चेम्बर की कमेटी ने सरकार के पास एक आवेदनपत्र भेजा जिसमें इस तंगी की शिकायत करते हुए उसने कहा था :—

"प्रत्येक प्रगतिशील देश के लिए प्रतिवर्ष करेन्सी में वृद्धि आवश्यक है। पर भारतवर्ष में जैसी परिस्थिति है उसमें यह वृद्धि हो ही नहीं सकती। इसीलिए यहां रुपए की ऐसी टान हो रही है। एक्सचेंज-दर २४ पेंस होने के कारण यह संभव नहीं कि सोना या सॉवरेन लाकर कोई सरकार को दे और बदले में नोट ले। फिर भारत-सचिव द्वारा जो हुंडियां बेची जाती हैं उनके फलस्वरूप भी आजकल साधारणतः करेन्सी की वृद्धि नहीं होती। अगर इन हुण्डियों का भुगतान करेन्सी रिजर्व से होता, तो करेन्सी की वृद्धि हो सकती थी। पर अब तो सिर्फ यह होता है कि इम्पीरियल बैंक में जो रुपया एक खाते में जमा है वही दूसरे खाते में डाल दिया जाता है—करेन्सी में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती।"

अर्थ-सदस्य ने परिषद् में यह स्वीकार किया कि रुपए की काफी तंगी हो रही थी, पर इसके इलाज के बारे में उन्होंने इतना ही कहा कि सरकार इस बात की भरपूर चेष्टा करेगी कि स्टर्लिंग के बदले यहां लोगों को करेन्सी दी जाय। साथ ही उन्होंने कहा कि:—

"कोई भी कार्रवाई करने से पहले इस बात का ध्यानपूर्वक विचार करना होगा कि १६ पेंस सोना या इससे भी ऊंची दूसरी दर भारतवासियों के हक में अच्छी होगी। यह विचार करते समय उन लोगों के हित को खास तौर से याद रखना होगा, जो कर या टैक्स देते हैं और जो माल के खरीदार और काम में लानेवाले हैं।"

इन शब्दों से ही स्पष्ट हो गया कि सरकार की असली नीयत क्या थी। उस समय रुपए की कीमत स्टर्लिंग में १८ पेंस थी। सरकार चाहती थी कि जब इंगलैण्ड में स्टर्लिंग और सोना दोनों में फिर एकता हो जाय और वहां

सोने का मान या स्टैण्डर्ड फिर स्थापित हो जाय तब रुपए की एक्सचेंज-दर भी बराबर के लिए १८ पेंस सोना हो चले। भारत-सचिव इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वह १८ पेंस (सोना) से भी ऊंची दर के इच्छुक थे। पर भारत-सरकार को वस्तुस्थिति का जैसा ज्ञान था वैसा उनको नहीं। सरकार जानती थी कि अगर इससे भी ऊंची दर के लिए प्रयत्न किया गया तो यहां ऐसी भयंकर स्थिति पैदा हो जायगी जिसे संभालना संभवतः उसके लिए असंभव हो जायगा। ८ अक्तूबर १९२४ को उसने भारत-सचिव को तार दिया—

"अब आम तौर से लोग यह समझने लगे हैं कि बाजार में रुपए की जो तंगी है वह सरकार के करेन्सी का संकोच करने या उसके विस्तार को रोक देने का फल है।"

उसी तार में यह भी कहा गया था कि "अगर हम पेच जड़ने ही गए और रुपए की तंगी बढ़ती ही गई तो आर्थिक संकट उपस्थित होने का बड़ा खतरा है।"

फिर भी भारत-सचिव की राय न बदली—वह यही चाहते रहे कि एक्सचेंज की ऊपरी हद न बांधी जाय। हां, वह इतना करने को राजी हुए कि किसी एक हफ्ते में ½ पेनी से अधिक एक्सचेंज को न उठने दिया जाय।

११ अक्तूबर को भारत-सरकार ने फिर तार दिया—

"भारत के हित को, और भविष्य में अपनी आर्थिक जिम्मेवारी को, देखते हुए हम समझते हैं कि १८ पेंस से ऊंची दर मुनासिब न होगी।"

उसने जिस नीति का समर्थन किया वह उसीके शब्दों में यह थी:—

"अपने मन में हम यह निश्चित कर लें कि रुपए की एक्सचेंज-दर १८ पेंस स्टर्लिंग की जायगी, और तब तक कुछ न करें जब तक स्टर्लिंग और सोना इन दोनों का मूल्य एक नहीं हो जाता।"

उस समय सारे विषय पर एक नए करेन्सी कमीशन द्वारा विचार होने जा रहा था। रेट के सम्बन्ध में केवल विचार का अभिनय होनेवाला था, क्योंकि विचार तो सरकार पहले ही कर चुकी थी, और होना वही था जो उसे मंजूर था। भारत-सचिव तो और भी ऊंची दर चाहते थे, इसलिए भारत-सरकार की नीति के सम्बन्ध में उन्होंने उसे व्यंग-पूर्वक लिखा

कि जिस समय कमीशन अपनी कार्रवाई शुरू करनेवाला था उसी समय उसको यह जता देना कि इस विषय का निर्णय हो चुका था, और कुछ हो या न हो, शिष्टाचार नहीं था।

कमीशन की नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकार ने अपना इरादा जनवरी १९२५ में जाहिर किया। उस समय रुपए की दर १८ पेंस (सोना) के आस-पास पहुंच चुकी थी। ग्रेट ब्रिटेन में मई १९२५ में सोने के मान या स्टैण्डर्ड की फिर से स्थापना हुई। २५ अगस्त को हिल्टन यंग की अध्यक्षता में कमीशन की नियुक्ति हुई।

इस कमीशन के चार मेम्बर भारतवासी थे— सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, सर राजेन्द्रनाथ मुकर्जी, सर मानिकजी दादाभाई और अध्यापक जहांगीर कुबेरजी कोयाजी। इनमें सर पुरुषोत्तमदास को छोड़ और किसीके सम्बन्ध में जनता को यह विश्वास नहीं था कि वह विचार-स्वातन्त्र्य का परिचय दे सकेंगे या सरकार की इच्छा के विरुद्ध जा सकेंगे। कमीशन की दूसरी विशेषता यह कही जा सकती है कि जहां पहले की कमीशन-कमेटियों ने इस विषय के अनुसन्धान के लिए भारतवर्ष में आने की और गवाहियां लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी वहां इस कमीशन ने इस देश में भी गवाहियां लीं और अनुसन्धान किया। कमीशन ने प्रायः एक वर्ष बाद अपनी रिपोर्ट दाखिल की। सर पुरुषोत्तमदास ने बहुमत के विरुद्ध अपना अलग नोट या वक्तव्य दिया। रुपए की दर जून १९२५ में ही १८ पेंस (८.४७५१ ग्रेन) सोना हो गई थी और कमीशन की रिपोर्ट निकलने तक यह दर प्रायः एक साल अपनी जगह कायम रह चुकी थी।

अप्रैल १९२६ में एक्सचेंज कुछ कमजोरी दिखाने लगा। सरकार ने करेन्सी में ८ करोड़ की कमी कर दी और १७।।। पेंस की दर से उलटी हुण्डी बेचने को तैयार हो गई। १९२२ में तत्कालीन अर्थ-सदस्य के द्वारा सरकार वचन दे चुकी थी कि जब कभी फिर उलटी हुण्डी बेचने की नौबत आवेगी तब सरकार परिषद् की सम्मति लिए बिना कोई कार्रवाई न करेगी। पर १९२६ में बिना परिषद् से पूछताछ किए ही वह उलटी हुण्डी बेचने को तैयार हो गई।

बहुमत ने एक्सचेंज के सम्बन्ध में वही राय दी जिसकी उससे आशा की जा सकती थी—यह कि एक्सचेंज को १८ पेंस पर टिका दिया जाय। उसकी खास दलील यह थी कि इस दर को कायम हुए इतना समय हो चुका—देश में चीजों के दाम और मजूरी का इससे बहुत कुछ मिलान हो चुका है—अब इसको हटाकर दूसरी दर कायम करने से बड़ी गड़बड़ी होगी। पाठकों को याद होगा कि फौलर कमेटी ने १६ पेंस के पक्ष में भी ऐसी ही बातें कही थीं। १६ पेंस की तरह १८ पेंस भी कृत्रिम ढंग से पैदा किया गया और कुछ महीनों के लिए टिकाया गया। फिर एक करेन्सी कमीशन ने आकर यह कहा कि जो चीज जमी हुई है उसे उखाड़ने की सलाह हम दे ही कैसे सकते हैं!

मिलानवाली दलील यह है कि एक्सचेंज उठने से दाम गिरते हैं, मजूरी सस्ती हो जाती है—और किसान-जैसे उत्पादक को जहां अपना गल्ला बेचने पर कम रुपया मिलता है वहां साथ ही और चीजें सस्ती होने के कारण उसका खर्च भी कम पड़ता है—इसलिए वह अन्त में न नफे में रहता है, न घाटे में। एक्सचेंज की घटाबढ़ी थोड़े समय के लिए किसीको लाभ पहुंचा सकती है, और किसीको हानि। पर अन्त में सब चीजों का उससे मिलान हो जाता है और यह मिलान हो जाने पर हानि-लाभ का प्रश्न ही जाता रहता है। लेना-देना समान हो गया, किसीकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

बात ठीक-सी जंचती है, पर इस सम्बन्ध में कई प्रश्न किए जा सकते हैं। क्या गल्ले का दाम गिरने के साथ सरकार ने या जमींदारों ने किसानों से कम लगान लेना शुरू कर दिया था? क्या महाजन इस बात पर राजी हो गए थे कि ब्याज में कमी कर देंगे? क्या मजूरों ने सचमुच खुशी-खुशी अपनी मजूरी में कटौती मंजूर कर ली थी, और क्या रेल-भाड़ा अब दाम गिरने से घटा दिया गया था? अगर नहीं, तो कैसे कहा जा सकता था कि मिलान हो चुका था? भारतवर्ष का भीतरी व्यापार उसके विदेशी व्यापार से कई गुना बड़ा है। इस भीतरी व्यापार की सैकड़ों चीजें ऐसी हैं जो कभी एक्सचेंज या इम्पोर्ट की लिस्ट पर नहीं चढ़तीं और जिनपर

एक्सचेंज का असर पड़ता ही नहीं, और पड़ता भी है तो वहुत कम या वहुत समय वाद। चावल, गेहूं, कपास या पाट के दाम पर तो एक्सचेंज का असर फौरन पड़ गया और किसान को कम पैसे मिलने लगे। पर उसका बोझ प्रायः ज्यों-का-त्यों बना रहा। मिलान उसके लिए सार्थक न हो सका। उसे लगान वही देना पड़ता है, महाजन को ब्याज वही देना पड़ता है, खेत में काम करनेवालों को मजूरी वही देनी पड़ती है। कितनी ही चीजों के, जो उसके काम आनेवाली है, उसे प्रायः दाम भी वही देने पड़ते हैं जो पहले देने पडते थे। अगर कहा जाय कि इम्पोर्ट की चीजें सस्ती हो गईं तो इसका जवाब यह है कि किसान आखिर इनपर खर्च ही कितना करता है ?

सर पुरुषोत्तमदास ने अपने वक्तव्य में इस विषय की विस्तृत आलोचना की और दिखाया कि १८ पेंस दर के कारण दामों में या मजूरी में जितनी कमी होनी चाहिए थी, नहीं हुई थी; इसलिए मिलानवाली दलील थोथी थी। उधर पुरानी दर १६ पेंस को फिर से कायम करने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता था। वह प्रायः २० वर्ष तक इस देश में मूल्य का मान रह चुकी थी। अभी तक यह साबित नहीं हुआ था कि वह दर कायम नहीं रखी जा सकती। महासमर के समय की परिस्थिति असाधारण थी। और देशों को भी उस समय मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। वैबिंग्टन स्मिथ कमेटी की नियुक्ति ऐसे समय में हुई थी जब कि स्थिति अस्वाभाविकता और कृत्रिमता से परिपूर्ण थी। सरकार भी उसकी बात मानकर ऐसें समय में कार्रवाई करने चली जब कि और किसी भी देश की ओर से अपनी मुद्रा-सम्बन्धी समस्या को हल करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ था। अगर दर २४ पेंस न की जाती, और १६ पेंस रहने दी जाती, तो न तो इतनी हैरानी-परेशानी उठानी पड़ती, न इतना नुकसान होता। दर इससे नीचे गिरती भी तो बहुत कम समय के लिए। पर जो हुआ, हुआ—अब भी सरकार को चाहिए कि १९१९–२० की भयंकर भूल के दुष्परिणाम से देश को बचावे और १६ पेंस दर को फिर से कायम कर दे।

सर पुरुषोत्तमदास ने अपने वक्तव्य में इस प्रश्न के और पहलुओं पर

भी विचार किया और प्रमाणित कर दिया कि प्रत्येक दृष्टि से पुराना चावल ही हमारे लिए पथ्य हो सकता था ।

कमीशन की दूसरी सिफारिशें यह थीं:—

(१) चलन में नोट और रुपए रहें और सरकार इनके बदले सोना देने को बाध्य हो, पर वह सोना इस रूप में हो कि उसका मुद्रा की तरह उपयोग न हो सके ।

(२) करेन्सी-सम्बन्धी सारी व्यवस्था एक बड़ी बैंक के हवाले कर दी जाय जिसका नाम रिजर्व बैंक हो ।

(३) सॉवरेन अब सिक्का न रहे और उसे लेने-देने को कोई बाध्य न हो ।

(४) कागज के नोटों के बदले जो रुपए देने की व्यवस्था है वह धीरे-धीरे उठा दी जाय । जो पुराने नोट चलन में हैं उनके लिए तो यह व्यवस्था रहे, पर नए नोटों के लिए न रहे । पर कानूनन ऐसी व्यवस्था न होते हुए भी व्यवहार में नोटों के बदले रुपए दिए जायं । एक रुपए के नोट फिर से जारी किए जायं । करेन्सी-विभाग को अधिकार हो कि वह एक रुपए के नोटों को छोड़ बाकी नोटों के बदले या तो कम कीमत के दूसरे नोट दे सके या—अगर वह चाहे तो—रुपए ।

(५) रुपया लेने-देने को लोग बाध्य बने रहें पर नए रुपए तब तक न ढाले जायें जब तक चलन में उनका परिमाण काफी कम न हो जाय।

(६) पेपर करेन्सी और गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व मिला दिए जायं, और उस संयुक्त रिजर्व में सोना, चांदी या सिक्यूरिटीज का परिमाण क्या हो, यह कानून-द्वारा निश्चित कर दिया जाय ।

(७) हुंडियों और चेकों पर जो स्टाम्प-ड्यूटी है वह उठा दी जाय ।

सोने के जिस मान या स्टैण्डर्ड की कमीशन ने सिफारिश की थी उसमें सिक्कों का कोई स्थान नहीं था। कमीशन की राय सोने के सिक्कों के चलन के खिलाफ थी; इसलिए उसने सिफारिश की थी कि करेन्सी-विभाग सोना लेने-देने को बाध्य तो हो पर वह सोना सिक्कों के रूप में न होकर सिल,या पासे के रूप में हो, और ४९० औंस से कम लेने-देने का किसीको

अधिकार न हो। कमीशन ने इस स्टैण्डर्ड को गोल्ड बुलियन स्टैण्डर्ड—अर्थात् सोने का धात्वात्मक मान बताया। जो गोल्ड एक्स्चेंज स्टैण्डर्ड फौलर-कमेटी की सिफारिश को ठुकरा कर यहां स्थापित किया जा चुका था उसे कायम रखने की कमीशन ने सलाह नहीं दी। उसने इसका एक दोष तो यह बताया कि ऐसी मुद्रा-प्रणाली में रुपयों का चलन अनिवार्य था और चांदी में एक हद से ज्यादा तेजी आते ही रुपए गायब हो सकते थे। वैसी हालत में इलाज यही हो सकता था कि कम कीमत के नोट निकाले जायं—या 'निकल' के सिक्के जारी किए जायं, या रुपए में चांदी की मात्रा घटा दी जाय। पर कमीशन की राय में इस प्रणाली का खास दोष यह था कि यह सरल न होकर जटिल थी—इसे समझना सबके लिए आसान नहीं था—लोगों को अपने इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर न मिल सकता था कि नोट या रुपए के पीछे पुश्ती करनेवाली और उसकी कीमत ठहराने वाली आखिर कौन सी चीज है? इसपर जनता का जैसा विश्वास होना चाहिए, नहीं था; और बहुत से लोगों का यह खयाल (गलत ही सही) था कि इसमें ऐसी कारसाजी के लिए बहुत गुंजाइश थी जिससे भारत का अनिष्ट हो सकता था। कमीशन ने जिस स्टैण्डर्ड की सिफारिश की उसके विषय में सर पुरुषोत्तमदास का कहना था कि अगर सोना भारतवर्ष में आने से रोका न जाय या उसके मार्ग में बिना व्यवस्थापिका परिषद् की स्वीकृति के, किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय, तो मैं भी सोने के इस धात्वात्मक मान या स्टैण्डर्ड के पक्ष में हूं।

कमीशन ने रिजर्व बैंक की स्थापना की जो सिफारिश की थी उसके विषय में सर पुरुषोत्तमदास का मत था कि इम्पीरियल बैंक को ही ऐसी संस्था का रूप दे दिया जाय और कोई नई संस्था खड़ी न की जाय।

कमीशन की सिफारिशों में जो रुपए की एक्सचेंज-दर से सम्बन्ध रखती थी वह लोगों को विशेष आपत्तिजनक जंची और उसके विरुद्ध एक देशव्यापी आंदोलन खड़ा हो गया। यह आंदोलन अभूतपूर्व था, क्योंकि इससे पहले कभी ऐसी सिफारिश या सरकारी कार्रवाई का ऐसा संगठित विरोध देखने में नहीं आया था। बात यह थी कि १८९३ या १८९८ की अपेक्षा

आज जनता कहीं अधिक जाग्रत थी। १९१९-२० से भी वह बहुत आगे बढ़ गई थी। इसका श्रेय महात्मा गांधी को था। लोग इतने दिनों से बराबर यही देखते आ रहे थे कि सरकार को अपनी मुद्रा-संबंधी नीति-रीति वही रखनी पड़ती थी जो इंगलैण्ड के व्यापारियों या पूंजीपतियों के हक में अच्छी थी, न कि इस देश की जनता के। इस नीति-रीति का उद्देश होता आया था भारतवर्ष का दोहन कर इंगलैण्ड के मुंह में धारोष्ण पहुंचा देना। १६ पेंस की जगह १८ पेंस एक्सचेंज करने की तैयारी भी इसी नीयत से थी। इसमें भारतवर्ष के उत्पादकों की, करोड़ों किसानों की, हानि थी। लाभ था ब्रिटिश व्यवसायियों का--इस देश में ब्रिटिश माल मंगानेवालों का, यहां के ब्रिटिश कर्मचारियों का।

सरकार ने निश्चय किया कि व्यवस्थापिका सभा-द्वारा सबसे पहले एक्सचेंज की नई दर पास करा ली जाय, फिर और विषयों को हाथ में लिया जाय। यह जानी हुई बात थी कि व्यवस्थापिका सभा में जनता के प्रतिनिधियों की ओर से इस प्रस्ताव का घोर-से-घोर विरोध होगा। इसलिए सरकार ने भी अपनी पूरी शक्ति लगा कर १८ पेंस को पास कराने की तैयारी शुरू कर दी।

२७ और २८ मार्च १९२७ को परिषद् में इस विषय पर वाद-विवाद हुआ। अर्थ-सदस्य सर बेसिल ब्लैकेट ने इसका श्रीगणेश करते हुए उन परिणामों का एक बड़ा ही भयंकर चित्र खींचा, जो १८ की जगह १६ पेंस के ग्रहण से उपस्थित होनेवाले थे। उनके कहने का सारांश यह था कि अगर एक्सचेंज की दर १६ पेंस कर दी जायगी तो दाम चढ़ेंगे, और दाम चढ़ने से चारों ओर बड़ी अशांति पैदा हो जायगी। मजूरों के तथा ऐसे लोगों के हक में, जिनकी आमदनी बंधी या निश्चित है, इस प्रकार की महंगी बहुत ही बुरी चीज होगी।

वास्तव में दाम बढ़ने की कोई संभावना नहीं थी, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, १८ पेंस के कारण दाम या मजूरी अभी यथेष्ट परिमाण में गिरी नहीं थी। अगर रेट उस समय १६ पेंस कर दी जाती तो अवस्था में विशेष अन्तर पड़ने का कोई कारण नहीं था। गिरने के बजाय दाम जहां थे, प्रायः वहीं बने रहते। उठने की बात तो विभीषिका-मात्र थी, जिसका

उद्देश था कुछ लोगों को डर दिखा कर उनकी सहानुभूति प्राप्त कर लेना। सर पुरुषोत्तमदास ने इस दलील का जवाव देते हुए अपने वक्तव्य में बहुत ही ठीक लिखा था कि :—

"हमारे साथियों ने जो दलील पेश की है उसमें देखने की बात तो आखिर यही है कि जो चीजें यहां पैदा या सर्फ होती हैं उनके दामों में १६ पेंस दर के कारण कितनी वृद्धि होगी। हमारे साथियों का कहना है कि दामों का मिलान १८ पेंस की दर से बहुत कुछ हो चुका है—अर्थात् दाम उस हद तक गिर चुके हैं, इसलिए अगर दर १६ पेंस कर दी गई तो दामों में पूरे १२॥ प्रतिशत की वृद्धि होगी। पर मैं इसे नहीं मानता। मैं यह दिखा चुका हूं कि दामों का मिलान अभी बहुत कुछ होना बाकी है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि जो होना चाहिए उसका अधिकांश अभी नहीं हुआ है—अर्थात् दाम अभी गिरे नहीं, गिरनेवाले हैं। ऐसी हालत में अगर दर १६ पेंस कर दी गई तो आर्थिक स्थिति में जो उलट-फेर होगा वह बहुत ही तुच्छ या नगण्य होगा और उससे हानि भी होगी तो वहुत ही कम लोगों की। पर अगर दर १८ पेंस हुई तो घोर आर्थिक विपर्य्यय हुए बिना न रहेगा। उस विपर्य्यय का अभी आरम्भ ही हुआ है, उसके बुरे-से-बुरे फल तो फलने ही को हैं।"

परिषद् में उस समय लोक-पक्ष तीन दलों या पार्टियों में विभक्त था। एक तो स्वराज्य पार्टी थी, जिसके नेता पंडित मोतीलाल नेहरू थे; दूसरी नैशनलिस्ट पार्टी, जिसके नेता पं० मदनमोहन मालवीय थे; और तीसरी इंडिपेण्डेंट (स्वतंत्र) पार्टी, जिसके नेता मि० जिन्ना थे। १८ पेंस की दर का सभी ने विरोध किया। लोक-पक्ष की ओर से पहला भाषण पं० मदन-मोहन मालवीय का हुआ। वह इस विषय के इतिहास से पूरी तरह अभिज्ञ थे और १८९३ से ही देखते आ रहे थे कि सरकार की करेन्सी और एक्सचेंज-सम्बन्धी नीति इस देश के लिए कितनी अनिष्टकर थी। उन्होंने अपने भाषण में इस दलील की धज्जियां उड़ा दीं कि १८ पेंसवाली दर पूरी तरह जम चुकी थी, उसे उखाड़ने से बहुत लोगों को गहरी हानि होने का डर था :—

"अर्थ-सदस्य ने कहा है कि यह दर प्रायः दो साल से कायम है। उनका कहना है कि खुदा के वास्ते अब इस दर को कोई हाथ न लगावे! वह इस बात

की विस्मृति-सी दिखाते हैं कि हम लोगों ने १९२४ में ही एक्सचेंज को स्थिर कर देने का आग्रह किया था। हम लोगों का प्रस्ताव था कि एक्सचेंज १६ पेंस कर दिया जाय—यह उन्हें स्वीकार क्यों न हुआ? उस समय तो उन्हें इतना भी स्वीकार न हुआ कि रायल (शाही) कमीशन-द्वारा इस विषय पर विचार कराया जाय। बाद में उन्होंने इसे स्वीकार भी किया तो लोकमत का निरादर-सा करते हुए। कमीशन के मेम्बरों की नामावली प्रकाशित होते ही हम लोग समझ गए थे कि फैसला वही होनेवाला है जो सरकार को मंजूर है। हम लोगों को इस बात का निश्चय हो गया था कि उसका निर्णय १८ पेंस के ही पक्ष में होनेवाला है।"

इसके बाद जो बहस हुई उसमें खास हिस्सा लेनेवाले सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, श्रीयुत घनश्यामदास बिड़ला, मि० जिन्ना, मि० जमनादास मेहता और सर विक्टर सैसून थे—जो सब-के-सब १६ पेंस के पक्षपाती थे। दो-एक अंगरेज मेम्बरों ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया। बड़ी सरगर्मी से बहस हुई और १८ पेंस के पक्ष में जो दलीलें दी गई थीं उनकी बड़ी छीछा-लेदर की गई। वोटों के लिए काफी खींचातानी रही और सरकार ने सचमुच अपनी पूरी ताकत लगा दी। अन्त में जब वोट लिए गए तब सरकार के पक्ष में आए ६८ और विपक्ष में ६५—अर्थात् तीन वोटों से सरकार की जीत रही, और १८ पेंस कायम रह गया।

जो विधान पास हुआ उसके द्वारा व्यवस्था यह हुई कि सरकार को कोई जितना सोना चाहे २१≡)१० तोले के हिसाब से बेच सकता था। सोने को बम्बई टकसाल में पहुंचाना पड़ता और कोई भी पासा ४० तोले से कम का न हो सकता था। नोटों या रुपयों के बदले सरकार उसी दर से बम्बई में सोना—या वह चाहती तो लन्दन में स्टर्लिंग—दे सकती थी। पर १,०६५ तोले से कम सोना न मिल सकता था। स्टर्लिंग देने के लिए सरकार की ओर से १७$\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर मुकर्रर हुई—बम्बई से लन्दन सोना भेजने में जो खर्च पड़ता उसे १८ पेंस से काट कर। सॉवरेन लेने-देने को कोई बाध्य न रहा, पर सरकार २१≡)१० तोला के हिसाब से (अर्थात् १३।-४ फी सॉवरेन) उन्हें लेने को बाध्य कर दी गई।

सरकार ने अपनी जीत की बड़ी खुशियां मनाई। पर १६ पेंस के पक्ष में पड़नेवाले वोट प्रजा-द्वारा निर्वाचित मेम्बरों के थे, और १८ पेंस के पक्ष में पड़नेवाले प्रायः सारे वोट ऐसे मेम्बरों के थे जो सरकार-द्वारा मनोनीत हो कर परिषद् में आए थे। अगर परिषद् में सिर्फ प्रजा के प्रतिनिधि होते तो दर १६ पेंस ही होती। इसलिए सरकार की जीत जीत नहीं, हार थी।

सरकार की ओर से प्रजापक्ष को हराने के लिए कैसी चालें चली गई थीं इसपर पं० मोतीलाल नेहरू ने वहीं परिषद् में कुछ प्रकाश डाला था :—

"वोटों के लिए दोनों ओर से जो कैन्वेसिंग हुई है उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। मैं यह नहीं कहता कि कैन्वेसिंग होनी ही नहीं चाहिए, पर इतना मैं जरूर कहूंगा कि कैन्वेसिंग दो प्रकार की हो सकती है—जायज तरीकेवाली, और नाजायज तरीकेवाली। किस प्रकार की कैन्वेसिंग हुई है इस सम्बन्ध में यहां एक घटना का उल्लेख कर देना चाहता हूं। कांग्रेस की ओर से मि० रफी अहमद किदवाई असिस्टैण्ट ह्विप नियुक्त हैं। एक रोज उन्हें अपने किसी रिश्तेदार का भेजा हुआ तार मिला कि "खबर मिली है कि आपके वालिद सख्त बीमार हैं। मैं लखीमपुर जा रहा हूं। आप भी वहां पहली ट्रेन से पहुंचिए—सरदार हुसैन।" तार मिलते ही मि० रफी अहमद ने अपने वालिद को तार दिया और दर्याफ्त किया कि आपकी तबीयत कैसी है? वहां से जवाब आया कि "बिलकुल ठीक है। यह तार क्यों?" मि० सरदार हुसैन मि० रफी अहमद के रिश्तेदार जरूर हैं, पर वह उस तार के विषय में कुछ भी नहीं जानते जो उनकी ओर से भेजा गया था। मेरे लिए न तो यह संभव है, और न आसान कि मैं भेजनेवाले का पता लगा सकूं, पर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वह तार किस दल की ओर से भेजा गया था। मैं आशा करता हूं कि ऐसे तरीकों से होनेवाली जीत कोई अभिमान की वस्तु नहीं समझी जायगी।"

परिषद् में ही दूसरे मेंबर ने इससे भी नाजायज कार्रवाई का जिक्र करते हुए कहा था कि—"जो-जो तरीके काम में लाए गए थे उन सबपर प्रकाश पड़े तो सभ्य संसार चकित और स्तम्भित हुए विना न रहेगा।"

७

इतिहास की पुनरावृत्ति

रेट कायम कर देना एक बात है, उसे टिकाना और। इस देश में जब से स्वयंसिद्ध मुद्रा नाम की कोई चीज नहीं रही और करेन्सी की मिकदार सरकार की मर्जी पर रह गई, तब से—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सरकार के लिए कोई भी दर कायम करना और उसे टिकाना सम्भव हो गया। पर यह सिद्धान्त की बात है। व्यवहार में सरकार की शक्ति और उसके साधन परिमित हैं, इसलिए सब कुछ उसीकी मर्जी से नहीं हो सकता। पहले-पहल जब उसने १६ पेंस की दर चलानी चाही थी तब उसे इसके लिए कई साल ठहरना पड़ा था। करेन्सी की मात्रा कम करते-करते वह सफलता के पास पहुंची थी। फिर जब वह उसी दर को बराबर के लिए २ शिलिंग करने चली तब उसे इस देश के करोड़ों रुपए लुटा देने पर भी कामयाबी नहीं हुई और अन्त में उसे यह प्रयास छोड़ देना पड़ा। अब दर १८ पेंस कायम कर दी गई, पर इसका यह अर्थ नहीं कि विधान बनते ही इस दर में आप-ही-आप स्थायित्व आ गया। जब आर्थिक स्थिति इसके अनुकूल नहीं थी—अर्थात् जब रुपए की असली कीमत बाजार में १६ पेंस के लगभग थी तब उसके बदले १८ पेंस आसानी से कैसे मिल सकता था? हां, उसी पुराने अस्त्र का फिर उपयोग करके—करेन्सी का संकोच करके—सरकार ऐसी स्थिति अवश्य पैदा कर सकती थी कि बाजार को रुपए की नई कीमत स्वीकार करनी पड़े। और इस अध्याय में हम देखेंगे कि उसने सचमुच यही किया। १८ पेंस दर को टिकाने के लिए सरकार ने फिर उन्हीं कृत्रिम उपायों का अवलम्बन किया और जहां तक करेन्सी का सम्बन्ध है, देश को भूखों मार कर उससे रुपए की नई कीमत मंजूर करा ली। जो कुछ हुआ वह, और ही पैमाने पर सही, इस देश में पहले भी हो चुका था।

नई दर के विरोधियों ने सरकार को काफी चेतावनी दे दी थी कि

इसके परिणाम भयंकर होनेवाले थे। देश की दृष्टि से यह बहुत अच्छा होता, अगर वे सच्चे भविष्यवक्ता न निकलते और नई दर से इतना अनर्थ न होता। पर उसके भाग्य में कुछ और ही बदा था, इस कारण नई दर का आधिपत्य आसानी से स्थापित न हो सका और भारतवासियों को इसकी वेदी पर अपने हित का काफी वलिदान करना पड़ा। विरोधियों की भविष्यवाणी सच्ची साबित हुई, और यह दर अत्यन्त हानिकर। १९२८ को छोड़ प्राय: हर साल एक्सचेंज की कमजोरी वनी रही और इसमें बल लाने के लिए सरकार ने हमारा क्या-क्या अनिष्ट नहीं किया? हमारा जो धन सोने के रूप में संचित था वह उड़ा दिया गया— हमारे ऊपर जो कर्ज का बोझ था वह और भी भारी कर दिया गया– हमारे एँक्सपोर्ट व्यवसाय और हमारे उद्योग-धन्धों को प्रबल आघात पहुंचाया गया और हमारे करोड़ों किसानों की दशा और भी दीन-हीन कर दी गई।

दर की कमजोरी साल-व-साल वनी रहने के कारण सरकार के लिए भारत-सचिव की मांग* पूरी करना, हुंडियों के जरिए उनके पास रुपए भेजना असम्भव-सा हो गया; क्योंकि जिस हद तक स्टर्लिंग की मांग बढ़ती उस हद तक रुपए की कीमत गिरती—अर्थात् एक्सचेंज-दर और भी नीचे आ-जाती। इसलिए बाजार में न जाकर या तो सरकार ने भारत-सचिव को करेन्सी रिजर्व से रुपया उठा लेने दिया, या भारत-सचिव ने उसकी ओर से लन्दन में कर्ज ले-लेकर अपना काम चलाया। भारत-सचिव के पास कब कितना भेजने की बात थी और कितना बाजार की मार्फत भेजा जा सका, यह नीचे के अंकों से जाहिर होगा:—

---

* पहले तो भारत-सचिव लन्दन में भारत-सरकार के नाम हुण्डियां बेचा करते—अर्थात् स्टर्लिंग लेकर भारत-सरकार से रुपए दिला देते। पर १९२३-२४ से इस प्रणाली में परिवर्तन होने लगा और कुछ समय बाद भारत-सचिव-द्वारा इन हुण्डियों की बिक्री बिलकुल बन्द हो गई। अब भारत-सरकार यहीं टेण्डर मंगाती और यहां रुपए देकर लन्दन में स्टर्लिंग खरीद लेती।

लाख पौंड स्टर्लिंग

	बजट के अनुसार	जो रकम भेजी जा सकी
१९२७—२८	३५५	२८३
१९२८—२९	३६०	३०८
१९२९—३०	३५२	१५२
१९३०—३१	३४५	५४
	१,४१२	७९७

पिछले दोनों साल हालत बड़ी ही नाजुक रही। १९३०—३१ में कुल ५,३९५,००० पौंड स्टर्लिंग खरीदा जा सका। प्रायः ५७ लाख पौंड स्टर्लिंग सरकार को बेचना भी पड़ा। १९ नवम्बर १९३० को सरकार के पास स्टर्लिंग बेचनेवालों की ओर से कोई टेण्डर आया ही नहीं, जिसका नतीजा यह हुआ कि कुछ समय के लिए सरकार बाजार से ही हट गई। १९३१—३२ में एक्सचेंज की कमजोरी इतनी बनी रही कि सरकार कुछ भी स्टर्लिंग न खरीद सकी। उसके रुपए को दबाकर बैठ जाने पर भी रुपए की कीमत जैसी-की-तैसी ही रही।

जब उलटी हुण्डियां बेची गई थीं तब भारतवर्ष के संचित सुवर्ण तथा स्टर्लिंग धन को लुटा देने में सरकार को तनिक भी संकोच नहीं हुआ था। ३१ मार्च १९१९ को जितने नोट चलन में थे उनके सैकड़े ६५.९ भाग की पुश्ती रिजर्व में ऐसे सुवर्ण तथा स्टर्लिंग धन-द्वारा होती थी। एक साल बाद यह परिमाण घट कर १९.६ रह गया था— क्योंकि पहले जहां प्रायः ११५ करोड़ (१६ पेंस की रेट से) था वहां अब कुल ३२ करोड़ (२४ पेंस की दर से) रह गया था। उलटी हुण्डियों की बिक्री के प्रारम्भ और अन्त के बीच प्रायः ७७ करोड़ का सोना और स्टर्लिंग हवा हो गया। इसके बाद जो समय आया उसमें फिर कुछ संचय हुआ और ३१ मार्च १९२६ को नोटों का सैकड़े २६.५ भाग रिजर्व में सोने-स्टर्लिंग के रूप में था। यह रकम थी प्रायः ५१ करोड़ (२४ पेंस की रेट से) अर्थात् प्रायः २२ करोड़ (१८ पेंस की रेट से प्रायः ३० करोड़) सोना और प्रायः २९ करोड़ (१८ पेंस की रेट से प्रायः ३८॥। करोड़) स्टर्लिंग।

नई दर का दौरदौरा शुरू होने पर यह धन भी धीरे-धीरे जाता रहा। २२ जून १९३१ को समाप्त होनेवाले सप्ताह में स्टर्लिंग तो सब-का-सब गायब हो चुका था और सोना कुल १८ करोड़ रह गया था। जब करेन्सी रिजर्व से स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज जाती रहीं तब भारत-सचिव गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व से सोना ले-लेकर काम चलाने लगे। लन्दन में इस रिजर्व से जो सोना उठाया जाता उसके मद्दे रिजर्व की भारतीय शाखा में रुपए दाखिल कर दिए जाते।

उधर सोने और स्टर्लिंग का—और अब दोनों समान थे—यह हाल रहा, इधर सरकार ने रुपए गलाकर बाजार में चांदी बेचनी शुरू कर दी। हिल्टन यंग कमीशन ने यह सिफारिश जरूर की थी कि करेन्सी रिजर्व में चांदी इतनी ज्यादा नहीं रहनी चाहिए—उसका परिमाण घटा देना चाहिए—पर उस कमीशन की ख्वाहिश तो यह थी कि चांदी की जगह रिजर्व में सोना रखा जाय। सरकार ने रुपए गला-गला कर बाजार में चांदी तो बेच दी, पर रिक्त स्थान की पूर्ति सोने से नहीं की। चांदी की बिक्री १९२७ में ही शुरू हुई थी। तब से १९३०–३१ के अन्त तक १० करोड़ औंस से ज्यादा चांदी सरकार-द्वारा बेची जा चुकी थी। चांदी का दाम यों ही गिर रहा था। इस बिक्री से बाजार और भी मन्दा रहने लगा। उधर सरकार को रिजर्व के रुपए गलाकर बेचने से करोड़ों का घाटा रहा, और सब से दुख की बात यह हुई कि चांदी की जगह सोना नहीं रखा गया।

रिजर्व का सोना और चांदी इस प्रकार उड़ाकर या तो नोटों का चलन ही घटा दिया गया या जहां रुपए थे वहां कोरा कागज रख दिया गया। भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय का प्रतिनिधित्व करनेवाली महासभा (जिसको प्रायः फेडरेशन कहते हैं) सरकार की इस नीति का बार-बार विरोध करती गई। उसका कहना था—और बहुत ठीक कहना था—कि सोने का परिमाण घटते-घटते बेहद कम हो चला था, और अगर यही क्रम रहा तो नोटों की पुश्ती नाम की कोई चीज ही न रह जायगी। १४ फरवरी १९३० को फेडरेशन के प्रस्ताव के उत्तर में तत्कालीन अर्थ-सदस्य सर जॉर्ज शुस्टर ने कहा कि "परिस्थिति इतनी खराब नहीं कही जा सकती, क्योंकि हमारे

पास जनवरी के अन्त में प्रायः ८८ करोड़ का सोना या सोने की सिक्यू-रिटीज थी। चलन में जितने नोट हैं उनका यह प्रायः आधा होता है। बैंक ऑव् इंगलैण्ड के पास तो सोने का परिमाण ८ जनवरी को इससे कम ही था—अर्थात् नोटों के सैकड़े ३६ भाग की ही पुश्ती सोने से होती थी।"

हमारे अर्थ-सदस्य ने जानबूझ कर ऐसी बात कही जो असत्य थी। जनवरी १९३० के अन्त में पेपर करेन्सी रिजर्व में सोना और सोने की सिक्यूरिटीज मिलाकर कुल प्रायः ३५ करोड़ था। इससे स्पष्ट है कि गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व के सोने को शामिल करके ही उन्होंने सोना ८८ करोड़ रुपए का बताया था। पर गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व कागज के नोटों की पुश्ती के लिए तो था नहीं। वह तो चांदी के नोटों अर्थात् रुपयों की पुश्ती के लिए था। असलियत यह थी कि गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व रुपयों की दृष्टि से ही काफी नहीं था। उस समय करेन्सी रिजर्व के रुपयों को छोड़ चलन में बाकी रुपए प्रायः २०० करोड़ थे। सोने में इनकी कीमत प्रायः ५० करोड़ थी। गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व का सोना बेचने पर भी रुपयों की पुश्ती के लिए प्रायः १०० करोड़ की कमी थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि चांदी की जो कीमत यहां ली गई है वह उस समय की बाजार-दर के अनुसार है। अगर इतनी चांदी कभी बाजार में बिकने को आती तो दर और भी गिरती और उसकी कीमत कम हो जाती। कुछ भी हो, कागज के नोटों के प्रसंग में गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व के सोने की बात करना लोगों को भ्रमान्ध करने की चेष्टामात्र थी।

भारत-सचिव को अपना काम चलाने के लिए न सिर्फ करेन्सी रिजर्व के धन पर हाथ फेरना पड़ा, बल्कि उन्हें लन्दन में कर्ज भी काफी लेना पड़ा। मई १९२३ से १९२७ के अन्त तक स्टर्लिंग में हमें कोई कर्ज लेना नहीं पड़ा था। पर इसके बाद तो स्थिति इतनी बिगड़ी कि सरकार के लिए लन्दन में कर्ज लेना अनिवार्य-सा हो गया। बजट में व्यवस्था न होते हुए भी कर्ज लेना पड़ता; या सरकार का तखमीना कुछ होता, और असलियत कुछ और ही होती।

	स्टर्लिंग में कर्ज—लाख पौंड बजट के अनुसार	असलियत
१९२७—२८	कुछ नहीं	७५
१९२८—२९	,,	१००
१९२९—३०	५२½	१०५
१९३०—३१	६०	३१०
	११२½	५९०

मीमांसा-भाग के लेखक श्रीयुक्त बिड़ला जी ने १८ पेंस दर पास होने से पहले, परिषद् में यह आशंका प्रकट की थी कि बिना लन्दन में इस प्रकार कर्ज लिए इस दर को टिकाना असम्भव होगा और उन्होंने पूछा था कि:—

"इस बात की क्या गारण्टी हो सकती है कि १८ पेंस की दर को ठहराने के लिए सरकार को इंगलैण्ड में बहुत बड़ा कर्जदार न बनना पड़ेगा? और अगर उसने कर्ज लिए तो ब्याज का देनदार कौन होगा? क्या स्टर्लिंग में जो कर्ज लिए जावेंगे उनका ब्याज चुकाने के लिए इस देश के कर-दाताओं से पैसा वसूल न किया जायगा, और क्या इस कारण उनका बोझ कहीं-से-कहीं भारी न हो चलेगा?"

इस बीच में सरकार की देनदारी किस प्रकार बढ़ी यह नीचे की तालिका से जाहिर होगा:—

करोड़ रुपए

भारतवर्ष में :—	३१मार्च१९२४—	३१मार्च१९२७—	३१मार्च१९३१
कर्ज	३५८.८१	३७४.४४	४१७.८५
ट्रेजरी बिल जो लोगों के हाथ में थे	२.१२		५५.३८
पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक की देनदारी	२४.७९	२९.५१	३७.०८
कैश सर्टिफिकेट	८.४२	२६.६८	३८.४४
दूसरी देनदारी	९२.८२	१२३.०८	१०६.२०
भारतवर्ष में सारी देनदारी	४८६.९६	५५३.७१	६५४.९५

	करोड़ रुपए ३१मार्च१९२४	३१मार्च१९२७	३१मार्च१९३१
इंगलैंड में :—			
कर्ज और दूसरी देनदारी १८ पेंस की रेट से	४३२.०४	५५२.४८	५१७.०१
भारतवर्ष और इंगलैंड की मिलाकर	९१९.००	१,००६.१९	१,१७१.९६

ऊपर ट्रेजरी बिलों का जिक्र है। १९३०–३१ में सरकार की इस रूप में देनदारी ५५ करोड़ से ऊपर थी। इन बिलों के द्वारा कुछ महीनों के लिए कर्ज लेना और इस प्रकार बाजार से रुपए को यथासम्भव खींच लेना अब सरकार की मुद्रा-नीति का एक मुख्य भाग बन गया। जुलाई १९२७ में सरकार ने कुछ कर्ज लेना चाहा, पर उसे यथेष्ट सफलता नहीं हुई। अगस्त में उसने ट्रेजरी बिल निकाल कर ऊंचे ब्याज पर रुपया लेना शुरू किया। साख गिर जाने के कारण सरकार को यह ऊंचा ब्याज देना पड़ता था। बैंकों को डिपॉजिट के लिए जो ब्याज देना पड़ता उससे प्रायः १ प्रतिशत अधिक सरकार को ऐसे कर्ज के लिए देना पड़ता था। पर एक्सचेंज-दर को टिकाने के लिए करेन्सी का संकोच करना सरकार के लिए इतना आवश्यक था कि वह इन ट्रेजरी बिलों के जरिए बाजार से रुपया खींचती ही गई। इधर करेन्सी का कब कितना विस्तार या संकोच हुआ यह नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा। इसमें + विस्तार का और – संकोच का सूचक है।

	लाख रुपए
१ जनवरी १९२० से ३१ मार्च १९२१ तक	– ३८,४८
१९२१—२२	– ३,८०
१९२२—२३	– ९,६०
१९२३—२४	+ १८,१५
१९२४—२५	+ १,६०
१९२५—२६	+ १,००

१९२६—२७	— २८,७७
१९२७—२८	— ४,१०
१९२८—२९	+ १,९०
१९२९—३०	— ३२,४१
१९३०—३१	— ३८,६४

इस प्रकार १ जनवरी १९२० और ३१ मार्च १९३१ के बीच करेन्सी प्राय: १३३ करोड़ कम हो चली। देश की जनसंख्या और उसकी आवश्यकताएं वढ़ रही थीं। इसलिए करेन्सी का वढ़ना भी आवश्यक था। पर बढ़ना दरकिनार, जो करेन्सी थी उसमें भी इतनी कमी कर दी गई। प्रथम महासमर से पूर्व, सर्वसाधारण की भूख मिटाने के लिए सरकार ने हर साल प्राय: २२॥ करोड़ करेन्सी दी थी। महासमर के समय उसे इसकी जगह हर साल प्राय: ५० करोड़ देना पड़ा था। (इस ५० करोड़ में सॉवरेन शामिल नहीं है, क्योंकि वे इस समय करेन्सी का काम नहीं कर रहे थे)। देश की आवश्यकताएं तो महासमर के समय से भी वढ़ गई थीं, पर यह भी मान लिया जाय कि स्थिति वही थी जो महासमर से पूर्व, तो भी करेन्सी में हर साल २२॥ करोड़ रुपए की वृद्धि होनी चाहिए थी। इसके विपरीत हुई हर साल प्राय: १२ करोड़ रुपए की कमी या ह्रास। कोई आश्चर्य नहीं कि इस अनावृष्टि के कारण एक भयंकर दुष्काल उपस्थित हो गया—जल के अभाव से जो गति पेड़-पौधों की होती है वही रुपए के अभाव से वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धन्धों की होने लगी। १८९३ और १८९८ के बीच का इतिहास अपने-आप को दोहराने लगा।

ब्याज की दर यहां और देशों के मुकाबिले कितनी ऊंची थी यह नीचे दिखाया गया है:—

	दिसम्बर के अन्त में बैंक-रेट (फी सदी)			
	(१९२७)	(१९२८)	(१९२९)	(१९३०)
लन्दन	४½	४½	५	३
न्यूयार्क	३½	५	४½	२
एम्स्टर्डम	४½	४½	४½	३

बर्न	३½	३½	२½	२½
कलकत्ता	७	७	७	६

२० जून १९३१ को दरें इस प्रकार थीं :—

लन्दन	...	...	२½ फीसदी
न्यूयार्क	...	...	१½ ,,
एम्स्टर्डम	...	...	२ ,,
बर्न	...	...	२ ,,
कलकत्ता	...	...	६ ,,

१९०९ में इम्पीरियल बैंक के विरोध करने पर भी सरकारी आदेश से बैंक-रेट ७ से ८ प्रतिशत कर दी गई थी। परिषद् में इस विषय पर प्रश्न किए गए तो अर्थ-सदस्य ने कहा कि सरकार ने जो कुछ किया, सोच-समझ कर किया और उसकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर है।

१८९३ के बाद भी सरकारी नीति ने इस देश में ऐसी ही स्थिति पैदा कर दी थी। उस नीति का उद्देश था रुपए की तंगी करके उसका मूल्य १६ पेंस कर देना। जो तंगी इस बार पैदा की गई थी उसका उद्देश था रुपए के मूल्य को १८ पेंस पर ठहराना। फौलर कमेटी के सामने सरकारी नीति के समर्थकों ने कहा था कि इधर एक्सचेंज में स्थिरता का अभाव रहा है, इसलिए विलायतवालों ने अपनी बहुत कुछ रकम यहां से उठा ली है — बैंकों के पास उधार देने के लिए अब उतना रुपया-पैसा नहीं रहा है और इसी कारण बाजार में ऐसी तंगी है—अर्थात् इस तंगी का सरकार के रुपए न ढालने से कोई सम्बन्ध नहीं था! दूसरे गवाहों ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा था कि "बात ऐसी नहीं है। एक्सचेंज की स्थिरता से ही किसी देश में बाहर से पूंजी नहीं आ सकती। पूंजी तो तब आती है जब उसका लाभदायक उपयोग हो सकता है, और जहां ऐसी स्थिति होती है वहां एक्सचेंज की अस्थिरता भी पूंजी के आने को नहीं रोक सकती। एक्सचेंज-दर गिरते रहने पर भी बाहर से करोड़ों रुपए आकर यहां के वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधों में लग चुके थे। उधर इंगलैण्ड और आयरलैण्ड के बीच का एक्सचेंज स्थिर होते हुए भी इंगलैण्ड से आयरलैण्ड में जाकर बहुत

कम पैसा लगा था; क्योंकि आयरलैण्ड में उसके लाभदायक उपयोग के लिए बहुत कम गुंजाइश थी। बैंकों के पास उधार देने लायक रकम और करेन्सी—इनमें अन्तर था तो इतना ही, जितना टोस्ट और रोटी में होता है। पर जैसे बिना रोटी के टोस्ट असम्भव है वैसे ही बिना नई करेन्सी मिले बैंकों के लिए उधार देते जाना असम्भव था।"

मि० कैम्पबेल ने—जो बाद फौलर कमेटी के मेम्बर हुए थे—१८९३ में ही यह चेतावनी दी थी :—

"अगर एक्सचेंज को टिकाने की चेष्टा की गई तो इसका नतीजा यह जरूर हो सकता है कि बाहरवाले अपनी रकम यहां से उठा लें। एक्सचेंज की दर १६ पेंस कर देने की तैयारी हो रही है। ऐसी हालत में ऐसे लोगों का यह तर्क हो सकता है कि दर इससे ऊँची तो होगी नहीं, पर सम्भव है कि गिर कर नीची हो जाय, इसलिए बेहतर है कि हम दर गिरने से पहले ही अपनी रकम भारतवर्ष से उठा लें।"

सरकार की नई मुद्रा-नीति से यहां के व्यापार और उद्योग-धंधों को जबर्दस्त आघात पहुँचा, और ऐसी अवस्था में बाहर के धन का कुछ हद तक यहां से उठ जाना अनिवार्य था। पर रुपए के जिस अभाव की शिकायत देश के कोने-कोने से सुनने में आई और जिसके कारण कितने ही बड़े व्यापारी भी तंग-तबाह हो गए उसका मूल कारण तो यही था कि सरकार की नीति भयंकर गिरावट की हो रही थी और लोगों को नई करेन्सी मिल नहीं रही थी।

१९२७ के बाद भी बाजार में रुपए की जो तंगी हुई उसका कारण सरकार की ओर से यही बताया गया कि राजनैतिक आन्दोलन से घबरा कर या चिन्तित होकर बाहरवाले अपना पैसा यहां से धीरे-धीरे उठा रहे थे। पैसा उठने का वास्तविक कारण और ही था। लोगों को यह विश्वास नहीं था कि १८ पेंस की दर अधिक काल तक टिक सकेगी। इसलिए उन्होंने नुकसान से बचने के लिए इस दर के रहते अपना पैसा उठा लिया। कुछ लोग इस विचार से भी उठा ले गए कि जब दर गिरेगी तब पैसा वापस लायेंगे और इस प्रकार कुछ धन कमा लेंगे। पर बाजार की जो बुरी हालत हो

रही थी उसकी तह में फिर सरकार की वही गिरावट-नीति थी। फर्क था तो इतना ही कि इस बार उस नीति का रूप कहीं उग्र था—और करेन्सी की वृद्धि ही नहीं रोक दी गई थी, बल्कि चलन में करेन्सी बहुत मिकदार में उठा ली गई थी।

१९२३–२४ से १९२५–२६ तक हर साल इम्पोर्ट से एक्सपोर्ट प्रायः ८८ करोड़ अधिक हुआ, पर बाद के तीनों साल इतने अच्छे न रह सके और एक्सपोर्ट हर साल ४७ करोड़ ही अधिक रहा। १९२९–३० में यह आधिक्य बढ़ कर प्रायः ५३ करोड़ हो गया था, पर एक्सपोर्ट को कम होते देर न लगी और १९३०–३१ में वह इम्पोर्ट से प्रायः ३७॥ करोड़ ही अधिक रहा।

जिस समय एक्सचेंज-दर २४ पेंस की गई थी उस समय उसके पक्ष-पातियों ने जोर देकर कहा था कि संसार में दाम गिरनेवाले नहीं, बल्कि और ऊपर चढ़नेवाले हैं। बात कुछ और ही हुई, और दाम काफी नीचे गिर पड़े। १९२७ में जब दर १८ पेंस की जा रही थी तब उसके विरोधियों ने कहा था कि संसार में दाम चढ़ने की तो कोई आशा की नहीं जा सकती, पर दाम गिरने की आशंका जरूर की जा सकती है। और अगर सचमुच ऐसा हुआ—अर्थात् चीजों के सोने में दाम गिरे—और रुपए की एक्सचेंज-दर १८ पेंस रही, तो यहां के किसानों को इन दोनों पाटों की चक्की में पिसना पड़ेगा। पर सरकार की ओर से उनका मजाक उड़ाया गया और कहा गया कि संसार में दाम गिरने का कोई कारण नजर नहीं आता—हमें यह मान ही लेना होगा कि दाम स्थिर बने रहेंगे। काश कि ऐसा ही होता!

श्री बिड़ला जी बराबर यह कहते जाते थे कि सरकार को अपना घर संभालना चाहिए—अर्थात् अपने खर्च को घटा कर दिवालिया-पन से बचना चाहिए। ७ मार्च १९२८ को उनके एक भाषण में हम यह चेतावनी पाते हैं:—

"जो आफत हमारे ऊपर आ पहुंची है उसके बारे में भी मैं कुछ कहना चाहता हूं। पांच साल से लगातार फसल अच्छी होती आई है। इससे मुल्क में खुशहाली होनी चाहिए थी। पर हम देखते क्या हैं? परिषद् के बहुत से मेम्बरों को मालूम होगा कि देश की क्रय-शक्ति बहुत ही कम हो गई

है। कपड़े के लिए—चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी—बाजार में मांग बहुत ही कम है। और पांच साल पहले से लोग आज हर तरह ज्यादा गरीब हैं। आखिर फसल अच्छी होते रहने पर भी यह गरीबी क्यों ? इसका सीधा-सादा जवाब यह है कि करों या टैक्सों के बोझ से मुल्क का दम घुट रहा है। अगर स्थिति को सुधारना है तो सरकार को चाहिए कि अपना खर्च घटावे। जो बीमारी है उसका और इलाज हो ही नहीं सकता। खर्च में कहां कितनी कमी होनी चाहिए, इस विषय पर विचार करने के लिए दूसरी* कमेटी बैठनी चाहिए। परिषद् का कर्तव्य है कि इस सारे प्रश्न पर ध्यानपूर्वक विचार करे।"

पर सरकार की ओर से कहा जाता कि न कोई बीमार है. न किसी इलाज की जरूरत है। हमारे अर्थ-सदस्य सर जॉर्ज शुस्टर उन दिनों श्री बिड़ला जी को निराशावादी कह कर उनका मजाक-सा उड़ाते और यही कहते जाते कि अनिष्ट की आशंका का ऐसा कोई कारण है ही नहीं !

पर आशावादियों की आशा पूरी न हो सकी। बाद जब बीमारी बहुत बढ़ गई और सर जॉर्ज शुस्टर के लिए भी अपना असली भाव दबाए रखना असंभव हो गया तब वह और ही राग अलापने लगे और सबसे सहानुभूति और सहायता का अनुरोध करने लगे। अब उनका कहना था कि "नाव मंझधार में है, इसे किनारे लगाने की कोशिश में आप सब मेरा साथ दीजिए।"

पर यह सब होते हुए भी सरकार अपनी नीति का परित्याग करने को तैयार नहीं थी। सर जॉर्ज शुस्टर को लोगों की सहानुभूति या सहायता की आवश्यकता वहीं तक थी जहां तक नए टैक्सों का ताल्लुक था। आरंभ में जहां सरकार की ओर से यह कहा जाता कि बीमारी है ही नहीं वहां अब यह कहा जाने लगा कि अगर अपना बोझ भारी करके मुल्क करोड़ों रुपए नहीं जुटाता तो उसकी जान बचने की नहीं। भारत-सरकार को १९२७-२८ में दो करोड़ २१ लाख, १९२८-२९ में एक करोड़ छः लाख और १९२९-

---

* ऐसी एक कमेटी १९२२-२३ में बैठी थी।

३० मे १ करोड़ ५३ लाख टोटा रहा। १९३०-३१ में हालत ज्यादा बिगड़ी और पांच करोड़ से ऊपर नए टैक्स लगने पर भी जहां ८३ लाख बचत की आशा की गई थी वहां प्राय: १३॥ करोड़ टोटा रहा।

सरकार ने अपने खर्च को कुछ हद तक घटाया। कर्मचारियों के वेतन में १० प्रतिशत की कटौती * भी की, पर परिस्थिति काबू में लाई गई विशेषत: करदाताओं का बोझ भारी करके। तीन साल में प्राय: ४२ करोड़ की कर-वृद्धि हुई—१९३०-३१ के बजट-द्वारा पांच करोड़, १९३१-३२ के बजट-द्वारा १५ करोड़, और बाद के सप्लीमेंटरी बजट-द्वारा २२ करोड़ की।

आरम्भ में ही निराशावादियों की चेतावनी पर ध्यान दिया जाता तो यह नौबत न आती। निराशावादी ही यथार्थवादी थे।

---

* ११३३-३४ के बजट-द्वारा यह कटौती १० से ५ प्रतिशत कर दी गई और १९३५-३६ के बजट-द्वारा बिलकुल उठा दी गई।

८

मन्दी की मार

ऊपर कहा जा चुका है कि इंगलैण्ड १९२५ में गोल्ड स्टैण्डर्ड पर लौट आया। आगे हम देखेंगे कि १९३१ में वह गोल्ड स्टैण्डर्ड से हट गया। सोने के इस पुनर्ग्रहण और परित्याग के बीच दामों के इतिहास में एक ऐसे अध्याय का आरम्भ हो चुका था जो संसारमात्र के लिए दारुण-दु:ख-पूर्ण था और जिसकी समाप्ति बरसों तक होनेवाली नहीं थी! हमारा अभिप्राय सितम्बर १९२९ में आरम्भ होनेवाली मन्दी से है।

पहले महासमर के बाद भी दाम भहरा पड़े थे, पर १९२२ में वे एक सतह पर पहुँच कर रुक-से गए और १९२९ तक प्राय: वहीं बने रहे। इंगलैण्ड में यह सतह लड़ाई के पहले की सतह से प्राय: ५० प्रतिशत ऊँची थी, पर इसका कारण यह नहीं कि सोने का उत्पादन इस बीच में इसी अनुपात से बढ़ गया था। असलियत यह है कि जहां १९१० से १९१४ तक खानों से कुल सोना ४७०,०००,००० पौंड का निकला था वहां १९१५ से १९१९ तक कुल सोना ४३०,०००,००० पौंड का निकला। सोने का उत्पादन कम होते हुए भी दाम इतने ऊँचे क्योंकर हो सके? इसका उत्तर यह है कि लड़ाई के दिनों में सोना चलन से निकल कर रिजर्व बैंकों की तिजोरियों में जा पहुँचा जिसका नतीजा यह हुआ कि नोटों का परिमाण कहीं-से-कहीं बढ़ गया। उदाहरणार्थ—इंगलैण्ड में लड़ाई से पहले सब मिला कर १५८,०००,००० पौण्ड का सोना था—प्राय: १२३,०००,००० पौण्ड चलन में, बाकी बैंक आव् इंगलैण्ड के कोष में। जब चलन का सोना भी उसके कोष में आकर केन्द्रीभूत हो गया तब उसके लिए उस सोने के आधार पर पहले की अपेक्षा कहीं अधिक नोटों का प्रसार करना सम्भव हो गया।

उधर अमेरिका में बाहर से इतना सोना आया कि १९१४ में वहां जो स्टॉक था वह १९१९ मे दूना हो चला। वहां सोने का चलन भी बना रहा। सोने का उत्पादन कम होते हुए भी दामों के उस ऊँचे सतह पर कायम रहने का रहस्य यही है कि अमेरिका में तो सोने की यों ही बहुतायत हो चली, और दूसरे देशों में सोना चलन से निकल कर रिजर्व बैंकों की तिजोरियों में भर गया। सोने और नोटों के बीच जो अनुपात पहले था वह अब न रहा—अर्थात् नोटों की पुश्नी के लिए अब पहले की अपेक्षा कम सोना आवश्यक हो चला। सोना केन्द्रीभूत हो गया, अनुपात में हेर-फेर कर दिए गए—नोटों का प्रसार बढ़ गया, दामों की सतह ऊँची हो चली।

लड़ाई की मुसीबत ने इंगलैण्ड तथा कई अन्य देशों को गोल्ड स्टैण्डर्ड से अलग कर दिया था। अब जरा अच्छे दिन आए और लोगों को यह दीखने लगा कि सोने की ओर से कोई खतरा नहीं है, तब उन देशों में लोकमत का झुकाव गोल्ड स्टैण्डर्ड को फिर अपना लेने के पक्ष में होने लगा। अमेरिका में गोल्ड स्टैण्डर्ड बना हुआ था—वहां का डॉलर एक निर्दिष्ट मात्रा के सोने का प्रतिनिधि था; नोट देकर कोई भी उसके बदले उतना सोना पा सकता था और उसका जैसा उपयोग चाहता, कर सकता था। ऐसी हालत में इंगलैण्ड-जैसे देश के लिए गोल्ड स्टैण्डर्ड पर वापिस आने का व्यावहारिक अर्थ था पौण्ड को डॉलर के साथ बांध देना—अर्थात् डॉलर या सोने में पौण्ड की कीमत को तरल या चंचल न छोड़ कर उसे स्थिर, निश्चित, निश्चल कर देना।

पर कीमत बांधी जाय तो किस दर से? निर्ख पुराना हो या नया? जब पहले इंगलैण्ड और अमेरिका दोनों गोल्ड स्टैण्डर्ड पर थे तब एक पौण्ड ४.८६ डॉलर की बराबरी करता था। वहां १९२५ में सरकार ने यह निर्णय किया कि अब आगे से पौण्ड के बदले बे-रोक-टोक सोना मिल सकेगा और निर्ख वही पुराना (अर्थात् १ पौण्ड = ४.८६ डॉलर) होगा। पर इस निर्णय के विरोधी भी थे जिनका कहना था कि पौण्ड का मूल्य इतना ऊँचा नहीं होना चाहिए—इससे निर्यात (एक्सपोर्ट) व्यापार को धक्का लगेगा और उद्योग-धंधों की गहरी हानि होगी।

इंगलैण्ड की देखा-देखी कई और देश गोल्ड स्टैण्डर्ड पर आ गए—जैसे इटली, फ्रांस, बेल्जियम, जेकोस्लोवाकिया आदि। पर उन्होंने निर्ख पुराना न रख कर नया कायम किया। मसलन फ्रांस ने अपनी मुद्रा का नया मूल्य (सोने में) पुराने १०० की जगह २०.३ ही निश्चित किया।

प्रत्येक देश की मुद्रा के पुराने सुवर्ण-मूल्य को १०० मान लें तो उसके मुकाबिले उसका नया मूल्य क्या था, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा :—

इंगलैण्ड	१००
इटली	२७.३
फ्रांस	२०.३
जेकोस्लोवाकिया	१४.६
बेल्जियम	१४.५
फिनलैंड	१३.०
यूगोस्लाविया	९.१
ग्रीस	६.७
पोर्टुगाल	४.१
बल्गेरिया	३.७
रूमानिया	३.१

भारतवर्ष भी इंगलैण्ड के बाद गोल्ड स्टैण्डर्ड पर आ गया, पर उसने जो कुछ किया—या यों कहिए कि उससे जो कुछ कराया गया वह दुनिया के पर्दे पर बे-मिसाल था। इंगलैण्ड ने १०० की जगह १०० रखा, पर और देशों से उसका अनुकरण न बन पड़ा। प्रत्येक ने अपनी मुद्रा को सोने से तो जोड़ दिया, पर उसका मूल्य कहीं-से-कहीं घटा कर। हम भारतवासी ही संसार भर में तीसमार खां निकले जिन्हें १०० की जगह १०८ से भी सन्तोष न हुआ और जिन्होंने अपने रुपए का मूल्य १६ पेंस की जगह १८ पेंस अर्थात् १०० की जगह ११२॥ करके दम लिया। पर हम भारतवासियों ने क्या किया? हम तो इंगलैण्ड के हाथ की बेजबान—बेबस कठपुतली ठहरे!

१९०० में पौंड और डॉलर के बीच एक्सचेंज की दर १ पौंड = ४.२५ डॉलर थी। उस समय इंगलैण्ड में थोक दाम अमेरिका से प्रायः १५ प्रतिशत ऊंचे थे। अगर यह मान लेने का यथेष्ट कारण होता कि अब आगे दोनों देशों में दामों की गति समान रहेगी तो एक्सचेंज की इसी रेट को स्थायी कर देना उपयुक्त होता। पर इसके खिलाफ यह दलील थी कि आदर्श तो यही हो सकता है कि पौंड फिर अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर ले—अर्थात् ४.८६ डॉलर तक पहुंच जाय। कारण कि जब तक पौंड वहां तक नहीं पहुंच जाता तब तक लन्दन की साख फिर पूरी तरह नहीं जम सकती और वह फिर एक बार संसार का आर्थिक केन्द्र नहीं बन सकता। लुप्त गौरव को फिर से प्राप्त करने के उद्देश से ही वहां की सरकार ने १९२५ में पौंड को ४.८६ डॉलर पर पहुंचा कर उसका यही मूल्य स्थिर कर दिया, यद्यपि इंगलैण्ड को इसके बाद यह अनुभव होने लगा कि यह जल्दबाजी हो गई—उसे पौंड को इस तरह सोने की जंजीर में जकड़बन्द नहीं करना चाहिए था।

१९२५ में लक्षणों से यह प्रतीत होता था कि अमेरिका में दाम उठने-वाले हैं, पर वहां उसके बाद दाम उठने के बजाय गिरने लगे। बाकी दुनिया में भी दामों का झुकाव गिरने की ही ओर था।

इंगलैण्ड अगर औरों की तरह अपने दामों को गिरा सकता तो उसके लिए चिन्ता की कोई बात नहीं थी, पर वह ऐसा करने में असमर्थ था। कारण यह कि वहां मजदूरी में कमी करना जरा टेढ़ी खीर थी। कल-कारखानेवालों का कहना था कि विदेशों में दाम गिर रहे हैं, हमारे सामने उस प्रतियोगिता का मुकाबिला करने के दो ही उपाय हैं—या तो एक्सचेंज-रेट नीची कर दी जाय या हमें भी उसी हद तक दाम गिराने दिया जाय। पर दोनों में एक भी संभव न हो सका। न तो सरकार ने रेट गिराई, न मजदूरों ने अपनी औसत मजदूरी में कोई खास कमी होने दी। कल-कारखानेवाले चीखते-चिल्लाते रहे—लाखों आदमी बेकार बने रहे।

जो सोना अमेरिका जाता वह वहां तिजोरियों में बन्द कर प्रायः निष्क्रिय

कर दिया जाता—सोने की वृद्धि के हिसाब से नोटों का प्रसार बढ़ाया नहीं जाता। इस कारण अमेरिका के दामों की सतह जितनी ऊंची हो सकती थी, नहीं थी। और जिन देशों से खिच कर सोना अमेरिका जा रहा था वहां गिरावट की नीति से काम लेना आवश्यक हो गया था, इसलिए वहां दाम धीरे-धीरे गिरने लगे थे। इंगलैण्ड की देखा-देखी कई देश गोल्ड स्टैण्डर्ड पर आ गए—जिसका अर्थ यह हुआ कि अपने-अपने कोष में रखने के लिए वे सोने के खरीदार बन गए। उधर सोने के उत्पादन को देखते हुए कुछ विशेषज्ञ यह कहने लगे कि वह संसार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट नहीं था। मन्दी सोने के अभाव या कमी के ही कारण पैदा हुई, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना जरूर है कि उसमें इसका भी हाथ था। दामों की घटा-बढ़ी को मिटाकर साम्यावस्था में लाने का जो काम सोना कभी किया करता था वह अब उससे नहीं हो रहा था और जहां तक दामों पर असर डालने का सवाल था, वह उन्हें नीचे दबा रहा था।

गोल्ड स्टैण्डर्ड या सुवर्णमान की प्रतिष्ठा तो संसार में फिर से हो गई, पर न तो उसका पुराना रूप ही लौट सका, न उसे वह पुराना वातावरण ही मिल सका। कई देशों में यह व्यवस्था कर दी गई कि सोना सिक्के के रूप में न मिल कर सिल या पासे के रूप में ही मिल सकेगा। इसका उद्देश था सोने को चलन में जाने से रोकना और उसका उपयोग यथासंभव अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए ही होने देना। महासमर से पहले गोल्ड स्टैण्डर्ड, एक्सचेंज की रेटों को ही टिकाने में समर्थ न था, विभिन्न देशों में दामों को भी प्रायः अपनी-अपनी जगह कायम रखता था। अगर किसी देश में दाम अपेक्षाकृत ऊपर चढ़ते तो वहां का माल दूसरों को महंगा पड़ता, इसलिए वहां खरीदारी कम हो जाती और वहां की स्थिति से फायदा उठाने के लिए दूसरे देशवाले वहां अपना माल विशेष रूप से भेजने लगते। नतीजा यह होता कि वहां बाहर से माल ज्यादा आने लगता और वहां से निकल कर सोना बाहर जाने लगता। सोना कम होते ही बैंकें व्याज की दर ऊंची कर देतीं और द्रव्य महंगा होते ही दाम गिरने लगते। अगर कहीं दाम अपेक्षाकृत गिरने लगते तो वहां गोल्ड स्टैण्डर्ड इसके विपरीत काम

करता; अर्थात् वहां से माल बाहर जाकर बिकने लगता—वहां सोना बाहर से आने लगता—सोने की वृद्धि होने पर ब्याज की दर गिरती और द्रव्य सस्ता होते ही दाम चढ़ने लगते। इस तरह की हरकतों से क्षुब्धसरोवर में फिर शांति आ जाती—वैषम्य का स्थान साम्य ले लेता—बिगड़ी बातें अनतिविलम्ब सुधर जातीं।

पर अब वह जमाना नहीं रह गया था। गोल्ड स्टैण्डर्ड से सम्बन्ध रखनेवाला खेल तो खेला जा रहा था, पर उसके पुराने नियमों की पाबन्दी करने को अब कोई भी देश तैयार नहीं था। पहले जब एक देश का माल दूसरे देश में जाकर बिकता तब उसे ऐसे अवरोधों या रुकावटों का सामना करना नहीं पड़ता जैसे अब खड़े हो चले थे। एक्सचेंज-सम्बन्धी परिस्थिति का ऊपर उल्लेख हो चुका है। किसीकी रेट ऊंची थी (जैसे इंगलैण्ड की), किसीकी बेहद ऊंची (जैसे भारतवर्ष की)—और किसीकी बेहद नीची (जैसे फ्रांसादि देशों की)। पर व्यापार के मार्ग में और भी बड़ी कठिनाइयां थीं। जिस समतल या प्रायः समतल भूमि पर उसे चलने का अभ्यास था वह ऊबड़-खाबड़ ही नहीं हो चली थी, उसमें कहीं खाइयां खुद गई थीं, कहीं ऊंची दीवारें खड़ी कर दी गई थीं।

अक्सर इसके लिए राष्ट्रीयता दोषी ठहराई जाती है और कहा जाता है कि जिन देशों ने ऐसे उपायों का अवलम्बन किया उन्होंने दूसरों के साथ अपना भी नुकसान किया। पर जिन्होंने खाइयां खोदीं या दीवारें खड़ी कीं उन्होंने दूसरों के आक्रमण से अपनी-अपनी जान बचाने के लिए ऐसा किया। संसार से सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता अभी दूर—बहुत दूर थी। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को दोष देते हैं, पर क्या उनका अपना दिल पाक-साफ था और क्या वे रात-दिन इन्हें हड़प जाने की फिक्र में नहीं रहते थे? भारतवर्ष की ही बात लीजिए। कभी-कभी उसको भी इसलिए भला-बुरा कहा जाता है कि उसने टैरिफ की दीवार ऊंची कर दी—अर्थात् बाहर से आनेवाले माल पर शुल्क बढ़ा दिया। पर क्या भारतवर्ष अपने कटु अनुभव को कटुतर होने देता और विदेशी कल-कारखानों की प्रतियोगिता-द्वारा अपने कल-कारखानों के नष्ट होने का दृश्य देखता रहता? अगर उसने वह दीवार ऊंची

की तो उस आक्रमण से अपने-आप को बचाने के लिए—अपनी हस्ती कायम रखने के लिए। "रोना है तो इसीका, कोई नहीं किसीका; दुनिया है और मतलब, मतलब है और अपना"—जहां सारे संसार का यह हाल हो वहां आत्मरक्षा के आर्थिक उपायों का अवलम्बन करनेवाले देश या राष्ट्र को कोई दोषी क्योंकर ठहरा सकता है? दोष था तो सबका, बल्कि यह कहना चाहिए कि दोष उनका था जो अपने बल का दुरुपयोग कर निर्बल को सताते आए थे और जो आज भी अन्तर्राष्ट्रीयता की बेदी पर अपने तुच्छ-से-तुच्छ स्वार्थ का भी बलिदान करने को तैयार नहीं थे।

पर यह तो विषयान्तर-सा हुआ जा रहा है। हम यह कहने जा रहे थे कि स्थिति बहुत कुछ बदल गई थी और गोल्ड स्टैण्डर्ड के लिए पुरानी रीति से तारतम्य करना-कराना अब असम्भव-सा हो रहा था। पहले तो ऐसा होता कि किसी देश में अधिक सोना आने पर द्रव्य सस्ता हो जाता, दाम चढ़ जाते, वहां बाहर से जिन्स या माल आकर बिकने लगता, फिर इसके बदले सोना बाहर चला जाता और जो वैषम्य उपस्थित हो गया था वह मिट जाता। पर अब यह होने लगा कि जिसके पास सोना पहुंचता वह उसे दबा कर बैठ जाता और उस सोने का दामों पर जो असर पड़ना चाहिए था, पड़ने नहीं देता। न दाम बढ़े, न वहां बाहर से जिन्सें विशेष रूप से आकर्षित हो सकीं। इसपर भी तुर्रा यह कि बाहर के माल पर ड्यूटी इतनी ऊंची कर दी गई कि साधारण अवस्था में जितना आ सकता था उतना भी न आ सका! जो सोना दबाए बैठा था वह अगर माल लेता जाता तो उसका सोना विदेशों में फैल जाता और दामों को ऊपर उठाने में सहायक होता। पर उसने जो नीति ग्रहण की उसका अर्थ यह हुआ कि वह सोना लेगा, पर उसे छोड़ेगा नहीं। गोल्ड स्टैण्डर्ड का खेल पहले इस ढंग से नहीं खेला जाता था।

इस सिलसिले में कुछ और बातों का उल्लेख आवश्यक है। जर्मनी पर हर्जाने का इतना भारी बोझ लाद दिया गया था कि उसकी कमर टूट-सी गई। पर वास्तव में विजित अपने साथ विजेता को भी ले डूबा। इंगलैण्ड खुद अमेरिका का बहुत बड़ा कर्जदार हो रहा था, पर अमेरिका

उससे माल में भुगतान लेने को तैयार नहीं था। अमेरिका की तरह फ्रांस भी साहूकार बन गया था, पर उसकी भी नीति यही हो रही थी कि कर्जदारों से जहां तक हो सके सोने में ही भुगतान लिया जाय, बल्कि उसने अपनी मुद्रा की कीमत घटाकर अपने निर्यात-व्यापार को उत्तेजन देना और दूसरों के क्षेत्र पर आक्रमण करना भी शुरू कर दिया था। प्रायः सबकी नीति यही हो रही थी—अपना माल अधिक-से-अधिक बेचना, दूसरों का माल कम-से-कम खरीदना। ऐसी स्थिति में वह तारतम्य कैसे हो सकता था जिस पर संसार का आर्थिक स्वास्थ्य निर्भर था ?

बला जब तक टाली जा सकती थी, टाली गई। अमेरिका और फ्रांस ने दूसरे देशों को कर्ज दे-देकर परिस्थिति को सम्हालने की चेष्टा की। इससे प्रायः दो साल—१९२६ से १९२८ तक—सुकाल-सा बना रहा। उत्पादन की वृद्धि हुई, सुख-शान्ति विराजमान रही। पर यह अवस्था स्थायी नहीं थी। रोग जड़ से तो गया नहीं था, केवल उसका उभड़ना कुछ समय के लिए रुक गया था।

कुछ ही समय बाद न्यूयार्क के शेयर-बाजार में सट्टा ऐसे जोर-शोर से चला कि अमेरिका के व्याज उपजानेवालों के लिए, दूसरे देशों को देने के बजाय अपने घर के सटोरियों को कर्ज देना कहीं अधिक लाभदायक प्रतीत होने लगा। फ्रांस ने भी दूसरे देशों को कर्ज देने से हाथ खींच लिया। इससे इन देशों की मुसीबत और भी बढ़ गई। वहां दाम तेजी से गिरने लगे। उन देशों की दशा विशेष शोचनीय हो चली जो कच्चा माल—मसलन चीनी, रबर, कहवा—पैदा करनेवाले थे। १९२९ में अमेरिका में शेयरों के सट्टे ने और भी जोर पकड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि बाहर से आकर्षित होकर बहुत कुछ पैसा अमेरिका पहुंचने लगा। दूसरे देश अपने-अपने बचाव के लिए तरह-तरह की तरकीबें करने लगे। इंगलैण्ड ने अपनी बैंक-रेट अर्थात् व्याज की दर ६॥ प्रतिशत कर दी। इसके फलस्वरूप वहां दाम और भी नीचे गिरे। आखिर अमेरिका भी मन्दी की हवा के झोंके से कब तक बच सकता था ? वहां के शेयर-बाजार में जो बेहद तेजी आ गई थी वह कुछ ही समय बाद जाती रही और प्रतिक्रियास्वरूप दामों का गिरना शुरू

हो गया। मन्दी की घटा उत्तरोत्तर घनघोर होती गई और थोड़े ही समय में उसने आकाश-मात्र को आच्छादित कर लिया।

दाम गिरने से उद्योग-धंधों को जबर्दस्त धक्का पहुँचा। इंगलैण्ड आदि देशों में बेकारी बढ़ चली। कई देशों ने अपनी-अपनी टैरिफ (आयात-सम्बन्धी शुल्क) की दीवार और भी ऊँची करके आत्मरक्षा करने का प्रयत्न किया। पर जहां सभी आयात को रोकने की ऐसी चेष्टा कर रहे थे वहां निर्यात का कम हो जाना अनिवार्य था, इसलिए अन्त में प्रायः प्रत्येक देश की दशा और भी खराब हो गई। १९३१ के आरम्भ में स्थिति कुछ सुधरती-सी नजर आने लगी, पर मई का महीना आते-आते वह चांदनी जाती रही और रात पहले से भी अँधेरी हो चली।

नई आफत की घटा ऑस्ट्रिया की ओर से आई। वहां के उद्योग-धंधों के साथ जो सबसे बड़ी बैंक सम्बद्ध थी उसका दिवाला निकल गया। जिन चीजों की जमानत पर उसने दूसरों को कर्ज दे रखा था उनकी कीमत गिर जाने से पावने की अपेक्षा देना अधिक हो गया और अन्त में बैंक को टाट उलट देना पड़ा। इससे बड़ी घबराहट फैली और दूसरे देशों में भी लोग बैंकों से अपने-अपने डिपॉजिट उठाने लगे। जर्मनी ने जुलाई में अपनी बैंकों को बन्द कर दिया और ऐसे कठोर नियन्त्रण लगा दिए कि दूसरे देशों की जो रकम वहां जमा थी उसको उठा कर कोई बाहर न ले जा सके। जर्मनी को इंगलैण्ड ने बहुत कुछ कर्ज दे रखा था, इसलिए ऐसी स्थिति होते ही बाहरवाले इंगलैण्ड से अपनी-अपनी रकम हटाने या खेंचने लगे। इंगलैण्ड, अमेरिका और फ्रांस से कर्ज ले-ले कर भुगतान करता गया, पर जब इससे भी सोने के स्रोत का प्रवाह बन्द नहीं हुआ और उसकी स्थिति भयंकर हो चली तब सितम्बर में उसने गोल्ड स्टैण्डर्ड को स्थगित कर अपने स्टर्लिंग को सोने के बन्धन से मुक्त कर दिया। उसकी देखा-देखी और देशों ने भी ऐसा ही किया। इने-गिने देश गोल्ड स्टैण्डर्ड पर रह गए, पर वहां एक्सचेंज-सम्बन्धी ऐसे नियन्त्रण हो चले कि लोगों के लिए पहले की तरह भुगतान करना या सोना बाहर भेजना असम्भव हो गया।

यों तो यह मन्दी सब को तबाह करनेवाली थी, मगर खास कर उन देशों को, जो कृषि-प्रधान थे। कल-पुरजों से बननेवाली चीजों के दाम उस हद तक नहीं गिरे जिस हद तक खेतों की उपज के। एक तो खेती-बारी करनेवाले, कल-कारखानेवालों की अपेक्षा, कहीं कम चुस्त-चालाक होते हैं। फिर, यह धंधा ऐसा है कि इसकी रीति-नीति में समयानुकूल परिवर्तन या तो होता ही नहीं, या थोड़ा-बहुत होता भी है तो बड़ी देर और मुश्किल से। अन्न की मांग कम हो जाने पर भी किसान करे तो क्या? न तो वह अन्न उपजाना छोड़कर दूसरे धंधे में लग सकता है, न वह कोई संगठन या समझौता करके उत्पादन को ही कम कर सकता है। इधर दुनिया में काश्तकारी बहुत बढ़ गई है। अर्जेण्टाइन, कनाडा, आस्ट्रेलिया–जैसे देशों में खेती बहुत बड़े पैमाने पर होने लगी है और अन्न का निर्यात उनके आर्थिक अस्तित्व का मुख्य आधार बन गया है। खेती का विस्तार ही नहीं बढ़ा है, उसकी गहराई भी बढ़ गई है—अर्थात् अग्रगामी देशों में खेती वैज्ञानिक ढंग से होने लगी है और इस कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति कहीं-से-कहीं बढ़ चली है। भारतवर्ष-जैसे देश में लोगों को भरपेट मोटा अन्न भी नहीं मिलता, इसलिए यहां वह दिल्ली दूर है जहां पहुँच जाने पर अन्न की मांग तृप्त हो सकती है। पर समृद्धिशाली देशों में और बात है। वहां लोगों को भरपेट अन्न मिल रहा है। इसलिए अन्न की मांग परिमित हो गई है, बल्कि भोजन में अन्न का स्थान कुछ हद तक मांस-मछली, फल-मूल इत्यादि ने ले लिया है, इसलिए अन्न की खपत कम हो गई है। अमेरिका का उदाहरण देते हैं। वहां १८८९ में फी शख्स पीछे २४८ पौण्ड गेहूँ का आटा लगा था। पर १९२९ में यह मात्रा घट कर १७५ पौण्ड रह गई थी। ऐसी स्थिति में दाम गिरने के कारण, कृषि-जीवी लोगों को उन लोगों की अपेक्षा विशेष क्षति-ग्रस्त होना पड़ा जो तैयार माल बनानेवाले थे या अपनी जीविका के लिए उसपर निर्भर थे। एक ओर अन्न की पैदावार बढ़ रही थी, दूसरी ओर उसकी खपत कम हो रही थी। भारतवर्ष–जैसे देशों में अन्न की वास्तविक कमी थी, पर वहां के लोग इतने दीन-हीन थे कि ऐसी सस्ती में भी उन्हें पेट भर अन्न मिलना असम्भव था।

मन्दी के कारण दाम कहां तक गिरे यह नीचे के सूचक अंकों से जाहिर होगा:—

(थोक दाम)

	कलकत्ता		इंगलैण्ड
	जुलाई १९१४=१००		१९१३=१००
१९२९	सितम्बर	१४३	१३५.८
१९३०	,,	१११	११५.५
१९३१	,,	९१	९९.२
१९३२	,,	९१	१०२.१
१९३३	,,	८८	१०३.०

पर जिन वस्तुओं के दाम ऊपर लिए गए हैं उनमें निर्यात और आयात दोनों ही शामिल हैं। अगर इनका पृथक्करण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि जिस हद तक निर्यात (अर्थात् यहां से बाहर जानेवाली) वस्तुओं के दाम गिरे उस हद तक आयात (अर्थात् बाहर से यहां आनेवाली) वस्तुओं के नहीं। इन सूचक अंकों को देखिए:—

कलकत्ता (१९१४=१००)

		निर्यात वस्तुओं के दाम	आयात वस्तुओं के दाम
१९२९	सितम्बर	१३३	१५०
१९३१	दिसम्बर	८१	१२४
१९३२	,,	६९	११५
१९३३	,,	७३	११२

पर इन अंकों से भी परिस्थिति की भीषणता का पूरा पता नहीं चलता। निर्यात वस्तुओं में कुछ ऐसी हैं जिनके उत्पादन का व्यवसाय विशेष रूप से संगठित है। मन्दी की मार इनपर वैसी नहीं पड़ी जैसी साधारण कृषि-व्यवसाय पर। चाय का उदाहरण देते हैं। यों तो इस देश की पैदावार में यह भी शामिल है और करोड़ों रुपए की चाय यहां से बाहर जाती है, पर यह व्यवसाय प्रधानतः विदेशियों के हाथ में है और चाय उपजानेवाले धान या पाट उपजानेवालों से कहीं अधिक शिक्षित, संगठित और शक्ति-

शाली हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने जिस तरह अपनी रक्षा कर ली उस तरह दूसरों के लिए करना असम्भव था। चाय के व्यवसायियों और भारत-सरकार के सहयोग से उसका उत्पादन परिमित कर दिया गया, जिससे दामों का गिरना रुक गया और कुछ समय बाद दाम चढ़ने भी लगे। १९१४ (=१००) के आधार पर १९२९ सितम्बर में चाय के दाम १२९ थे, मई १९३३ में ७४ और मई १९३४ में १८७ थे। पर यह खुशनसीबी उन चीजों को हासिल नहीं हो सकती थी जिन्हें उपजाने में यहां के किसानों का हाथ है और जिनपर उनका अस्तित्व निर्भर है। नीचे के सूचक अंकों से यह स्पष्ट है:—

जुलाई १९१४=१००

	सितम्बर १९२९	मई १९३३	मई १९३४
चावल	१२४	६०	६५
गेहूं	१३५	८९	७२
तेलहन	१७५	७२	९२
पाट	९०	५०	३७
कपास	१४६	८४	७१

दामों के गिरने के कारण किसानों की आय कहीं-से-कहीं कम हो गई। नीचे दिए गए अंकों से इसपर प्रकाश पड़ता है। तालिका में, किसानों को मिलनेवाले दामों के आधार पर, यह दिखाया गया है कि प्रत्येक प्रान्त की खेती की खास पैदावार की कीमत पर मन्दी का क्या असर पड़ा:—

(लाख रुपए)

	१९२८—२९	१९३२—३३
मद्रास	१,८०,७८	९९,३३
बम्बई	१,२०,५२	८३,८६
बंगाल	२,३२,५९	९०,५४
संयुक्त प्रान्त	१,४०,५२	९१,०१
पंजाब	७६,७८	४८,५३

बिहार-उड़ीसा	१,३५,१७	५६,५५
मध्य प्रान्त	६८,७७	३५,४०
	९,५५,१३	५,०५,२२

अर्थात् जहां १९२८–२९ में इन प्रान्तों की खेती की खास पैदावार की कीमत प्रायः ९॥ अरब रुपए कूती गई थी वहां १९३२–३३ में वह प्रायः ५ अरब रुपए ही कूती जा सकी। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि किसान को जहां मन्दी आरम्भ होने से पहले १) मिलता था वहां उसे अब सिर्फ ॥) मिल रहा था। पर उसकी देनदारी प्रायः ज्यों-की-त्यों खड़ी थी—लगान, कर, ब्याज इनमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई थी। कर्ज के बोझ से यहां के किसान यों ही दबे हुए थे– अब गल्ले की सस्ती के कारण उस बोझ का दबाव इतना बढ़ गया कि उनके लिए सांस लेना भी कठिन हो गया। यहां यह ध्यान में रखने की बात है कि भारतवर्ष में एक्सचेंज की रेट ऊंची होने के कारण दाम पहले से ही नीचे थे। किसान को जहां १५ रुपए (१६ पेंस की दर से) मिलना चाहिए था वहां उसे प्रायः १३।~। (१८ पेंस की दर से) ही मिल रहा था। और उत्पादकों की भी यही स्थिति थी। मन्दी ने आकर व्यथित की व्यथा और भी बढ़ा दी—उसका दुःख असह्य कर दिया। हमारे किसान और अन्य उत्पादक दोनों ओर से मारे गए। यह इस देश की दुरवस्था की असाधारणता थी।

बिड़ला जी अपने एक तत्कालीन लेख* में इस मन्दी के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"वर्तमान आर्थिक संकट अनजान लोगों के लिए एक अजीब पहेली है। इसके पहले भी आर्थिक संकट आते थे, किन्तु उनका जन्म किसी प्रकार के दैवी-मानुषी प्रकोप, महामारी, अग्नि-प्रलय, जल-प्रलय, अनावृष्टि, भूकम्प, राजविप्लव ऐसे-ऐसे कारणों से होता था। कारण मिट जाने पर स्थिति सुधर जाती थी। उस समय रेल-तार न होने के कारण दुनिया आज की तरह छोटी न थी, स्थानीय कष्ट अपनी सीमा के भीतर ही कष्ट-

* 'पानी में भी मीन पियासी' ("बिखरे विचार", पृ० १४९)

प्रद होते थे। किन्तु आज के आर्थिक संकट का ढंग कुछ अनोखा है। न महामारी है, न प्लेग है, न राजविप्लव है, न अनावृष्टि या अतिवृष्टि है, न अग्नि-प्रलय है, भूकम्प तो अभी हाल में ही हुआ है। फिर भी चारों ओर से तबाही की आवाज आती है। खेत धान्य से भरे हुए हैं, किन्तु पेट खाली है। माल बेचनेवाले लालायित हैं, गोदाम ठसाठस भरे हुए हैं, इधर लेनेवाले चीजों के लिए तरस रहे हैं। चीजें सस्ती हैं, किन्तु गांठ में दाम नहीं। सामने हल्वे से भरी थाली रखी है और पेट में भूख है, परन्तु हाथ बंधे हैं और होंठ सी दिए गए हैं। ऐसी ही आज की हालत है। पुराने जमाने में जब फसल की बहुतायत होती थी और दाम मन्दे होते थे तब उसे लोग सुकाल कहते थे। आज भी चीजों की बहुतायत है, दाम भी मन्दे हैं, तो भी सुकाल नहीं, दुकाल है। अमेरिका में "चीजें कम पैदा करो"——इसकी धूम है। यहां भी "पाट कम बोओ", "गेहूं कम बोओ"—ऐसी सलाह देने-वालों की कमी नहीं। जहां सुभिक्ष की चाह थी, वहां दुर्भिक्ष में मुक्ति सूझती है। कल-कारखानेवालों ने तो पैदाइश कम करके अपनी स्थिति सुधार ली है। उदाहरणार्थ, चाय और चटकलवालों ने ऐसा किया है और कोयलेवाले करने की तैयारी में हैं। किसानों में इतना एका नहीं कि इस तरह बंधेज के साथ पैदाइश घटा लें, तो भी वे कुछ इसी तरह की फिक्र में हैं। क्या अजब जमाना है! जहां बहुतायत के लिए लोग तरसते थे, वहां बहुतायत के मारे लोग परेशान हैं!"

और यह परेशानी अभी कई साल तक रहनेवाली थी।

९

स्टर्लिंग से गंठबन्धन

पाठकों को स्मरण होगा कि हिल्टन यंग कमीशन ने रुपए को सोने का प्रतीक बनाने का प्रस्ताव किया था। सरकारी विधान ने रुपए को सोने और स्टर्लिंग का प्रतीक बना दिया। १९२७ में जो ऐक्ट पास हुआ उसमें यह व्यवस्था थी कि सरकार सोने के बदले रुपया दे, और रुपए के बदले सोना अथवा स्टर्लिंग। व्यवहार में वह सोने के बदले रुपए देती थी, और रुपए के बदले स्टर्लिंग। इंगलैण्ड में उन दिनों स्टर्लिंग के नोट सोने के प्रतीक थे। इसलिए स्टर्लिंग के रास्ते भी रुपया सोने पर ही पहुंच जाता था।

१८९३ में चांदी की टकसाल बन्द करने के समय कहा गया था कि रुपया सोने का प्रतीक होगा। हमको वचन दिया गया था कि यहां विशुद्ध गोल्ड स्टैण्डर्ड (सुवर्ण-मान) की स्थापना होगी। पर गोल्ड स्टैण्डर्ड की जगह गोल्ड एक्स्चेंज स्टैण्डर्ड स्थापित किया गया। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिश हुई कि गोल्ड एक्स्चेंज की जगह गोल्ड बुलियन (धात्वात्मक) स्टैण्डर्ड की प्रतिष्ठा की जाय, पर जो विधान बना उसने इस देश को कुछ और ही स्टैण्डर्ड दिया। यह एक गंगा-जमुनी चीज थी जिसमें सोने से स्टर्लिंग की प्रधानता थी और स्टर्लिंग सोने का प्रतीक था, इसलिए कहना चाहिए कि यहां वही पुराना गोल्ड एक्स्चेंज स्टैण्डर्ड, कुछ हेरफेर के साथ, काम कर रहा था। हां, लक्ष्य यही था कि धातु के रूप में ही सही, यहां विशुद्ध गोल्ड स्टैण्डर्ड की स्थापना की जाय।

१९२७ में यहां मुद्रा-संबंधी जो व्यवस्था की गई वह १ अप्रैल (१९२७) से १९ सितम्बर १९३१ तक चली। २० सितम्बर को यह घोषित किया गया कि इंगलैंड में मूल्य का मान अब सोना न रह गया था—अर्थात् वहां से गोल्ड स्टैण्डर्ड उठ चुका था। २१ दिसम्बर को यहां बड़े लाट ने एक

फर्मान निकाल कर रुपयों के बदले सरकार के सोना या स्टर्लिंग देने की व्यवस्था उठा दी। इसका अर्थ यही हो सकता था कि सरकार रुपए को न सोने से सम्बद्ध रखना चाहती थी, न स्टर्लिंग से—वह रुपए के मूल्य को हर तरह के बन्धन से मुक्त कर देना चाहती थी। पर उसी दिन लन्दन में भारत-सचिव ने यह ऐलान किया कि रुपए का मूल्य १८ पेंस स्टर्लिंग रहेगा। श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला, जो उस समय लन्दन में थे, अपनी एक पुस्तक* में लिखते हैं—"इंगलैण्ड ने आखिर गोल्ड स्टैण्डर्ड छोड़ दिया। भारतवर्ष सोने से तो हट गया पर स्टर्लिंग से वह अभी तक बंधा हुआ है। शुस्टर ने शिमले में कुछ कहा, और होर ने फेडरल कमेटी में कुछ। जान-बूझ कर यहांवालों ने पीछे बेईमानी की है।"

इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में लिखा है कि प्रतीक और स्वयंसिद्ध मुद्रा का तलाक हो जाने पर "प्रतीक की कीमत कटी पतंग की तरह हो जाती है और जैसे हवा के झोंकों के बल पर पतंग गिरती है या उठती है उसी तरह प्रतीक की कीमत भी चलन की फुलावट की कमी-बेशी के आधार पर झिलोरे खाती रहती है।" मान लीजिए कि रुपए का तलाक जहां सोने से हो गया था वहां स्टर्लिंग से भी हो जाता। उस हालत में रुपए की गति उसी कटी पतंग-सी होती। उसका विनिमय-मूल्य इस बात पर निर्भर करता कि चलन में उसकी मिकदार क्या थी—उसके लिए मांग कैसी थी—यहां इस देश में वह कितनी क्रय-शक्ति अथवा मूल्य रखता था। कटी पतंग पर आदमी का कोई बस नहीं रह जाता, क्योंकि हवा आदमी का हुक्म माननेवाली नहीं है; पर चलन में फुलावट या गिरावट करके—या यों कहिए कि उसका विस्तार या संकोच करके—रुपए की कीमत घटाई-बढ़ाई जा सकती थी। सोने या स्टर्लिंग का प्रतीक न रहने पर भी रुपए की अपनी कीमत हो सकती थी और उस कीमत का रुपए की चांदी की कीमत से ऊपर रहना भी संभव था।

पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकारियों ने एक बार रुपए को स्वतंत्र कर फिर कुछ ही घंटों बाद अपना विचार बदल दिया और उसका

* "डायरी के कुछ पन्ने"

स्टर्लिंग से गंठबन्धन कर दिया। २४ सितम्बर को बड़े लाट ने एक नया फर्मान निकाल कर २१ सितम्बर के फर्मान को मन्सूख कर दिया—कानूनन परिस्थिति फिर वही हो चली जो २१ सितम्बर से पहले थी। हां, रुपए के बदले स्टर्लिंग मिलना पहले से जरूर मुश्किल कर दिया गया। अब स्टर्लिंग सर्वसाधारण को नहीं, बल्कि कुछ ख़ास बैंकों को ही मिल सकता था। रेट वही पुरानी रही—एक रुपए के १७ ४९/६४ पेंस। इस बात की भी व्यवस्था कर दी गई कि किस प्रकार का देना चुकाने के लिए स्टर्लिंग मिल सकता था। रुपया अब स्टर्लिंग का प्रतीक हो गया, इसलिए सोने में उसकी कीमत वही हो सकती थी जो स्टर्लिंग की। अगस्त १९३१ के अन्त में यहां सोने का दाम २१।॥-)। तोला था—यह दिसम्बर १९३१ में २९=) हो चला था। आने वाले दिनों में यह दाम और भी ऊंचा होने वाला था। रुपया अब स्टर्लिंग से बंधा हुआ था, इसलिए सोने के मुकाबले जिस हद तक स्टर्लिंग गिरता उसी हद तक रुपए को भी गिरना पड़ता। उसकी अपनी कोई हस्ती नहीं थी।

भारतवर्ष में इस समय लोगों की आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। इधर सरकार की जो मुद्रा-नीति चली आ रही थी उसके भयंकर फल अब प्रत्यक्ष होने लगे थे। मन्दी के कारण दाम यों ही नीचे थे, पर इस देश में ऊँचे एक्सचेंज ने दामों को और भी नीचे गिरा दिया था और गांव में रुपए का भीषण दुष्काल उपस्थित कर दिया था। ऐसे समय में जब सोने की कीमत (रुपयों में) ऊँची हो चली तब लोगों को इसका सहारा-सा मिल गया और वे सुनारों के हाथ अपना जेवर इत्यादि बेच कर अपना काम चलाने लगे। पर यह सोना उन सुनारों के पास कब तक टिक सकता था? थोड़े ही समय में इस देश से सोना विदेश जाने लगा और कुछ ही महीनों के अन्दर प्रायः ५० करोड़ का सोना विदेश चला गया। इस सोने के बदले मिलनेवाले स्टर्लिंग की बहुतायत हो जाने से, स्टर्लिंग की बिक्री पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना अब अनावश्यक हो गया और ३१ जनवरी १९३२ के बाद उसकी बिक्री बे-रोक-टोक होने लगी।

रुपए का स्टर्लिंग से गंठबन्धन भारत-सचिव के दबाव से किया गया।

लन्दन में उस समय गोलमेज परिषद् के सिलसिले में जो थोड़े से भारतीय नेता या प्रतिनिधि मौजूद थे उन्होंने वहां सरकारी नीति का घोर विरोध किया और भारत-सचिव को महात्मा गांधी के सन्तोष के लिए इस विषय पर कुछ कहने-सुनने को मजबूर किया।

श्री बिड़ला जी अपनी "डायरी"* में प्रसंगवश लिखते हैं :—

"आज (६ अक्तूबर १९३१) शाम को इण्डिया ऑफिस में सर हेनरी स्ट्रॉकोश के साथ दंगल हुआ। सभापति का आसन पहले तो भारत-सचिव सर सैमुएल होर ने ग्रहण किया, पर मन्त्रिमण्डल की मीटिंग थी, इसलिए सर रेजिनल्ड मैण्ट को अपना पद देकर कुछ ही मिनट बाद चलना बना। और बहुत से लोग उपस्थित थे—गांधीजी, सर पुरुषोत्तमदास, मि० जिन्ना, सर मानिकजी, सर फिरोजशाह सेठना, के० टी० शाह, प्रो० जोशी, रंगास्वामी अयंगार इत्यादि। गांधीजी प्रायः ७ बजे कार्यवश उठकर चले गए। ५॥ बजे से कार्रवाई आरम्भ हुई। सरकार की ओर से सर हेनरी स्ट्रॉकोश ने वक्ता का काम किया, और अपनी ओर से मैंने। ब्लैकेट भी मौजूद था, पर कुछ बोला नहीं।

"स्ट्रॉकोश ने पहले तो संसार की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया, फिर भारतवर्ष की बातें करने लगा। उसकी सबसे बड़ी दलील यही थी कि अगर एक्सचेंज १–६ स्टर्लिंग पर न बांध दिया गया होता तो न जाने लुढ़कते-लुढ़कते कहां जाकर दम लेता और न जाने सरकार को कहां तक नोट छपाकर अपना काम चलाना पड़ता। मैंने जब पूछा कि आखिर ठहराने के लिए तुम्हारे पास साधन क्या है ? तब उससे कोई उत्तर न बन पड़ा। उसने अधिकांश समय मेरी उन दलीलों का जवाब देने में लगाया जो मैंने Monetary Reform (मुद्रा-सम्बन्धी सुधार) नाम की पुस्तिका में पेश की है। मैंने कहा कि मैं बात-बात पर बहस करने को तैयार हूँ, पर मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि उस पुस्तिका में मैंने जो मत प्रकट किया है वह मेरा अपना है, भारतीय व्यापारीवर्ग का नहीं। यहां जो लोग आए हैं

---

* "डायरी के कुछ पन्ने", पृष्ठ ६७ और ६९।

वे भारत-सरकार की नीति के विषय में कुछ कहने-सुनने आए हैं, इसलिए उस विषय को छोड़ कर मेरी *पुस्तिका की समालोचना में समय लगाना उनके साथ अन्याय करना है। फिर भी स्ट्रॉकोश ने अपना विचार न बदला।

"खैर, अच्छी बहस हुई। मैंने लिखा था कि एक्सचेंज की दर उठाने का वास्तविक उद्देश अंग्रेज सिविलियन और व्यवसायी को लाभ पहुँचाना था। यह बात इन लोगों को खूब चुभी और स्ट्रॉकोश कहने लगा कि इसे किस तरह प्रमाणित कर सकते हो? सर पुरुषोत्तमदास ने कहा कि यह किस्सा तो लम्बा-चौड़ा है और इसे सुनने-सुनाने के लिए समय चाहिए। खाने-पीने का वक्त हो रहा था, लोगों को अपने-अपने काम से जाना था, इसलिए चर्चा स्थगित की गई।

---

*इस पुस्तिका का विषय है दामों की घटा-बढ़ी को रोकने–रुपए की क्रयशक्ति को बराबर समान रखने की वांछनीयता और उसका उपाय।

रुपए के दो प्रकार के मूल्य हैं—एक तो देश के भीतर का, दूसरा देश के बाहर का। देश के भीतर के मूल्य का अर्थ है इसकी विभिन्न वस्तु-सम्बन्धी क्रय-शक्ति। देश के बाहर के मूल्य का अर्थ है विदेशी मुद्रा—जैसे पौंड, स्टर्लिंग से विनिमय की दर या भाव। अब तक अधिकारियों का लक्ष्य इसके बाहरी मूल्य को स्थिर रखने की ओर रहा है। १६, २४ या १८ पेंस, जब जो ठीक जंचा इसका मूल्य कर दिया और एक्सचेंज को वहीं टिका दिया। पर इसके बाहरी मूल्य के प्रश्न से कहीं अधिक महत्व-पूर्ण प्रश्न है इसके देशान्तर्गत मूल्य का। यह मूल्य अब तक अवाधित गति से घटता-बढ़ता रहा है—जब रुपए का मूल्य घटा तब दाम चढ़ गए (जैसे १८९६ और १९१४ के बीच) और जब रुपए का मूल्य बढ़ा तब दाम गिर गए (जैसे कुछ दिन पहले की मन्दी के जमाने में)। लेखक ने इस घटा-बढ़ी को रोकने की वांछनीयता पर भारतवर्ष की दृष्टि से विचार किया है और दिखाया है कि इस विषय में Irving Fisher आदि विद्वानों के सिद्धान्तों को, हेर-फेर के साथ, कैसे व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में, मीमांसा-भाग का अन्तिम अध्याय द्रष्टव्य है।

"मुझे ऐसा जान पड़ा कि स्ट्रॉकोश अपने विषय का बड़ा पंडित है, पर बेईमान नहीं है। इसलिए सम्भव है या तो इसकी चर्चा ही न हो, या ब्लैकेट* जैसे आदमी को सरकारी पक्ष के समर्थन का काम सौंपा जाय। स्ट्रॉकोश अच्छी तरह जानता है कि सरकार की ओर से पेश करने लायक कोई जोरदार दलील नहीं है। वह करे तो क्या? बोला कि तुमने बार-बार कहा है कि हमारा सोना उड़ा दिया। वास्तव में सरकार ने उड़ाया नहीं; हिन्दुस्तान की जो जिम्मेदारी थी उसे पूरा किया। मैंने पूछा, इंगलैण्ड की भी तो जिम्मेदारी थी—यहां क्या किया? उसने कहा—मगर इंगलैण्ड हिन्दुस्तान-जैसा दूसरों का देनदार नहीं है। मैंने उत्तर दिया—मैं इसे मानता हूं, पर दो बातें हैं। इंगलैण्ड वैसे देनदार न हो, पर यहां एक्सपोर्ट से इम्पोर्ट ज्यादा है। हमारा देश देनदार है, पर वह इम्पोर्ट से एक्सपोर्ट ज्यादा करता है, यह तुम्हें न भूलना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हम अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति कर, अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ा कर ही अपना देना चुका सकते हैं। फिर

---

* वास्तव में ब्लैकेट के इस विषय पर अपने स्वतंत्र विचार थे जो उसने अपनी Planned Money (व्यवस्थित मुद्रा) नामक पुस्तक में प्रकट किए हैं। पुस्तक-लेखक के विचार में मन्दी के कारण भारतवर्ष-जैसे देशों के सामने बड़ी गहन समस्या उपस्थित हो गई थी और साधारणतः सबकी, पर विशेषतः उनकी दृष्टि से, दामों का उठना बहुत जरूरी था। वह लिखता है :—

"भारतवर्ष की परिस्थिति इस देश से भी खराब है। वहां की पैदावार के दाम गिर जाने से, कर्ज का बोझ—चाहे कर्ज देश के भीतर लिया गया हो चाहे बाहर—बेहद भारी हो चला है। भारतवर्ष अधिक काल तक उस बोझ को लेकर न चल सकेगा। अगर दाम न बढ़े तो कर्ज, लगान, मजूरी, किराया, महसूल-जैसी निर्दिष्ट रकमों में कमी किए बिना काम चलने का नहीं। पर जो भारतवर्ष की स्थिति से परिचित हैं उन्हें इस प्रकार की कमी होने की संभावना हास्यास्पद जंचेगी। सबकी

हमारी नीति कौन-सी होनी चाहिए—उद्योग-धन्धों को बढ़ानेवाली या उनका सत्यानास करनेवाली ? स्ट्रॉकोश फिर निरुत्तर रह गया।"

३० अक्तूबर को फिर इस सम्बन्ध में श्रीबिड़ला जी लिखते हैं:—

"कल इंडिया ऑफिस में एक्सचेंज के सम्बन्ध में फिर कान्फरेन्स बैठी। ब्लैकेट और स्ट्रॉकोश दोनों ही मौजूद थे। अपनी ओर से सर पुरुषोत्तमदास, गांधीजी, अध्यापक शाह, जोशी और मैं था। छोटी सभा होने के कारण इसे विशेष सफलता प्राप्त हुई। लोगों ने दिल खोलकर बातें कीं। स्ट्रॉकोश ने वही पुराना राग अलापना शुरू किया पर ब्लैकेट ने बड़ी खूबी से उसे निरुत्तर-सा कर दिया। ब्लैकेट ने कहा कि हिन्दुस्तान के लिए इस समय चीजों का दाम बढ़ना बहुत हितकर है और मैं चाहता हूं कि वहां दाम ४० फी सदी तक बढ़ चले। हां, वह यह न बता सका कि दाम कैसे बढ़ाया जाय। मैंने कहा कि रुपए को फिलहाल अपनी राह जाने दो और

रजामंदी से ऐसी कमी हो सके, यह असंभव है। नतीजा यही निकलता है कि पाश्चात्य देशों में चाहे जो हो, भारतवर्ष में तो अगर दाम न बढ़ सके तो सामाजिक और राजनैतिक विध्वंस हुए बिना न रहेगा।

"अकेले भारतवर्ष की ऐसी स्थिति नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और बाहर ऐसे कई देश होंगे जिनकी कठिनाइयां भारतवर्ष की-सी ही होंगी। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा की कीमत घटाकर कठिनाइयों का सामना करने की चेष्टा की है। जैसे इंगलैंड ने गोल्ड स्टैण्डर्ड का परित्याग कर और सोने के मुकाबिले स्टर्लिंग की कीमत गिराकर मन्दी की मार से बचने की कोशिश की, वैसे ही इन देशों ने स्टर्लिंग के मुकाबिले अपनी मुद्राओं की कीमत गिराकर आत्म-रक्षा का प्रयत्न किया है। ....अगर स्टर्लिंग में दाम न उठ सके और उन्हें स्टर्लिंग में कर्ज देनेवालों ने कर्ज की रकम को घटाना मंजूर न किया तो उनके लिए टाट उलट देने के सिवाय और कोई चारा न रहेगा।"

जब रिजर्व में काफी सोना इकट्ठा हो जाय तब एक निश्चित दर पर इसे बांध दो। वह इससे सहमत न हो सका।"

इस बीच में १६ अक्तूबर को भी एक कान्फरेन्स बैठ चुकी थी और उसमें सारे विषय की काफी आलोचना हो चुकी थी। इन अवसरों पर स्टर्लिंग से गंठबन्धन के पक्ष-विपक्ष में जो कुछ कहा गया उसका सारांश यह था:—

सर हेनरी स्ट्रॉकोश :—

"भारतवर्ष के सामने तीन मार्ग थे, और वह इनमें से किसी एक का अवलम्बन कर सकता था। वह रुपए को सोने से सम्बद्ध रख सकता था, या उसका सम्बन्ध स्टर्लिंग से जोड़ सकता था, या उसे अपनी राह जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ सकता था। इधर कुछ वर्षों से सोने से दाम बराबर गिरते आ रहे थे और कर्जदारों का बोझ बेहद भारी हो चला था। जिनका पैसा लंदन में जमा था वे उसे वहां से उठाने लगे, और लंदन ने जिनको पैसा उधार दे रखा था उन्होंने प्रायः टाट उलट दिया। इंगलैण्ड के लिए अपनी मुद्रा को सोने का प्रतीक बनाए रखना असम्भव हो गया और उसने अन्त में सुवर्णमान—गोल्ड स्टैण्डर्ड का परित्याग कर दिया। ऐसी अवस्था में भारतवर्ष क्योंकर सोने से सम्बद्ध रह सकता था? पर प्रश्न यह था कि रुपए को वह स्टर्लिंग से सम्बद्ध करे या उसे स्वतन्त्र छोड़ दे? स्वतन्त्र छोड़ देने का अर्थ है—उसका मूल्य बांधने के लिए किसी प्रकार का हस्त-क्षेप न करना। पर उस हालत में रुपए का मूल्य गिरे बिना न रह सकता था और गिरते-गिरते वह उसकी चांदी के मूल्य के बराबर हो जाता। इससे बहुत अनर्थ होने की सम्भावना थी। एक तो कोई किसीको कर्ज देना मंजूर न करता। कारण कि जब रुपए की कीमत गिर रही है तब सम्भव है कि आज कोई जितना देगा उसे ५० प्रतिशत कम कुछ दिनों बाद वापस मिलेगा। दूसरी बात यह है कि रुपए की कीमत गिरने से दामों में तेजी आ जाती और इससे बहुत-से लोगों को नुकसान उठाना पड़ता। तीसरी यह कि भारत-सरकार लन्दन भेजने के लिए जितने रुपए की बजट में व्यवस्था करती उतने से काम न चलता—हर साल उससे कहीं अधिक रुपया उसे

जुटाना पड़ता। समस्या हल करने के लिए उसे नोट छापने पड़ते। पर इसका नतीजा यह होता कि दाम और भी बढ़ते—अर्थात् रुपए की कीमत और भी गिरती, और ज्यों-ज्यों दवा की जाती त्यों-त्यों मर्ज बढ़ता ही जाता। इसलिए भारत-सरकार को यहां से यही सलाह देना मुनासिब समझा गया कि वह रुपए को स्टर्लिंग से सम्बद्ध कर दे। पूछा जा सकता है कि जब इंगलैण्ड ने स्टर्लिंग को स्वतन्त्र छोड़ दिया है तब भारतवर्ष रुपए को क्यों न स्वतन्त्र छोड़ दे? इसका उत्तर यह है कि इंगलैण्ड, भारतवर्ष की तरह, देनदार मुल्क नहीं। वह पावनेदार है—इसलिए यहां स्टर्लिंग को स्वतन्त्र छोड़ देने से वह खतरा नहीं जो भारतवर्ष में रुपए को स्वतन्त्र छोड़ देने से हो सकता है। भारतवर्ष ने इंगलैण्ड से बहुत कुछ कर्ज ले रखा है, उसे हर साल यहां करीब ३॥ करोड़ स्टर्लिंग खर्च करना पड़ता है, उसके विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा अंश ब्रिटिश साम्राज्य के साथ है—ऐसी अवस्था में, उसके हित की दृष्टि से, स्टर्लिंग से सम्बद्ध रहना ही उसके लिए वांछनीय है।"

श्रीघनश्यामदास विड़ला :—

"यह सच है कि भारतवर्ष के लिए रुपए को सोने से सम्बद्ध रखना असम्भव था। आखिर सम्बद्ध रखने का अर्थ तो यही है कि अगर कोई रुपए के बदले सोना मांगे तो सरकार उसे दे सके। पर यहां तो सरकार अपना सोना खो चुकी थी—सोने में रुपए की कीमत ऊँची रखने की नीति को सफल बनाने के लिए वह रिजर्व के सोने से ही हाथ धो चुकी थी—फिर जब सोना पास न हो तब रुपए को उससे सम्बद्ध रखने का अर्थ ही क्या? पर हम लोगों का कहना है कि जब रुपया सोने का प्रतीक न रहा तब उसे स्टर्लिंग का भी प्रतीक न रहना चाहिए था। आज रिजर्व में सरकार के पास स्टर्लिंग भी कहां है? जहां किसी समय प्रायः ६८ करोड़ रुपए का सोना (या स्टर्लिंग) था वहां इस समय सिर्फ ४ या ५ करोड़ का सोना बच गया है, और स्टर्लिंग नहीं के बराबर है। फलतः १८ पेंस स्टर्लिंग पर रुपए का विनिमय-मूल्य टिकाने के लिए सरकार को या तो रुपए गला-गला कर बाजार में चांदी बेचनी पड़ेगी—जिससे चांदी बेहद सस्ती हो

जायगी—या इंगलैण्ड में कर्ज लेना पड़ेगा, जिससे हमारी देनदारी और भी बढ़ जायगी। सर हेनरी स्ट्राकोश को भय है कि अगर रुपया स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो उसकी कीमत गिरते-गिरते उसकी चांदी की कीमत (प्रायः ६ या ७ पेंस) के आस-पास पहुँच जायगी। मैं नहीं समझता कि रुपए की कीमत यहां तक गिर सकती है, पर अगर रुपए की असली कीमत सचमुच ६ पेंस है तो कृत्रिम रीति से वह १८ पेंस पर कब तक टिकाई जा सकती है? लोग सरकार को रुपए देना शुरू कर देंगे और बदले में स्टर्लिंग मांगेंगे। सरकार कुछ हद तक यह मांग पूरी करेगी और फिर कह देगी कि "अब हम और स्टर्लिंग नहीं दे सकते।" पर तब तक हमारा बचा-खुचा स्टर्लिंग-धन स्वाहा हो जायगा और हमारे नोट बिना किसी प्रकार की पुश्ती के रह जायंगे। इंगलैण्ड के पास १६०,०००,००० पौण्ड स्टर्लिंग सोना था। ज्योंही यह घट कर १३३,०००,००० पौण्ड स्टर्लिंग हो चला, इंगलैण्ड ने सुवर्णमान—गोल्ड स्टैण्डर्ड का परित्याग कर दिया और स्टर्लिंग को बिलकुल स्वतन्त्र कर दिया। पर भारतवर्ष में सर्वस्व खोकर भी सरकार उसका अनुकरण करना अनुचित समझती है और रुपए का स्टर्लिंग में गंठबन्धन कर देती है—और कहा जाता है कि अगर रुपया इस प्रकार आबद्ध न रहा तो भारतवर्ष रसातल को पहुँच जायगा! सर हेनरी स्ट्राकोश ने भारतवर्ष की देनदारी का जिक्र करते हुए फरमाया कि इंगलैण्ड के लिए जो वस्तु अमृत है वही भारतवर्ष के लिए विष हो सकती है। हम भारत-वासी इस विषय में उनके कथन की सत्यता स्वीकार नहीं कर सकते। भारत-वर्ष देनदार है तो उसकी आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे उसकी देनदारी घटे। देनदारी तभी घट सकती है जब उसकी उत्पादन-शक्ति और उसका निर्यात-व्यापार बढ़े। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि वहां चीजों के दाम ऊँचे हों—और दाम उठाने का, मौजूदा हालत में, एकमात्र उपाय है एक्सचेंज को गिरा देना। कहा गया है कि रुपया जब गिरने लगेगा तब अपनी चांदी की कीमत के पास पहुँच कर ही रुकेगा। इस सम्बन्ध में मेरे दो निवेदन हैं। एक तो यह कि भारतवर्ष देनदार भले ही हो पर साधारणतः वह इम्पोर्ट (आयात) से एक्सपोर्ट (निर्यात)

ज्यादा करता है। दूसरा यह कि चलन में जितने सिक्के या नोट हैं सब-के-सब, विनिमय के लिए, कभी उपस्थित नहीं किए जा सकते। अगर रुपए के सिक्कों की तादाद दो अरब मान ली जाय और नोटों की डेढ़ अरब, तो सब मिला कर साढ़े तीन अरब हुए। इनमें से अगर डेढ़ अरब भी स्टर्लिंग से विनिमय के लिए उपस्थित किए जायं तो देश में रुपए की बेहद तंगी हो जायगी—जिसका अर्थ यह हुआ कि रुपए की कीमत बढ़ जायगी। इन दो कारणों से, मैं नहीं समझता कि किसी भी हालत में रुपया ११ पेंस या १२ पेंस (सोना) से नीचे गिर सकता है। पर दाम बढ़ाने के लिए—जिससे किसानों और दूसरे उत्पादकों का भला हो और जो मन्दी चली आ रही है उससे उनका दम घुटने न पाए—रुपए की कीमत का गिरना जरूरी है। कहा गया है कि दामों की स्थिरता वांछनीय है। पर कौन-से दामों की ? इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि आज के दाम बहुत नीचे हैं और अगर हम इन्हें ज्यों-के-त्यों रहने देते हैं तो हम करोड़ों किसानों के हित की हत्या करते हैं। भारतवर्ष में न्याय का तकाजा यह है कि दाम १०० से उठा कर १५० कर दिए जायं—और उस हद तक एक्सचेंज को गिरने दिया जाय। इसीलिए हम लोगों का कहना है कि रुपए को स्टर्लिंग से बांध कर, और दामों का उस हद तक उठना असम्भव कर, सरकार ने हमारे देश के साथ घोर अन्याय किया है।"

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास :—

"रुपए को स्टर्लिंग का प्रतीक कर दिया गया, पर केवल इसी अर्थ में कि उसकी कीमत १८ पेंस से नीचे नहीं जा सकती। ऊपर के लिए कोई रुकावट नहीं है, क्योंकि सरकार ने यह जिम्मेवारी नहीं ली है कि १८ पेंस स्टर्लिंग बेचनेवाले को वह एक रुपया दे दे। १९२७ वाले विधान में सरकार पर यह जिम्मेवारी रखी गई थी कि अगर कोई सोना बेचना चाहे तो सरकार उसे १८ पेंस = १ रुपए की दर से खरीदने को बाध्य होगी। उस परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, जिसका अर्थ यह होता है कि अगर कोई सरकार के हाथ अपना सोना बेचना चाहता है तो उसे उसी पुराने भाव से बेचना पड़ेगा। पुराना भाव था प्रायः २१॥।~) तोला। आज का बाजार-

भाव २५) से भी अधिक है। इस समय बम्बई के गांवों से काफी सोना आ रहा है। लोग इतने विवश हैं कि उनके पास जो कुछ सोना है उसे बेचकर अपना काम चला रहे हैं। पर सरकार इस सोने का दाम इतना कम देने को तैयार है कि व्यापारी इसे उसके पास नहीं ले जा सकते। लेहाजा सारा सोना भारतवर्ष से बाहर जा रहा है। सरकार की इस नीति से जनता का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक है। कहा जाता है कि भारतवर्ष ऋणी देश है, उसने इंगलैण्ड से बहुत कुछ कर्ज ले रखा है, इसलिए एक्सचेंज गिरना उसके लिए हितकर नहीं हो सकता। पर आस्ट्रेलिया का उदाहरण हम लोगों के सामने है। भारतवर्ष की अपेक्षा बड़ा ऋणी होते हुए भी उसने अपना एक्सचेंज गिरा दिया। किसानों की दृष्टि से भारतवर्ष की दशा आस्ट्रेलिया से कहीं खराब है। गेहूं का १।‌=) मन बिकना एक ऐसी बात है जिसे पिछले ८० साल के इतिहास में हम अभूतपूर्व कह सकते हैं। सरकार को इसमें क्या आपत्ति हो सकती है कि बतौर एक प्रयोग के, कुछ महीनों के लिए ही सही, रुपए को इस बन्धन से मुक्त कर दे और देखे कि इससे दाम चढ़ते हैं या नहीं और किसानों का कुछ भला होता है या नहीं? इस समय तो उन्हें बाजार या मंडी में जो दाम मिलता है वह बैलगाड़ी का भाड़ा चुकाने के लिए भी काफी नहीं होता। एक घटना की खुद मुझे जानकारी है, जहां किसान बाजार में गन्ना बेचने लाए और दाम सुनकर इतने निराश हुए कि गन्ने को बेचने के बजाय गायों और भैंसों को समर्पित कर अपने घर लौट गए!"

पर इस शास्त्रार्थ से परिस्थिति में तनिक भी अन्तर न पड़ा और रुपए-स्टर्लिंग का गंठबन्धन ज्यों-का-त्यों बना रहा।

यह तो हुई लन्दन की बात। यहां भारतवर्ष में उस समय व्यवस्थापिका परिषद् का अधिवेशन हो रहा था। वहां सदस्यों ने २१ सितम्बर को एक बात सुनी, २२ को दूसरी। भारत-सचिव द्वारा किए जानेवाले हस्तक्षेप और स्टर्लिंग-गंठबन्धन का प्रतिवाद करने के लिए सर कावसजी जहांगीर ने परिषद् में "काम स्थगित करानेवाला" प्रस्ताव लाना चाहा, पर बड़े लाट ने एक खास आदेश से इसे रोक दिया। २३ सितम्बर

को मि० (अव सर) षण्मुखम् चेट्टी ने निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया:—

"चूंकि इस बात का डर है कि मौजूदा हालत में रुपए का स्टर्लिंग से गंठबन्धन कर देना भारत के लिए अत्यन्त अहितकर होगा;

"और चूंकि भारत-सरकार के रुपए का विनिमय-मूल्य १८ पेंस रखने के कारण इस देश की कृषि और उद्योग-धन्धों की गहरी हानि हुई है और करेन्सी-कोष में जो सोना या सोने के तुल्य समझे जाने लायक धन था वह प्रायः साफ हो चुका है;

"और चूंकि इस बात का भी डर है कि भारत-सरकार के रुपए का स्टर्लिंग से गंठजोड़ा कर देने और इस सम्बन्ध में कुछ खास जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेने के कारण, उस सोने या धन की और भी बरबादी होगी, और इससे इस देश की विशेष आर्थिक क्षति होगी;

"इस परिषद् की राय है कि भारत-सरकार को फौरन इस उद्देश से कुछ खास कार्रवाई करनी चाहिए कि हमारे करेन्सी तथा गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्वों या कोषों में जो सोना या स्टर्लिंग जमा है वह किसी भी हालत में आज की अपेक्षा कम न होने पावे;

"और इस परिषद् की यह भी राय है कि इस देश की भलाई के लिए भारत-सरकार को चाहिए कि वह रुपए के बदले सोना या स्टर्लिंग देने की कोई जिम्मेवारी अपने ऊपर न रहने दे और एतद्विषयक विधान में जो संशोधन आवश्यक हो, कर दे। अगर सरकार को यह मंजूर न हो तो वह तब तक कोई जिम्मेवारी अपने ऊपर न ले जब तक ब्रिटिश सरकार से उसे लम्बी मुद्दत के लिए, मुनासिब शर्तों पर, काफी बड़ी रकम लन्दन में तत्काल कर्ज नहीं मिल जाती।

"अर्थ-सदस्य ने उस दिन यह सूचित किया कि वह अतिरिक्त कर लगाने के लिए परिषद् में दूसरा राजस्व बिल पेश करनेवाले हैं। इस सम्बन्ध में परिषद् का कहना है कि इसके सदस्यों को काफी नोटिस दिए बिना कर-सम्बन्धी कोई नया प्रस्ताव यहां पेश नहीं होना चाहिए और इस अधिवेशन में तो ऐसा प्रस्ताव हर्गिज नहीं होना चाहिए।"

प्रस्ताव के पक्ष में आए ६८ वोट, और विपक्ष में ४०। पर बहुमत से पास होने पर भी प्रस्ताव स्थिति में कोई अन्तर डालनेवाला न था। उस समय के भारत-सचिव ने ही एक अवसर पर कहा था कि कुत्ते भूकते रहते हैं, कारवां आगे बढ़ता जाता है! प्रजा पर इधर करों का बोझ काफी भारी हो चला था। वह और भी भारी कर दिया गया। इसी अधिवेशन में नए प्रस्ताव-द्वारा प्रायः २५ करोड़ रुपए की कर-वृद्धि कर, हमारे शासकों का कारवां अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ!

१०

गंठबन्धन के बाद

इंगलैंड के बाद और कई देशों ने भी गोल्ड स्टैण्डर्ड का परित्याग कर दिया। वास्तव में यह कोई अन्ध अनुकरण नहीं था—सब मजबूर होकर सोने को तलाक देने लगे थे। सोने से बंधे रहते हैं तो दाम ऊंचे हो नहीं सकते, और जो देश अपनी मुद्रा की कीमत सोने के मुकाबिले गिरा देता है वह प्रतियोगिता में अपना माल सस्ता बेचने की क्षमता पा जाता है—यह विचार कर कई देशों ने अपने-अपने प्रतीक को सोने के वन्धन से मुक्त कर दिया। अमेरिका भी १९३३ में सोने से हट गया, यद्यपि कुछ समय बाद वह अपने डॉलर की कीमत घटाकर गोल्ड स्टैण्डर्ड पर वापस आ गया। सोने में डॉलर की कीमत जहां १०० थी वहां अब घटाकर ६० कर दी गई।

सोने के बन्धन से प्रतीक-मुद्राओं को मुक्त करने और इनका मूल्य गिराने का रहस्य क्या था, यह इस प्रकार समझाया जा सकता है:—

मान लीजिए, इंगलैण्ड और अमेरिका दोनों गोल्ड स्टैण्डर्ड पर हैं और १ पौंड=४.८६ डॉलर—यह एक्सचेंज-रेट है। यह भी मान लीजिए कि किसी चीज का पड़ता इंगलैण्ड में १ पौंड है और अमेरिका में ४.८६ डॉलर।

इंगलैण्ड ने गोल्ड स्टैण्डर्ड को छोड़ दिया और सोने के मुकाबिले पौंड की कीमत घट गई। अमेरिका गोल्ड स्टैण्डर्ड पर कायम है, इसलिए एक्सचेंज-रेट में फर्क पड़ गया और जहां पहले १ पौंड के ४.८६ डॉलर होते थे वहां अब (उदाहरणार्थ) ३.७४ ही होने लगे।

अमेरिका में उस वस्तु का दाम वही ४.८६ डॉलर है जो पहले था। इसलिए इंगलैण्ड का व्यवसायी अगर अपना माल अमेरिका भेजता है

तो वहां उसका दाम ४.८६ डॉलर उठता है। नई एक्सचेंज-रेट (३.७४ डॉलर = १ पौंड) से यह रकम इंगलैण्ड में २६ शिलिंग होती है।

वहां पहले पड़ता था २० शिलिंग का। अब यह कुछ ऊंचा हो चला होगा। पर स्पष्ट है कि जब तक पड़ता २६ शिलिंग नहीं हो जाता तब तक इंगलैण्ड के व्यवसायी को नई एक्सचेंज-रेट के कारण विशेष लाभ रहेगा और वह प्रतियोगिता में अमेरिका के व्यवसायी को पछाड़ता जायगा।

मान लीजिए इंगलैण्ड में अब पड़ता २३ शिलिंग हो चला है। अगर अमेरिका का माल वहां जाकर बिकता है तो उसका दाम २३ शिलिंग उठता है और नई एक्सचेंज-रेट से २३ शिलिंग के प्रायः ४.३० डॉलर होते हैं। चूंकि अमेरिका का पड़ता ४.८६ डॉलर का है, वहां का माल इंगलैंड जाकर न बिक सकेगा। प्रत्युत इंगलैण्ड का माल अब विशेष रूप से अमेरिका जाने लगेगा। वहां का पड़ता २३ शिलिंग है। अमेरिका में दाम ४.८६ डॉलर है, जिसके २६ शिलिंग होते हैं। ऐसी अवस्था में इंगलैण्डवाले वहां अपना माल ४.८६ डॉलर से कम में बेच कर भी नफे में ही रहेंगे। अगर उन्होंने ४.६८ डॉलर में ही बेचा तो भी उन्हें तो प्रायः २५ शिलिंग मिल गए और अमेरिका के कल-कारखानेवालों का व्यवसाय चौपट हो गया।

पर ऐसी स्थिति में अगर अमेरिका भी गोल्ड स्टैण्डर्ड का परित्याग कर दे और सोने के मुकाबिले अपनी मुद्रा की कीमत उसी हद तक गिरा दे (जिस हद तक इंगलैण्ड गिरा चुका है) तो (और सब बातें समान होते हुए) एक्सचेंज-रेट फिर वही १ पौंड = ४.८६ डॉलर हो चलेगी और ऐसी साम्यावस्था होने पर विशेष लाभ या हानि का प्रश्न ही न रहेगा। हां, अगर अमेरिका सोने के मुकाबिले अपने प्रतीक की कीमत, इंगलैण्ड से भी अधिक गिरा दे, तो साम्य की जगह फिर वैषम्य उपस्थित हो जायगा और गंगा उलटी दिशा में बहने लगेगी—अर्थात् प्रतियोगिता में अब अमेरिका इंगलैण्ड को दबाने लगेगा।

इने-गिने देशों को छोड़ प्रायः सभी गोल्ड स्टैण्डर्ड से अलग हो गए। १९३४ में केवल आधे दर्जन देश गोल्ड स्टैण्डर्ड पर रह गए थे। इन्हें विदेशी

प्रतियोगिता-रूपी आक्रमण से अपने-आपको बचाने के लिए तरह-तरह के उपायों का अवलम्बन करना पड़ा। जकात या टैरिफ की दीवारें और भी ऊंची कर दी गईं—विनिमय के व्यवसाय को इस प्रकार से नियंत्रित कर दिया गया कि बाहर से कम-से-कम माल आ सके। जो देश गोल्ड स्टैण्डर्ड छोड़ चुके थे वे इसका जवाब दिए बिना कब रह सकते थे ? नतीजा यह हुआ कि व्यापार के क्षेत्र में प्रायः सभी देश ऐसी लड़ाई लड़ने लग गए जैसी इससे पहले कभी देखी या सुनी नहीं गई थी। प्रत्येक देश अपनी रण-नीति को सफल बनाने के लिए विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने लगा। इंगलैंड बहुत बड़े अरसे से इस सिद्धांत का प्रतिपादक चला आ रहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में किसी भी देश को किसी भी हालत में जकात या शुल्क-रूपी अवरोध खड़ा करना नहीं चाहिए। पर अब काबे में ही कुफ्र सुनाई देने लगा ! अपने उद्योग-धन्धों की जान खतरे में देख इंगलैण्ड ने उस पुराने सिद्धान्त को ताक पर रख दिया और अब "स्वतन्त्र व्यापार" (Free Trade) से "संरक्षण" (Protection) का हिमायती बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता नाम की अब कोई चीज ही नहीं रह गई—कदम-कदम पर प्रतिबन्ध, नियन्त्रण, अटकाव नजर आने लगे। वार-प्रहार, घात-प्रतिघात करते-करते जब दो देश थक जाते तब आपस में समझौता या इकरार-नामा करके यह तय कर लेते कि कौन किससे कितना माल लिया करेगा। पर इस प्रकार का समझौता भी व्यापार के क्षेत्र को संकुचित ही करने-वाला होता। आश्चर्य नहीं कि सारे संसार के व्यापार की मालियत जहां १९२९ में १०० थी वहां १९३३ में प्रायः ३३ ही रह गई थी।

तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि गोल्ड स्टैण्डर्ड पर रह जाने-वाले देशों की अपेक्षा उससे अलग हो जानेवाले देश अच्छे रहे। इन देशों में दामों की अधोमुख गति कुछ समय के बाद रुक गई और वे ऊपर चढ़ने लगे। १९२९ से १९३२ तक के अध्याय का नाम अगर 'अन्धकार' रखा जाय तो १९३३ से १९३७ तक के अध्याय को 'अरुणोदय' कहा जा सकता है। पर यह इंगलैण्ड और अमेरिका-जैसे देशों के ही सम्बन्ध

में। यहां भारतवर्ष में तो अन्धकार बना ही रहा— कहना चाहिए कि १९३२ के बाद वह और भी घनघोर हो चला। नीचे के 'सूचक अंक' यही जाहिर करते हैं।

जिन्सों के थोक दाम

	भारतवर्ष (कलकत्ता)	इंगलैण्ड	अमेरिका
१९२९	१००	१००	१००
१९३०	८२	८८	९१
१९३१	६८	७७	७७
१९३२	६५	७५	६८
१९३३	६२	७५	६९
१९३४	६३	७७	७९
१९३५	६५	७८	८४
१९३६	६५	८३	८५
१९३७	७२	९५	९१
१९३८	६८	८९	८२

१९३७ में जो सुधार दिखाई देता है वह अमेरिका में तेजी की एक लहर के आने का नतीजा था। पर वह स्थायी न हो सका और दाम फिर गिर पड़े। खासकर भारतवर्ष का यह हाल हुआ कि 'चार दिना की चांदनी, फिर अन्धियारी रात!' १९३८ में हम फिर वहीं जा पहुंचे जहां १९३१ में थे।

जब इंगलैण्ड गोल्ड स्टैण्डर्ड पर था तब वहां एक औंस खालिस सोने का दाम प्रायः ८५ शिलिंग होता था। पर स्टर्लिंग और सोने का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वह दाम ऊंचा हो चला, अर्थात् सोना स्टर्लिंग में पहले की अपेक्षा महंगा बिकने लगा। कई साल तक यह दाम १४० शिलिंग के आस-पास या उससे भी ऊपर रहा। इसके दो खास नतीजे हुए। नोट-प्रसारक बैंकों के पास जो सोना था उसकी कीमत बढ़ जाने से, उनके लिए उसके आधार पर और भी नोट जारी कर देना सम्भव हो गया। इससे चीजों के दाम ऊपर उठाने में सहायता मिली। उधर सोने की खानों के

मालिकों का मुनाफा बढ़ गया और इसके फलस्वरूप सोने का उत्पादन अधिकाधिक होने लगा। १९२९ से १९३७ तक संसार में सोने का उत्पादन इस प्रकार हुआ:—

	टन
१९२९	६००
१९३०	६३९
१९३१	६२५
१९३२	६७८
१९३३	७०७
१९३४	७५६
१९३५	८२४
१९३६	९२१
१९३७	९९०

चूंकि रुपया स्टर्लिंग से सम्बद्ध था, यहां भी सोना पहले से महंगा रहने लगा। अगस्त १९३१ के अन्त में—जब भारतवर्ष गोल्ड स्टैण्डर्ड पर था—यहां सोने का दाम २१।।।-)। था। उसके बाद इस दाम में जो वृद्धि हुई वह नीचे की तालिका में दिखाई गई है। साथ ही स्टर्लिंग में भी सोने की कीमत दे दी गई है:—

सोने का ऊंचे से ऊंचा दाम

		लन्दन में (प्रति औंस)*			बम्बई में (प्रति तोला)
		पौं०	शि०	पें०	रु० आ० पा०
अप्रेल	१९३३	६	२	६	३०—०—०
,,	१९३४	७	५	८।।	३६–१२—०
,,	१९३८	७	०	१।।	३५—०—०
,,	१९३९	७	८	६।।	३७—१—३

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि १९३१ में एक असाधारण बात यह हुई कि यहां से सोने की रपतनी होने लगी। आत्मरक्षा का

*१ औंस = ४८० ग्रेन, १ तोला = १८० ग्रेन, अर्थात् ३ औंस = ८ तोला

और कोई उपाय न देख कर विपन्न भारतवर्ष ने अपना सोना बेचना आरम्भ कर दिया और चूंकि भारत-सरकार इस सोने की खरीदार नहीं थी, यह सोना विदेश जाने लगा। भारतवर्ष से इधर कब कितना सोना बाहर गया है यह नीचे के अंकों से स्पष्ट होगा :—

साल	रुपए (लाख)
१९३१–३२	५७,९७
१९३२–३३	६५,५२
१९३३–३४	५७,०५
१९३४–३५	५२,५४
१९३५–३६	३७.३५
१९३६–३७	२७,८४
१९३७–३८	१६.३३
१९३८–३९	२३.२६
१९३९–४०	४४,६४
	३,८२,५० लाख रुपए

आम तौर से यह देश बराबर सोने का खरीदार रहा है। इस बीसवीं सदी के आरम्भ के ३० वर्षों में यहां प्रायः ७ अरब रुपए का सोना बाहर से आया था। इन ९ वर्षों में उसमें से प्रायः ४ अरब का सोना बाहर चला गया। किसीने ठीक ही कहा था कि जितना सोना हमने इन वर्षों में खो दिया उतना तैमूरलंग और नादिरशाह भी यहां से लूट कर न ले गए होंगे।

इस बात के लिए हमारे नेताओं और प्रजा-प्रतिनिधियों की ओर से काफी कोशिश की गई कि सोने की इतने बड़े पैमाने पर रफ्तनी न हो और सरकार या रिजर्व बैंक इस सोने को खरीदकर नोटों की पुश्ती के लिए यहीं रखती जाय; पर कुछ भी नतीजा न निकला। सरकार की ओर से बराबर यही जवाब दिया गया कि खरीद-बिक्री या व्यापार की दृष्टि से जैसी और चीजें हैं, वैसा सोना है; फिर जब दूसरी चीजों के लिए कोई रुकावट नहीं है तब सोने के लिए ही क्यों हो? हमारे देश में अगर राष्ट्रीय

सरकार होती तो ऐसी बात मुंह से न निकालती और सोना संचित करने का जो यह सुअवसर उपस्थित हुआ था उसे हाथ से न जाने देती।

सोने के सम्बन्ध में हमारे शासक हमको तो अनासक्ति और त्याग का उपदेश देते जाते थे और स्वयं अपने देश में सोने से चिपटे जाते थे—बल्कि यथासंभव उसका परिमाण बढ़ाते जाते थे। बैंक आव् इंगलैंड के पास जहां १९३१ में सब मिलाकर १२५,४०१,६२८ पौंड का सोना था वहां १९३७ में वह रकम ३२६,४०६,६२५ पौंड हो चली थी। 'हमको लिखि-लिखि योग पठावत आपु करत रजधानी' !

सोने की इस रफ्तनी की असलियत क्या थी, यह दिखाने के लिए हम परिषद् में किए हुए एक अंगरेज सदस्य के भाषण से कुछ अंश उद्धृत करते हैं।

मार्च १९३३ को व्यवस्थापिका परिषद् में बजट की आलोचना करते हुए सर लेस्ली हडसन ने कहा था :—

"पूरब बंगाल के किसानों की अवस्था अत्यन्त दयनीय है। १९३१ में नदियों की बाढ़ के कारण उनकी कर्जदारी बेहद बढ़ गई। १९३२ में फसल अच्छी जरूर हुई, पर दाम इतने नीचे थे कि किसान अपने कर्ज न चुका सके। जीवन-निर्वाह के लिए उन्हें अपने पीतल के बर्तन और मकानों में लगी हुई लोहे की चादरें-जैसी चीजें भी बेच देनी पड़ीं। पहले तो उन्होंने अपने सोने-चांदी के जेवर बेच डाले, फिर जब इससे भी पूरा न पड़ा तब उन्होंने और मालमता बेचना शुरु कर दिया। पीतल और अल्मूमीनियम के बर्तन बिक गए; उनकी जगह मिट्टी के बर्तनों ने ले ली। पर किसानों की मुसीबत की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। अब वे अपनी झोपड़ियों की भी आहुति देने लग गए हैं। और तो उनके पास कुछ है नहीं—उन झोपड़ियों में लगी हुई लकड़ी या लोहे की जो कीमत उन्हें मिल सकती है वही अब उनका एकमात्र अवलम्ब रह गई है।

"हमारे अर्थ-सदस्य ने सोने के निर्यात के सम्बन्ध में जो यह कहा है कि उसीकी बदौलत हमारी रक्षा हो सकी है—हम इस बवंडर में उड़ जाने से बच गए हैं, यह सच है; पर सोना क्यों बिका या बिकता जा रहा है, इसका जो उत्तर हमारे अर्थ-सदस्य ने दिया है मैं उसे ठीक नहीं मानता।

उनका कहना है कि लोगों का जो पूंजी-गल्ला सोने के रूप में था अब वे उसे दूसरा रूप देने लगे हैं। असलियत कुछ और ही है। कम-से-कम इस बात में उतनी सचाई नहीं जितनी हमारे अर्थ-सदस्य समझते हैं। बाहर जाने वाले सोने का बहुत बड़ा हिस्सा सुख या समृद्धि नहीं बल्कि दुःख या दारिद्र्य का सूचक है—अर्थात् उसे बेचनेवाले ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने धन या पूंजी को दूसरा रूप देने के लिए ऐसा नहीं किया है, बल्कि जिन्हें अपनी रोजमर्रा की जरूरतें पूरी करने के लिए—चावल, आटा, दाल, नमक खरीदने के लिए—अपना संचित सुवर्ण बेच देना पड़ा है।"

यहां कुछ चांदी के भी सम्बन्ध में कहने की जरूरत है।

अगस्त १९३१ में—जब इंगलैण्ड गोल्ड स्टैण्डर्ड पर था—लन्दन में चांदी का दाम (फी स्टैण्डर्ड औंस) १३ पेंस के आसपास था। सितम्बर में, इंगलैण्ड के गोल्ड स्टैण्डर्ड से हट जाने पर, यह दाम प्रायः १९ पेंस हो चला। भारतवर्ष में इधर दाम इस प्रकार रहा—

			१०० तोले का
			रु० आ०
मार्च	१९३१-३२	(औसत)	५६—२$\frac{६}{१६}$
"	१९३२-३३	"	५६—२$\frac{१७}{३२}$
"	१९३३-३४	"	५६—३$\frac{३}{३८}$
"	१९३४-३५	"	६५—२
"	१९३५-३६	"	४९—३$\frac{५१}{३२}$
"	१९३६-३७	"	५३—०$\frac{३०}{३१}$
"	१९३७-३८	"	५०—१५$\frac{२३}{३४}$
"	१९३८-३९	"	५२—१५$\frac{६}{३८}$

लन्दन में १२ जून १९३३ को आर्थिक विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के लिए एक कांफ्रेंस बैठी। इसमें ६४ राष्ट्र सम्मिलित हुए। पर कोई समझौता न हो सका। सबसे गहरा मतभेद मुद्रा-सम्बन्धी प्रश्न पर हुआ और कांफ्रेंस निष्फल साबित हुई। हां, उसमें चांदी के सम्बन्ध में एक समझौता ऐसे

देशों के बीच जरूर हुआ जो या तो चांदी के उत्पादक थे या जिनके पास काफी परिमाण में चांदी इकट्ठी थी।

पर चांदी के बाजार पर इस समझौते का कोई खास असर न पड़ा। लोग पहले से ही यह धारणा किए बैठे थे कि इस प्रकार का कोई समझौता होकर ही रहेगा। इसलिए दाम जहां तक उठ सकते थे पहले ही उठ चुके थे।

इस समझौते या इकरारनामे की मीयाद १९३७ के अन्त में पूरी हो गई।

भारत-सरकार ने इधर भी बराबर चांदी बेचना जारी रखा। चलन से रुपए खींच कर गला दिए जाते और उनकी चांदी बेच दी जाती। १९३१–३२ और १९३९–४० के बीच सरकार-द्वारा बाहर भेजी जानेवाली चांदी २० करोड़ औंस से ऊपर थी। चलन में चांदी के रुपयों का स्थान या तो नोटों ने ले लिया या वह खाली रहा।

१९३१–३२ और १९३८–३९ के बीच, चलन में जानेवाले रुपयों का जोड़ ५७,४५ लाख बैठता है, और चलन से निकल आनेवाले रुपयों का जोड़ ५४,४४ लाख। प्यासे को किस हद तक पानी मिल सका, इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

इस देश में जिन्सों के आयात से निर्यात अधिक होता रहा है। वास्तव में हम उसी आधिक्य के रूप में अपनी देनदारी* चुकाते आए हैं। १९२४–२५ से १९२८–२९ तक उस आधिक्य का औसत ११० करोड़

---

* "भारतवर्ष अपनी जिन्सों के निर्यात से जिन्सों के आयात का ही दाम नहीं चुकाता, कुछ ऐसे आयात का भी दाम चुकाता है जो अदृश्य रूप से हुआ करता है। इस अदृश्य आयात में इंगलैण्ड को Home Charges तथा अन्य रूप में जानेवाली रकमें शामिल हैं। इनका जोड़ हर साल प्रायः ८० करोड़ रुपए बैठता है।"—

भारतीय व्यापारी महासभा (फेडरेशन) के दशम अधिवेशन के अध्यक्ष श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान का भाषण (अप्रेल, १९३७)।

रुपए से अधिक पड़ा था। पर १९३२–३३ में वह घटकर केवल ३ करोड़ रुपए के लगभग रह गया था। उसके बाद स्थिति कुछ सुधरी, पर यथेष्ट रूप से नहीं। अगर इन वर्षों में सोने का निर्यात सहायक न होता तो अदृश्य रूप से होनेवाले आयात का दाम हमसे न चुकता और हमारी देनदारी और भी बढ़ जाती।

अपने देश के किसानों की दीनता-हीनता का कर्जदारी से खास सम्बन्ध है। १९२८-२९ में कुछ विशेषज्ञ जांच-पड़ताल के बाद इस नतीजे पर पहुंचे थे कि सारे भारतवर्ष के किसानों का कुल कर्ज ९ अरब रुपए के करीब था। भिन्न-भिन्न प्रांतों में यह इस प्रकार विभक्त था:—

	सारा कर्ज (करोड़ रुपए)
मद्रास	१५०
बम्बई	८१
बंगाल	१००
संयुक्त प्रांत	१२४
मध्य प्रांत	३६
पंजाब	१३५
बिहार-उड़ीसा	१५५
आसाम	२२
केन्द्रीय इलाका	१८
बर्मा	६०
ब्रिटिश भारत	८८१ करोड़

देशी रियासतों के किसानों का कर्ज इसके अलावा था।

अब देखिए मन्दी का इस कर्जदारी पर क्या असर पड़ा। गल्ले के दामों में प्रायः ५० प्रतिशत कमी हो जाने से कर्जदारों का बोझ यों ही दूना हो गया। कारण यह कि जो १० मन अनाज बेचकर कर्जदारी से छुटकारा पा सकता था उसे अब २० मन जुटाना पड़ता था। अगर यह मान लिया जाय कि ऐसी

मन्दी के समय में किसान न तो असल अदा कर सकते थे, न सूद, तो हमारे अर्थशास्त्रियों का यह तखमीना सही समझा जा सकता है कि जो बोझ १९२९ में ९ अरब रुपए था वह १९३३ में २२ अरब रुपए के बराबर हो चला था।

दामों को बढ़ाना और उसके द्वारा किसानों या कर्जदारों की रक्षा करना भारत-सरकार की नीति के प्रतिकूल था। उधर असन्तोष और अशांति की वृद्धि के कारण परिस्थिति भयंकर होती जा रही थी। इस कारण प्रांतीय सरकारों के लिए चुपचाप बैठे रहना भी असंभव था। उन्होंने इधर कुछ ऐसे कानून बनाए जिनका उद्देश था साहूकार के पावने की रकम को कम कराके कर्जदार को इमदाद पहुंचाना। कुछ हद तक सरकारी लगान में भी छूट दी गई। पर इन उपायों से किसानों का कष्ट कहां तक दूर हो सकता था? उनकी वास्तविक सहायता या रक्षा का उपाय था ऐसी नीति का अवलम्बन जो दामों को ऊपर चढ़ा सके या कम-से-कम उन्हें नीचे गिरने से रोक सके। पर हमारी सरकार की नीति तो उन्हें नीचे की ही दिशा में ढकेलनेवाली थी—उससे यहां के किसानों की भलाई की आशा कैसे की जा सकती थी? दामों की मन्दी और हमारी सरकार की एक्सचेंज-नीति, चक्की के इन दोनों पाटों के बीच पड़कर हमारे किसान तंग-तबाह हो गए।

दिसम्बर १९३३ में जब रिजर्व बैंक से सम्बन्ध रखनेवाला बिल परिषद् में विचाराधीन था, वहां इस बात की चेष्टा की गई कि एक्सचेंज-रेट को स्थायी रूप से १८ पेंस न करके इस प्रश्न पर पुर्नविचार की गुंजाइश रहने दी जाय। बिल में यह व्यवस्था थी कि जब रिजर्व बैंक स्थापित हो जाय—और इसमें अभी कुछ देर थी—वह प्रायः १८ पेंस की रेट से स्टर्लिंग खरीदने और बेचने को बाध्य हो।

१९२७ के विधान में स्टर्लिंग खरीदने की सरकार पर कोई जिम्मेवारी नहीं थी—जिम्मेवारी २१≡) १० तोला के भाव से (खालिस) सोना खरीदने की थी। बाजार में १९३१ के बाद सोने का भाव इससे कहीं ऊँचा हो रहा था, इसलिए सरकार की वह जिम्मेवारी अब कोई अर्थ नहीं रखती थी। अब सरकार अपने ऊपर स्थायी रूप से सोने की

जगह स्टर्लिंग खरीदने की जिम्मेवारी लेने जा रही थी। उसकी ओर से यह कहा जा चुका था कि कानूनन जो स्थिति इस समय है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना हमें अभीष्ट नहीं। परिषद् में पूछा गया कि अगर बात ऐसी ही है तो स्टर्लिंग खरीदने की जिम्मेवारी आप अपने ऊपर क्यों लेने जा रहे हैं? खैर, यह तो एक विधि-विषयक छोटी-सी बात हुई। विशेष आपत्तिजनक बात तो यह थी कि सरकार भविष्य के लिए स्टर्लिंग खरीदने या बेचने की दर अभी मुकर्रर करने जा रही थी। गैर-सरकारी मेम्बरों ने सरकार की इस कार्रवाई का घोर विरोध किया और उनकी ओर से इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कई संशोधन पेश किए गए। उनमें एक संशोधन इस आशय का था कि एक्सचेंज-रेट अभी निश्चित न की जाय—सारे प्रश्न का निर्णय भविष्य के लिए छोड़ दिया जाय। रिजर्व बैंक की स्थापना में अभी देर थी, इसलिए उसके द्वारा सोने या स्टर्लिंग की खरीद-बिक्री का प्रश्न अभी कुछ काल तक उठनेवाला नहीं था। फिर भी सरकार इसी समय दर को निश्चित कर देने पर तुली हुई थी और उसने जो चाहा, कर दिया। इस प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाला एक भी संशोधन परिषद्-द्वारा स्वीकृत न हो सका, और रिजर्व बैंक-द्वारा स्टर्लिंग की खरीद-बिक्री के लिए १८ पेंस की रेट निर्धारित हो गई।

दिसम्बर १९३८ में श्रीसुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया:—

"जब से रुपए की दर १८ पेंस मुकर्रर कर दी गई तब से यहां का व्यवसायी-वर्ग और यहां की सार्वजनिक संस्थाएं इसका विरोध करती आ रही हैं। उनकी मांग यह रही है कि चूंकि हुण्डी की यह दर, आर्थिक दृष्टि से, भारतवर्ष के लिए अहितकर है, इसमें रद्दोबदल होना जरूरी है। भारत-सरकार इस लोकमत की उपेक्षा करती आई है। ६ जून (१९३८) को उसने इस विषय पर एक वक्तव्य निकाल कर कहा कि वह हुण्डी की दर में कोई भी हेर-फेर करना नहीं चाहती और दलील यह पेश की कि हेर-फेर करने से परिस्थिति इतनी डावांडोल और अनिश्चित हो जायगी कि लोगों को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ेगी।

"समिति की राय में १८ पेंस की दर से यहां के किसानों की गहरी हानि हुई है। इसने उनकी पैदावार की कीमत गिरा दी है और बाहर से आनेवाले माल को नाजायज फायदा पहुंचाया है।

"कार्यकारिणी समिति का विश्वास है कि अगर व्यापार की यही हालत बनी रही तो यह दर आगे टिकनेवाली नहीं है। पिछले ७ वर्षों में यह सिर्फ सोने के बड़े पैमाने पर निर्यात के कारण ही टिक सकी है। उस निर्यात से देश की बड़ी क्षति हुई है। अब इसको आगे टिकाने के लिए गिरावट के सिवा और कोई रास्ता नजर नहीं आता। भारतवर्ष के पास सोने और स्टर्लिंग के रूप में जो सम्पत्ति बच गई है उसको बरबाद करके ही हुण्डी की यह दर कायम रखी जा सकती है। जो स्टर्लिंग था वह पहले भी बहुत कुछ स्वाहा हो चुका है, अगर भारत-सरकार ने इस दर को टिकाने के प्रयत्न से मुंह न मोड़ा तो बचा-खुचा स्टर्लिंग भी जाता रहेगा। कार्यकारिणी की दृष्टि में ऐसी सम्भावना अत्यन्त चिन्ताजनक है।

"परिस्थिति को देखते हुए कार्यकारिणी इस नतीजे पर पहुंची है कि देश की भलाई इसी में है कि हुण्डी की दर को टिकाने का प्रयत्न छोड़ दिया जाय और सरकार इसे शीघ्रातिशीघ्र १६ पेंस कर देने की दिशा में अग्रसर हो।"

पर सरकार का उस दिशा में अग्रसर होना एक असंभव-सी बात थी। ऊंची दर कायम की गई थी इंगलैण्डके हित की दृष्टिसे, और जब तक इंगलैण्ड का यहां आधिपत्य था तब तक यहां की सरकार की नीति में वैसे परिवर्तन की आशा दुराशा-मात्र थी। कार्यकारिणी के प्रस्ताव का उसकी ओर से जो उत्तर दिया गया उसमें एक बार फिर वही पुराना झूठ दोहराया गया कि हुण्डी की दर गिरने से किसानों का लाभ नहीं बल्कि हानि है।

बड़े पैमाने पर सोने की रफ्तनी से इतना जरूर हुआ कि १८ पेंस की दर टिकाने में सरकार को किसी कठिनाई का सामना करना नहीं पड़ा। हमारा सोना गया, रेट अपनी जगह बनी रही।

११

रिज़र्व बैंक की स्थापना

१९३१ के बाद की घटनाओं में यहां रिजर्व बैंक की स्थापना महत्व-पूर्ण स्थान रखती है।

इस प्रकार की बैंक से सम्बन्ध रखनेवाला प्रस्ताव प्रायः सौ बरस पुराना बताया जाता है। १८३६ में कुछ अंगरेज व्यापारियों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के संचालकों के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि भारतवर्ष में एक ऐसी बड़ी बैंक स्थापित की जाय जिसमें साधन और शक्ति यथेष्ट रूप से केन्द्रीभूत हों और जिसका यहां के सराफा-बाजार पर पूरा आधि-पत्य हो। पर यह प्रस्ताव ही रहा। १८६७ में फिर इस विषय की कुछ चर्चा हुई—तीनों प्रेसिडेंसी बैंकों को सम्मिलित कर एक अखिल भारतीय बैंक कर देने की सलाह सरकार को दी गई, पर कुछ नतीजा न निकला। इसके बाद भी दो-एक मौकों पर यह प्रश्न सरकार के सामने लाया गया, पर इससे परिस्थिति में कुछ भी अन्तर न पड़ा। चेम्बरलेन-कमीशन के सदस्य अध्यापक (वर्त्तमान लॉर्ड) केन्स ने, दूसरे सदस्य सर अर्नेस्ट केबल के सहयोग से, इस सम्बन्ध में एक स्कीम तैयार की, पर महासमर छिड़ जाने के कारण इसपर विचार भी न हो सका। शान्ति स्थापित हो जाने पर फिर ऐसी केन्द्रीय बैंक के प्रश्न की ओर लोगों का ध्यान गया और इस बार यह दीखने लगा कि कुछ-न-कुछ होके ही रहेगा। सफलता की दृष्टि से उस समय सबसे व्यावहारिक उपाय यही समझा गया कि तीनों प्रेसिडेंसी बैंकों का एकीकरण कर दिया जाय। अन्त में इसी एकीकरण से इम्पीरियल बैंक की सृष्टि हुई। इससे सम्बन्ध रखनेवाला विधान सितम्बर १९२० में स्वीकृत हुआ और २७ जनवरी १९२१ से अमल में लाया गया।

पर अभीष्ट-सिद्धि न हो सकी। इम्पीरियल बैंक में उन सब बातों का समावेश न था जो किसी देश या राष्ट्र की नीति को क्रियात्मक रूप देनेवाली सबसे प्रधान बैंक में होनी चाहिए। उसमें कई दोष नजर आने लगे। इम्पीरियल बैंक न तो सरकारी बैंक थी, न यथार्थतः सार्वजनिक। वह कुछ शेयरहोल्डरों के हाथ की चीज थी जिसमें अंगरेजों का प्राधान्य था—जिसकी नीति-रीति भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय की दृष्टि से पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती थी। जो बैंक सर्वोपरि हो—जो वास्तव में इस व्यवसाय-चक्र की धुरी का काम करे—उसे ऐसा काम-काज नहीं करना चाहिए जिससे और बैंकों की प्रतियोगिता हो। पर इम्पीरियल बैंक पर इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं था—व्यवसाय के क्षेत्र में वह प्रायः और बैंकों के ही समान थी, जिसका अर्थ होता है कि जो उनसे प्रतियोगिता करती थी उसी पर उनके संरक्षण की जिम्मेवारी थी। सेण्ट्रल अर्थात् केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह कुल सरकारी रोकड़ रखे और नोटों के प्रसार का प्रबन्ध करे। इम्पीरियल बैंक को कुल रोकड़ रखने का अधिकार प्राप्त नहीं था—उदाहरणार्थ, गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व सरकार अपने हाथ में ही रखती थी। नोटों के प्रसार का काम भी उसे नहीं सौंपा गया था, इसलिए पेपर करेन्सी रिजर्व भी उसके दायरे से बाहर था। कुछ ही समय बाद यह सिफारिश की जाने लगी कि भारतवर्ष में एक ऐसी नई बैंक स्थापित की जाय जो विशुद्ध सेण्ट्रल या रिजर्व (निधि) बैंक का काम करे—जिसपर करेन्सी और एक्सचेंज-सम्बन्धी पूरी जिम्मेवारी हो—और जिसे यह जिम्मेवारी पूरी करने के लिए सरकार से विशेष अधिकार प्राप्त हों। हिल्टन यंग कमीशन की यह एक खास सिफारिश थी—यद्यपि १९३४ से पहले रिजर्व बैंक-सम्बन्धी विधान न बन सका।

सरकार की ओर से जो मसविदा १९२७ में पेश किया गया वह व्यवस्थापिका परिषद् को आपत्तिजनक जंचा—खास कर इसलिए कि उसके अनुसार रिजर्व बैंक सरकारी बैंक न हो कर, शेयर-होल्डरों की बैंक होती और उसके डाइरेक्टरों अथवा संचालकों की नियुक्ति उस प्रकार न होती जो भारतीय हित की दृष्टि से वांछनीय कहा जा सकता था। सरकार अन्त

में इस बातपर राजी हो गई कि रिजर्व बैंक शेयर-होल्डरों की बैंक न होकर सरकारी बैंक हो, पर डाइरेक्टरों की नियुक्ति के प्रश्न पर एक राय न हो सकी। अर्थ-सदस्य ने एक दूसरा मसविदा परिषद् के सामने रखा और कुछ लोगों को ऐसा दीखने लगा कि इसके आधार पर समझौता हो जायगा। पर भारत-सचिव को समझौते की बात मंजूर नहीं थी, और उन्होंने भारत-सरकार को उस दिशा में आगे बढ़ने से रोक दिया। अर्थ-सदस्य को परिषद् में यह कहना पड़ा कि डाइरेक्टरों के प्रश्न पर घोर मतभेद होने के कारण सरकार इस अधिवेशन में प्रस्तुत बिल पर और कुछ विचार करना-कराना मुनासिब नहीं समझती।

कुछ ही समय बाद उसकी ओर से दूसरा बिल प्रकाशित किया गया। इसमें कितनी ही नई बातें थीं, पर बैंक को सरकारी बैंक बनाने की व्यवस्था नहीं थी। इस विषय में सरकार को उसी पुराने पहलू पर लौट जाना पड़ा था कि बैंक शेयर-होल्डरों की हो। साथ ही, यह भी व्यवस्था थी कि व्यवस्थापिका परिषद् या सभा के सदस्य इस बैंक के डाइरेक्टर न हो सकेंगे। पर परिषद् के अध्यक्ष ने अर्थ-सदस्य को यह बिल विचारार्थ उपस्थित करने की अनुमति नहीं दी। कारण यह था कि न तो इन्होंने पुराने बिल को बाकायदा वापस लिया था, न अभी इतना समय बीत पाया था कि वह बिल निरस्त या निर्जीव समझा जाय। विवश होकर अर्थ-सदस्य को सरकार की ओर से फिर उसी पुराने बिल को विचारार्थ उपस्थित करना पड़ा। पर ऐसा करते ही पुराना विरोध फिर जोर-शोर के साथ उठ खड़ा हुआ और सरकार को प्रत्यक्ष हो चला कि जो वह चाहती थी वह न हो सकेगा। लेहाजा १० फरवरी १९२८ को उसकी ओर से यह कहकर कि परिषद् के रुख को देखते हुए इस दिशा में और आगे बढ़ने से कोई लाभ नजर नहीं आता—इस विषय की चर्चा यहीं समाप्त कर दी गई।

१९३१ में सेण्ट्रल बैंकिग इनक्वायरी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि रिजर्व बैंक यथाशीघ्र स्थापित की जाय। फिर लन्दन की राउण्ड टेबल कान्फरेंस (गोलमेज परिषद्) की फेडरल स्ट्रकचर कमेटी ने भी प्रायः यही सिफारिश दोहराई। १९३३

में राजनैतिक सुधारों के सम्बन्ध में, सरकारी की ओर से एक बयान निकला। उसमें कहा गया था कि केन्द्र में अर्थ-विभाग-सम्बन्धी जिम्मेवारी भारत-वासियों को सौंप देने की दृष्टि से रिजर्व बैंक का होना अनिवार्य है—और वह रिजर्व बैंक ऐसी होनी चाहिए जिसपर किसी प्रकार का राजनैतिक दबाव न पड़ सके। इस विषय पर फिर से विचार करने के लिए एक कमेटी बैठी। इसकी रिपोर्ट अगस्त १९३३ में निकली और इसकी सिफारिशों के आधार पर रिजर्व बैंक-सम्बन्धी तीसरा बिल ८ सितम्बर को दोनों व्यवस्थापिका सभाओं में पेश किया गया। इसपर विचार होता गया और इतिहास की पुनरावृत्ति की नौबत नहीं पहुंची। कुछ हेर-फेर के साथ इस बिल ने अन्त में विधान का रूप धारण किया और ६ मार्च १९३४ को इसे बड़े लाट की स्वीकृति मिल गई। १ अप्रैल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई।

रिजर्व बैंक शेयर-होल्डरों की बैंक है। इसकी पूंजी है पांच करोड़ रुपए, और प्रत्येक शेयर सौ रुपए का है। कुछ शेयर भारत-सरकार इसलिए अपने हाथ में रखती है कि अगर कोई शख्स सेण्ट्रल बोर्ड का डाइरेक्टर चुना जाय और उसके पास कम-से-कम उतने शेयर न हों जितने डाइरेक्टर के पास होने चाहिए, तो सरकार इन शेयरों में से कुछ उसके हाथ बेच कर उसकी कमी पूरी कर दे। शेयर-होल्डर अलग-अलग प्रांतों या प्रदेशों में विभक्त हैं। और प्रत्येक प्रांत या प्रदेश का अपना खास रजिस्टर है। ये रजिस्टर बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास में रखे जाते हैं। इस बात के लिए खास विधान है कि रिजर्व बैंक के शेयर-होल्डर वही हो सकते हैं जो भारतवर्ष (या बर्मा*) के निवासी हैं या जो ब्रिटिश प्रजा की परिभाषा के अन्तर्गत हैं। व्यक्तियों के साथ कम्पनियों को भी शेयर-होल्डर होने का हक हासिल है।

---

* १ली अप्रैल १९३७ से बर्मा भारतवर्ष से अलग कर दिया गया। इसके क्या कारण थे यह बताना यहां अप्रासंगिक होगा। पर राजनैतिक पृथक्करण के बावजूद भी रुपए का स्थान वहां पूर्ववत् ही बना रहा। निर्णय यह हुआ कि मुद्रा-सम्बन्धी व्यवस्था की दृष्टि से दोनों देश एक

मूल-विधान में संशोधन करके अब यह व्यवस्था कर दी गई है कि बीस हजार रुपए से अधिक का कोई भी शेयर-होल्डर नहीं माना जा सकता। बैंक की पूंजी, सेण्ट्रल बोर्ड की सिफारिश और व्यवस्थापिका सभाओं की सिफारिश से घटाई-बढ़ाई जा सकती है। सेण्ट्रल बोर्ड के लिए जरूरी है कि सिफारिश करने से पहले भारत-सरकार की अनुमति प्राप्त कर ले। पूंजी के अलावा बैंक के पास पांच करोड़ का रिजर्व भी है। शेयर-होल्डरों को जो डिविडेंड या मुनाफा मिल सकता है वह सरकार द्वारा ३॥ प्रतिशत नियत है। उतना दे देने पर बचत होने की सूरत में उसका एक हिस्सा शेयर-होल्डरों को मिलेगा और बाकी सरकार ले लेगी।

बैंक का संचालन और प्रबन्ध डाइरेक्टरों के सेण्ट्रल बोर्ड-द्वारा होता है। इसके १६ सदस्य होते हैं; यथा (क) एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर, जो भारत-सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं; (ख) चार डाइरेक्टर, जिन्हें भारत-सरकार मनोनीत करती है; (ग) आठ डाइरेक्टर, जो शेयर-होल्डरों का प्रतिनिधित्व करते हैं—बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली की ओर से छः और मद्रास तथा रंगून की ओर से दो; (घ) एक सरकारी अफसर, जिसे भारत-सरकार मनोनीत करती है। सेण्ट्रल बोर्ड के अलावा पांच लोकल बोर्ड हैं—प्रत्येक प्रांत या प्रदेश के लिए एक। इन लोकल बोर्डों के कुछ सदस्य शेयर-होल्डरों द्वारा निर्वाचित होते हैं, और कुछ सेण्ट्रल बोर्ड-द्वारा मनोनीत। लोकल बोर्डों का काम है सेण्ट्रल बोर्ड को सलाह देना और जो जिम्मेवारी उसके द्वारा सौंपी जाय उसे पूरा करना।

बैंक का सर्वोच्च पदाधिकारी या कर्मचारी उसका गवर्नर है जो सेंट्रल बोर्ड का अध्यक्ष भी है। गवर्नर और डिप्टी गवर्नर भारत-सरकार-द्वारा

ही क्षेत्र समझे जायेंगे और व्यवस्थापक का पद भारतवर्ष की रिजर्व बैंक को प्राप्त होगा।

बर्मा पर जापान का आधिपत्य हो जाने से पहले एक रजिस्टर रंगून में भी रखा जाता था। इस समय बर्मा की मुद्राप्रणाली जापान के अधीनस्थ और देशों की-सी हो चली है।

प्राय: पांच साल के लिए नियुक्त होते हैं। बैंक का हेड ऑफिस—जिसे सेण्ट्रल ऑफिस कहते हैं—बम्बई में है, और इसके कई विभाग हैं। गवर्नर को कुछ समय कलकत्ते में भी बिताना पड़ता है।

रिजर्व बैंक का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत है, पर मोटे तौर पर वह दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। नोटों के प्रसार का काम अब सरकार स्वयं नहीं करती; उसने इसे रिजर्व बैंक को सौंप दिया है। नोट-प्रसार-विभाग को रिजर्व बैंक का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग समझना चाहिए। इसका दूसरा बड़ा अंग या विभाग बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्ध रखता है। एक का हिसाब-किताब दूसरे से बिलकुल अलग रहता है। बैंक को अपने इन दोनों विभागों का तलपट प्रति सप्ताह सरकार के पास भेजना पड़ता है और वह कुछ पत्रों में प्रकाशित भी होता है। ३१ दिसंबर १९४३ का तलपट इस प्रकार था:—

नोट-प्रसार-विभाग

	रुपया
बैंकिंग-विभाग में नोट	९,५९,७२,०००
चलन में नोट	८४०,८०,१६,०००
जोड़	८५०,३९,८८,०००

नोटों की पुश्ती करनेवाली चीजें :—

(क) सोना और सोने के सिक्के—

(१) भारतवर्ष में	४४,४१,४३,०००*
(२) भारतवर्ष के बाहर	......

*रिजर्व में इतना ही सोना बरसों से चला आ रहा है। नोट-प्रसार के लिए अभी तक वही पुरानी दर मुकर्रर है—अर्थात् १ तोला सोना = २१≡)१०.

स्टर्लिग में अदा होनेवाली	
सिक्यूरिटीज या सरकारी कागज	७३४.८३,९३,०००
	७७९.२५,३९,०००
(ख) रुपए	१२.८१.८४,०००
रुपए में अदा होनेवाली	
सिक्यूरिटीज या सरकारी कागज	५८,३२,६५,०००
जोड़	८५०.३९,८८,०००

बैंकिंग विभाग

देनदारी—	
पूंजी	५,००,००,०००
रिजर्व फण्ड	५,००,००,०००
डिपॉजिट	
(क) सरकारी	
(१) भारत-सरकार	१३,८७,४०,०००
(२) बर्मा-सरकार	५०,७८,०००
(३) दूसरी सरकारी रकमें	९,८९,८२,०००
(ख) बैंकों के	९०,१७,३९.०००
(ग) दूसरों के	७,१६,५७,०००
चुकनेवाले बिल	३,३७,८७,०००
दूसरी देनदारी	६,८१,२८,०००
जोड़	१४१,८१.११,०००
सम्पत्ति—	
नोट	९.५९,७२,०००
रुपए	१७,९३,०००
रेजगारी	१,६०,०००
हुंडियां—जो खरीदी या डिस्कूट की गई	
(क) देशी	......

(ख) विदेशी	....
(ग) सरकारी ट्रेजरी बिल	३,२५,०००
रोकड़ जो विदेशों में है	१२०,६०,००,०००
सरकार को दिया गया कर्ज	२६,००,०००
दूसरों को दिए गए कर्ज	१८,७५,०००
जो रकम शेयरों में या और चीजों में लगी हुई हैं	७,६८,५३,०००
दूसरी सम्पत्ति	३,२५,३३,०००
	१४१,८१,११,०००

नोट-प्रसार का जो काम पहले सरकार खुद किया करती थी वह अब रिजर्व बैंक के जिम्मे है। हां, बैंक-द्वारा निकाले गए नोटों के भुगतान की गारण्टी सरकार ने दे रखी है। इस काम के सुचारु रूप से सम्पादन के लिए भारतवर्ष छः सर्कलों में विभक्त है, यथा—कलकत्ता, कानपुर, लाहौर, बम्बई, कराची और मद्रास।

ऊपर नोट-प्रसार विभाग का जो तलपट दिया गया है उसमें नोट-सम्बन्धी देनदारी ८ अरब ५० करोड़ ३९ लाख ८८ हजार रुपए की दिखाई गई है—अर्थात् उस तारीख को इतने रुपए के नोट खड़े थे और इनमें से प्रायः साढ़े नौ करोड़ के नोट बैंक के अपने बैंकिंग-विभाग में थे। जब चलन में नोटों का परिमाण बताया जाता है तब ऐसे नोटों को छोड़ कर। हां, सरकारी खजाने में या दूसरी बैंकों के पास जो नोट होते हैं वे शामिल कर लिए जाते हैं।

नोटों की पुश्ती के लिए बैंक के रिजर्व या कोष में जो धन है उसमें सबसे पहली चीज है सोना। इस समय जो कुछ सोना है वह इसी देश में है, अन्यत्र नहीं। पुश्ती के लिए जहां सोना प्रायः ४४॥ करोड़ का था वहां स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज थीं प्रायः ७३५ करोड़ की। इधर लड़ाई छिड़ने के बाद भारत-सरकार ने एक रुपए के नोट जारी किए हैं। ये नोट भी तलपट के "रुपए" में शामिल हैं—अर्थात् कुछ हद तक नोटों की पुश्ती नोटों से ही की जा रही है।

वर्तमान अवस्था में मुद्रा-सम्बन्धी विस्तार या संकोच करने का उपाय है नोटों का परिमाण बढ़ा या घटा देना—और यह इस प्रकार किया जा सकता है :—

अगर पुश्ती के लिए रुपए (जिनमें एक रुपए के नोट भी शामिल हैं), सोना या किसी प्रकार की सिक्यूरिटीज (कागज) बढ़ा दी जायँ और दूसरी ओर उतने नोट जारी कर दिए जायँ, तो यह मुद्रा-सम्बन्धी विस्तार होगा। जब रिजर्व बैंक को ऐसा विस्तार करना होता है तब वह अपने बैंकिंग-विभाग से सिक्यूरिटीज को उठा कर नोट-प्रसार-विभाग में डाल देती है और उसके मद्दे नोट जारी करके बैंकिंग-विभाग को दे देती है। इसके लिए यह भी किया जा सकता है कि नए ट्रेजरी बिल निकाल दिए जायँ और उनके मद्दे नोट जारी कर दिए जायँ। ये ट्रेजरी बिल बैंक की तिजोरियों में पड़े रहेंगे और जो नोट जारी होंगे उनकी पुश्ती करेंगे। जब मुद्रा-सम्बन्धी संकोच करना होता है तब बैंक नोट-प्रसार-विभाग से सिक्यूरिटीज को उठाकर बैंकिंग-विभाग में डाल देती है और उस विभाग से जो नोट मिलते हैं उन्हें रद्द कर देती है—क्योंकि नोट-प्रसार-विभाग में सिक्यूरिटीज की जगह नोट नहीं रखे जा सकते। यह भी हो सकता है कि सरकार ट्रेजरी बिलों का भुगतान कर दे और इस प्रकार नोट-प्रसार-विभाग में जो नोट आवें वे रद्द कर दिए जायँ—अर्थात् मुद्रा-सम्बन्धी संकोच या कमी पैदा कर दी जाय। पहले करेन्सी और बैंकिंग-सम्बन्धी सूत्र अलग-अलग हाथों में थे। करेन्सी का काम स्वयं सरकार देखा करती और जहां तक बैंकिंग का सरोकार है वह इम्पीरियल बैंक से अपने साधन का काम लेती। अब परिस्थिति भिन्न है। सारे सूत्र रिजर्व बैंक के हाथ में आ गए हैं। करेन्सी, एक्सचेंज, बैंकिंग—इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाली सरकारी नीति को क्रियात्मक रूप उसीके द्वारा मिलता है। प्रबन्ध-सम्बन्धी जहां पहले अनेकता थी वहां अब एकता है, और इस एकता के कारण अब वह समन्वय हो चला है जिसका पहले अभाव-सा था।

ऊपर संक्षेप में बताया जा चुका है कि करेन्सी के क्षेत्र में रिजर्व बैंक के कर्तव्य क्या हैं। यहां बैंकिंग के क्षेत्र में उसके कर्तव्य का दिग्दर्शन कराना है।

रिजर्व बैंक वास्तव में बैंकों की बैंक है—इस सारे व्यवसाय की उसे धुरी या मेरूदण्ड समझिए। देश में जितनी ऐसी बैंकें हैं जो कुछ महत्व रखती हैं और जो रिजर्व बैंक की सूची या शेडूल में दाखिल हो चुकी हैं—उन सबको एक निश्चित रकम इसके पास रखनी पड़ती है। वह रकम क्या होगी, यह प्रत्येक बैंक की अपनी देनदारी पर निर्भर है। अगर देनदारी ऐसी है कि पावनेदार के तलब करते ही चुका देनी चाहिए तो उसे उस देनदारी का कम-से-कम ५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा रखना होगा। और अगर देनदारी चुकाने के लिए समय या मुद्दत मिलने की गुंजाइश है तो उस बैंक को पांच की जगह दो प्रतिशत ही जमा कराना होगा। रिजर्व बैंक का जो तलपट ऊपर दिया गया है उसमें "बैंकों के डिपॉजिट" प्रायः ९० करोड़ हैं। इसमें खास कर वह रकमें शामिल हैं जो शेडूल्ड बैंकों को—अपनी-अपनी देनदारी के अनुसार—रिजर्व बैंक के पास जमा करानी पड़ती है। और बैंकों की तरह रिजर्व बैंक ब्याज पर डिपॉजिट नहीं ले सकती। उस प्रतिबन्ध का उद्देश है उसे दूसरी बैंकों की प्रतियोगिता करने से रोकना। इस प्रकार रिजर्व बैंक के पास डिपॉजिट रखना इन बैंकों के लिए अपनी हिफाजत का बीमा है। गाढ़े समय में किसी भी बैंक को कर्ज के रूप में मदद के लिए रिजर्व बैंक के पास दौड़ना पड़ेगा और उसके पास डिपॉजिट के रूप में जितना अधिक धन जमा होगा उतना ही अधिक वह सहायतार्थियों की सहायता कर सकेगी।

यहां 'शेडूल्ड' या तालिकान्तर्गत बैंकों के विषय में कुछ और कहने की आवश्यकता है।

जब से रिजर्व बैंक की स्थापना हुई, यहां की बैंकें दो श्रेणियों में विभक्त हो चली हैं—एक तो वे, जो रिजर्व बैंक की तालिका के अन्तर्गत हैं, दूसरी वे जो उसके बाहर हैं। कोई भी बैंक—कुछ खास शर्तें पूरी करने पर—तालिका में दाखिल हो सकती है। एक शर्त यह है कि वह ब्रिटिश भारत में काम-काज करनेवाली कम्पनी हो, दूसरी शर्त यह कि उसके पास कम-से-कम पांच लाख रुपए की पूंजी और रिजर्व हों। ऐसी बैंकों की संख्या ३१ मार्च १९४१ को ६४ थी। इनमें ५ बर्मा में काम करनेवाली बैंकें थीं।

सबसे बड़ी शेड्यूल्ड बैंक इम्पीरियल बैंक है। बैंकिंग क्षेत्र में इसका खास अपना स्थान है। कभी यह इस देश की सेण्ट्रल बैंक होने का हौसला रखती थी। आज भी यह कई कामों में एजेण्ट की हैसियत से रिजर्व बैंक का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बाद विदेशी 'एक्सचेंज बैंकों' का नम्बर है। इनकी संख्या २० है, और ये मुख्यतः विदेशी हुंडियों के लेन-देन का काम करती हैं। इनके बाद आती हैं इस देश की पांच बड़ी बैंकें, जिनके नाम हैं—सेण्ट्रल बैंक ऑव् इण्डिया, बैंक ऑव् इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, बैंक ऑव् बड़ोदा, और पंजाब नैशनल बैंक। इनमें प्रत्येक की जगह-जगह शाखाएँ हैं और प्रत्येक के पास पांच करोड़ से अधिक डिपॉजिट हैं। बाकी बैंकों का नम्बर इन सबके बाद आता है और इनमें कुछ तो बड़ी हैं, पर कुछ बहुत ही छोटी या साधारण।

अब रिजर्व बैंक और शेड्यूल्ड बैंकों के बीच के सम्बन्ध पर एक नजर डालनी है।

प्रत्येक शेड्यूल्ड बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपनी देनदारी के हिसाब से डिपॉजिट रखना पड़ता है, यह बात ऊपर बताई जा चुकी है। इसका असली उद्देश यह नहीं कि सर्वसाधारण का जो रुपया शेड्यूल्ड बैंकों के पास जमा है उसे सुरक्षित किया जाय; क्योंकि दो या पांच प्रतिशत के हिसाब से डिपॉजिट लेने से वह उद्देश पूरा होने का नहीं। उद्देश दरअसल यह है कि रिजर्व बैंक को इस देश की बैंकिंग प्रणाली या बैंकिंग व्यवसाय पर कुछ नियंत्रण रखने का अधिकार दिया जाय। प्रत्येक शेड्यूल्ड बैंक के लिए यह जरूरी है कि वह भारत-सरकार को तथा रिजर्व बैंक को अपनी स्थिति से अभिज्ञ रखे। इसके लिए उसे प्रति सप्ताह (और अवस्था-विशेष में प्रतिमास) निर्दिष्ट प्रकार से तैयार करके अपना एक तलपट भेजना पड़ता है। न भेजने पर रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह उस बैंक के और उसके संचालकों के विरुद्ध मुनासिब कार्रवाई करे।

पर रिजर्व बैंक शासक होने के साथ सहायक भी है। शेड्यूल्ड बैंकों के लिए कानून ने यह सुविधा कर दी है कि जरूरत पड़ने पर वे रिजर्व बैंक से कर्ज ले सकती हैं। यह कर्ज उन्हें कुछ खास तरह की सिक्यूरिटीज और

हुंडियों के पेटे मिल सकता है। पर रिजर्व बैंक कर्ज देते समय यह भी देख लेगी कि कर्ज मांगने या लेनेवाली बैंक कैसे कामों में रुपया लगाती है और उसकी नीति-रीति कैसी है। रिजर्व बैंक जिस रेट या दर से निर्दिष्ट प्रकार की हुंडियों को डिस्कूट कर सकती है वह बैंक-रेट कहाती है। बैंक-रेट घटाने-बढ़ाने का रिजर्व बैंक को अधिकार है। कुछ समय से यह ३ प्रतिशत चली आती है। सराफे के बाजार पर नियंत्रण करने के लिए उसके हाथ में यही बैंक-रेट खास अस्त्र है। पर नियंत्रण के लिए इस अस्त्र का प्रयोग वह विशेष रूप से तभी कर सकती है जब बाजार में रुपए की टान या तंगी हो और शेड्ल्ड वैंकों को कर्ज के लिए उसका दरवाजा जोर से खटखटाना पड़े। जब से रिजर्व वैंक की स्थापना हुई, ऐसी अवस्था कभी उत्पन्न नहीं हुई है। रिजर्व बैंक और उपायों से भी कुछ हद तक बाजार पर हुकूमत कर सकती है। जब वह ट्रेजरी बिल बेचने चलती है तब बाजार से रुपए खैंच लेती है; जब वह स्टर्लिंग खरीदने चलती है तब बाजार में और रुपए डाल देती है। मुद्रा-सम्बन्धी इस घटा-बढ़ी का असर बैंकिंग व्यवसाय पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

जो बैंकें रिजर्व बैंक की तालिका के बाहर हैं उनकी स्थिति से भी वह अपने को अभिज्ञ रखती है और उन्हें मुनासिब सलाह देने को तैयार रहती है। एक जगह से दूसरी जगह रुपया भेजने के लिए, रिजर्व बैंक ने इनमें से कुछ खास वैंकों के लिए रियायती दर कर रखी है।

बैंकों की बैंक होने के अलावा रिजर्व बैंक सरकार की भी बैंक है। इस हैसियत से वह भारत-सरकार और प्रांतीय सरकारों का रुपया जमा रखती है (जहां न तो रिजर्व बैंक की कोई शाखा है न उसके ऐजंट इंपीरियल बैंक की, वहां सरकारी रुपया उसके अपने खजाने में रहता है), उनके आदेशानुसार भुगतान करती है, उनकी ओर से कर्ज लेती या चुकाती है और थोड़े समय के लिए उन्हें कुछ रुपए की जरूरत आ पड़ी तो इसे पूरा करती है। सरकार के लिए स्टर्लिंग खरीदने का काम भी रिजर्व बैंक ही किया करती है। साधारण बैंकिंग काम करने के लिए रिजर्व बैंक को कोई पुरस्कार नहीं मिलता, पर साथ ही, वह सरकार को उस रुपए पर कुछ भी ब्याज

देने के लिए बाध्य नहीं जो उसके पास जमा रहता है । पर सार्वजनिक कर्ज-सम्बन्धी काम करने के लिए उसे सरकार से पुरस्कार या कमीशन मिलता है ।

विभिन्न आर्थिक विषयों पर—खास कर सार्वजनिक कर्ज लेते समय—भारत-सरकार और प्रांतीय सरकारें रिजर्व बैंक से सलाह मांगा करती हैं, और सलाह देने से पहले रिजर्व बैंक प्रत्येक विषय पर व्यापक दृष्टि से विचार कर लेती है ।

रिजर्व बैंक का एक खास विभाग किसानों के कर्ज से सम्बन्ध रखने वाली समस्या के हल के लिए है । इस देश के लिए यह प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है यह बताने की आवश्यकता नहीं । रिजर्व बैंक-द्वारा सारे विषय की समीक्षा-परीक्षा की गई है और यह ऐलान किया गया है कि अगर सहकारी या कोऑपरेटिव बैंकें हमारी शर्तें पूरी कर सकती हैं तो हम उन्हें उधार देने को तैयार हैं ।

रिजर्व बैंक की जिम्मेवारियों में एक का सम्बन्ध एक्सचेंज को १८ पेंस के करीब टिकाए रखने से है । इसके लिए वह कुछ निर्दिष्ट सीमा के भीतर स्टर्लिंग की खरीद-बिक्री करने को बाध्य है । जब स्टर्लिंग बेचेगी तब १७$\frac{४९}{६४}$ पेंस से नीची रेट से नहीं—अर्थात् एक्सचेंज इससे नीचे नहीं जा सकता । जब स्टर्लिंग खरीदेगी तब १८$\frac{३}{१६}$ पेंस से ऊंची रेट से नहीं—अर्थात् एक्सचेंज इससे ऊपर नहीं जा सकता ।

साधन-सम्पन्न होते हुए भी रिजर्व बैंक को कानूनी मर्यादा के भीतर चलना पड़ता है और वह अपने साधनों का उपयोग केवल कमाई की दृष्टि से नहीं कर सकती । उसे अपने धन को बराबर ऐसे रूप में रखना पड़ता है कि आवश्यकता पड़ने पर उसे शीघ्र-से-शीघ्र, बिना नुकसान उठाए, मुद्रा में परिणत कर सके । जो औरों की हिफाजत के लिए है उसे अपनी हिफाजत का सबसे पहले ध्यान रखना पड़ता है ।

१२

साहूकार की समस्या

३ सितम्बर १९३९ को—प्रथम महासमर छिड़ने के प्राय: २५ वर्ष बाद—द्वितीय महासमर की आग धधक उठी और उसकी लपट में इस देश को फिर आ जाना पड़ा। उस आग में भारतीय धन-जन की काफी बड़ी आहुति पड़ चुकी है, और अभी पता नहीं कि हमें इस आहुति को कब तक जारी रखना पड़ेगा। कहा गया है कि हमारा यह त्याग यज्ञ-कुंड में होम-द्रव्य डालने के समान फल-प्रद होगा। इसमें कहां तक सचाई है, यह भविष्य ही बता सकता है।

अभी तक हमारे त्याग का सबसे बड़ा नतीजा यह हुआ है कि जहां हम इंगलैण्ड के कर्जदार थे वहां अब साहूकार बन गए हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हमारी सुख-समृद्धि बढ़ गई है या हमारी दीनता-हीनता कम हो गई है। साहूकार होते हुए भी हमें खाने-पीने को—पहनने को पहले से कम मिल रहा है। इस अभाव के प्रश्न ने इधर कहीं-कहीं बड़ा ही भीषण रूप धारण कर लिया है। कागजी जमा-खर्च से हम साहूकार जरूर साबित होते हैं, पर इस साहूकारी की बुनियाद हमारी फाकाकशी है—अर्थात् स्टर्लिंग के रूप में हम जो धन जमा कर सके हैं वह पेट काट कर। उस स्टर्लिंग के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न उठ रहे हैं—तरह-तरह की आशंकाएं हो रही हैं। पर उनकी आलोचना से पहले कुछ और घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

महासमर छिड़ते ही सोने के मुकाबिले स्टर्लिंग का विनिमय-मूल्य नीचे गिर पड़ा। अगस्त में हुंडी की दर ४.६८ डॉलर के आसपास थी। सितम्बर में सरकार को यह दर ४.०३ के आसपास बांध देनी पड़ी। लन्दन में सोने का बाजार २ से ४ सितम्बर और बम्बई में ४ से ७ सितम्बर तक

बन्द रहा। ५ सितम्बर को इंगलैण्ड से सोने की खरीद-बिक्री की मनाही कर दी गई। भारतवर्ष में यह नियम कर दिया गया कि बिना रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त किए कोई भी सोने को न तो बाहर से यहां मंगा सकेगा और न यहां से बाहर भेज सकेगा। देश के भीतर सोने की खरीद-बिक्री पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं किया गया। तब से यहां सोने के दाम पर सामरिक घटनाओं के (जिनमें आशाएं और आशंकाएं भी शामिल हैं) असर पड़ते रहे हैं और उनके अनुसार वह घटता-बढ़ता रहा है। मुख्य बात यह है कि आयात और निर्यात-सम्बन्धी नियंत्रण के कारण यहां का बाजार बाहर के बाजार से पृथक्-सा हो गया है। अब यह आवश्यक नहीं कि बम्बई में सोने का दाम लन्दन या न्यूयार्क के दाम का अनुसरण करे। एक औंस खालिस सोने का दाम लन्दन में १६८ शिलिंग और न्यूयार्क में ३५ डॉलर चला आ रहा है। पर यहां भारतवर्ष में दाम उत्तरोत्तर बढ़ता* ही गया है। बम्बई में इधर ऊंचे-से-ऊंचा दाम इस प्रकार रहा है :—

	फी तोला रु० आ० पा०
१९३८—३९	३७—१०—६
१९३९—४०	४३— ८—०
१९४०—४१	४८— ८—०
१९४१—४२	५८— ४—०
१९४२—४३	७२— ०—०

चांदी का दाम भी बढ़ता ही गया है। उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि इस प्रकार हुई है:—

*पुस्तक छपते-छपते (दिसंबर, १९४३) बाजार में कुछ मन्दी आ गई है और सोने-चांदी के दाम गिरने लगे हैं। २३ दिसंबर को दाम थे—सोना ७०॥) और चांदी ११३॥)। इसका एक कारण तो रिजर्व बैंक की बिकवाली है, दूसरा लोगों की यह धारणा है कि महासमर का अन्त अब दूर नहीं है।

बम्बई में १०० तोले का ऊंचे से ऊंचा दाम

	रु० आ० पा०
१९३८—३९	५३— १—६
१९३९—४०	६६— ४—०
१९४०—४१	६४—१३—०
१९४१—४२	९६— ८—०
१९४२—४३	११६— ८—०

सोने की तरह चांदी का विदेशी व्यापार भी नियन्त्रित है। इसलिए अब यह जरूरी नहीं है कि न्यूयार्क के बाजार की घटा-बढ़ी के अनुसार ही बम्बई के बाजार में भी घटा-बढ़ी हो।

और सोने की तरह चांदी को भी लोग धरोहर के रूप में रखने लगे हैं। लड़ाई-जैसे समय में उनका सोने-चांदी को ऐसी तरजीह देना अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। पर जहां एक ओर चांदी की मांग बढ़ गई है वहां दूसरी ओर उसकी आमद कम हो गई है। और भारत-सरकार ने लन्दन में चांदी बेचकर यहां उसकी और भी कमी पैदा कर दी है। इन सब कारणों से दाम इतने ऊँचे हो रहे हैं।

भारत-सरकार-द्वारा लन्दन में चांदी की बिक्री का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उसके सम्बन्ध में कुछ और कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

लड़ाई शुरू होने से पहले ही लन्दन में चांदी के बाजार में तेजी आ गई थी और जो दाम १० जुलाई १९३९ को १६$\frac{२}{१६}$ पेंस था वह २५ अगस्त १९३९ को २०$\frac{१}{१६}$ पेंस हो चला था। चांदी मिलने में कठिनाई होने लगी और दाम ऊपर चढ़ने लगा। ऐसे मौके पर भारत-सरकार ने लन्दन में हमारी चांदी बेचना शुरू किया। ऊंचे-से-ऊंचा दाम २३॥ पेंस रखा गया। इससे इंगलैण्ड को बड़ी सहायता पहुंची। सिक्कों की ढलाई और औद्योगिक कामों के लिए जब बाजार में काफी चांदी नहीं मिलती तब भारत-सरकार अपनी चांदी बेचकर वह कमी पूरी कर देती और दाम २३॥ पेंस से ऊपर न उठ पाता। इंगलैण्ड के उपकारार्थ इस प्रकार हमारी कितनी चांदी बेच दी गई इसका हमें आज तक ज्ञान भी न हो सका।

१९४२ में फेडरेशन आव् इण्डियन चेम्बर्स (भारतीय व्यापारी-महासभा) ने इस प्रकार की बिक्री का विरोध करते हुए सरकार को एक आवेदन-पत्र भेजा था, जिसमें लिखा था कि:—

"फेडरेशन की कमेटी को यह मालूम नहीं कि चांदी की बिक्री के बारे में भारत-सरकार और ब्रिटिश-सरकार के बीच क्या समझौता हो चुका है। इस विषय में सर्वसाधारण को कुछ भी बताया नहीं जाता और सारी कार्रवाई गुप्त रखी जाती है। कमेटी को इस बात का भी पता नहीं कि भारत-सरकार लन्दन में जो चांदी बेचती है वह २३॥ पेंस की दर से ही या उससे नीचे दाम में भी। अच्छा होता अगर सरकार स्पष्ट और प्रामाणिक रूप से यह बता देती कि कितनी चांदी इंगलैण्ड को बेची जा चुकी है, और किस दाम से।

"युद्ध-सम्बन्धी उद्योग-धन्धों में चांदी का उपयोग अनिवार्य-सा हो गया है, इसलिए इंगलैण्ड तथा दूसरे मित्र-राष्ट्रों को इसकी जो सख्त जरूरत है उसे महसूस करते हुए भी हम यह कह देना चाहते हैं कि जब उस चांदी का दाम और भी ऊंचा मिल सकता है तब उसे इतने नीचे दाम में बेच देना इस देश की सम्पत्ति को लुटा देना है।

"हमारी मुद्रा-प्रणाली में चांदी का विशेष स्थान रहा है। इधर सरकार ने रुपए में चांदी की मात्रा ११/१२ से घटा कर १/२ कर दी है। रुपए में अब तक जनता का जो विश्वास चला आया है उसको इस कार्रवाई से आघात पहुंचने की सम्भावना है। आज नहीं तो कल सरकार को इस विषय पर पुनर्विचार करना पड़ेगा और रुपए में चांदी की मात्रा बढ़ाकर फिर वही ११/१२ कर देनी पड़ेगी। इस दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि सरकार के पास जो कुछ भी चांदी हो उसे वह बचाकर रखे, या किसी मित्र-राष्ट्र के हाथ बेचना आवश्यक भी हो तो ऐसे दाम में बेचे कि लड़ाई के बाद जब बाजार में चांदी खरीदनी पड़े तब उसे किसी तरह का घाटा न हो।"

अमेरिका में चांदी का दाम १० जुलाई १९३९ से प्रायः ३५ सेण्ट (फी औंस खालिस चांदी) चला आ रहा था। १९४२ में अमेरिका का मेक्सिको से चांदी के दाम के बारे में नया समझौता हुआ। इसके फल-

स्वरूप ३१ अगस्त से अमेरिका में सरकार-द्वारा चांदी की खरीद की दर ४५ सेण्ट कर दी गई। जब वहां दर इतनी ऊंची हो चली तब भारत-सरकार ने लन्दन में चांदी बेचना बन्द कर दिया। इधर अमेरिका से इंगलैण्ड को चांदी उधार मिलने लगी है और लन्दन में दाम वही २३॥ पेंस चला आ रहा है।

चांदी के सिक्कों का चलन इधर बराबर कम होता गया है और आजकल नहीं के बराबर रह गया है। सरकार-द्वारा सिक्के गला-गला कर चांदी की बिक्री और लड़ाई के जमाने में लोगों का सिक्कों को धरोहर के रूप में रख लेना—इन दो कारणों से ऐसी स्थिति हुई है। १९२५ के लगभग चलन में चांदी के रुपयों की संख्या प्रायः दो अरब समझी जाती थी। पन्द्रह साल बाद का तखमीना था प्रायः १ अरब। १९४० में कई साल बाद रुपयों की ढलाई फिर शुरू हुई और नए सिक्के में चांदी की मात्रा १६५ से घटाकर ९० ग्रेन कर दी गई।

विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक संग्राम के सिलसिले में एक्सचेंज-सम्बन्धी नियन्त्रण का उल्लेख हो चुका है। लड़ाई छिड़ने पर भारत-सरकार ने भी इस प्रकार का नियन्त्रण आरम्भ कर दिया। इसके लिए उसने रिजर्व बैंक को आवश्यक अधिकार दे दिए और रिजर्व बैंक को इस विषय में प्रायः बैंक आव् इंगलैण्ड की नीति-रीति का अनुसरण करना पड़ा।

आखिर यह नियन्त्रण है क्या ?

मोटे तौर पर इसका अभिप्राय यह है कि विदेशी मुद्रा में हमें जो भुगतान मिलता है वह हम सरकार के हवाले कर दें और विदेश में भुगतान करने के लिए हमें जिस रकम की जरूरत हो वह हम सरकार से हासिल करें।

साधारण समय में जब इस प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता तब इस प्रकार के भुगतान के लिए कोई सरकार का दरवाजा नहीं खटखटाता। बाजार में ही हुंडियों की खरीद-बिक्री के जरिए सब भुगतान हो जाते हैं। पाट या टाट बेच कर अगर किसीने कुछ मार्क या डॉलर प्राप्त किए हैं तो वह उस रकम को बैंक के हाथ बेच देता है और उसके बदले यहां रुपए ले लेता है। जिसको आयात वस्तुओं का दाम चुकाने के लिए मार्क या डॉलर चाहिए वह बैंक को रुपए देकर बदले में मार्क या डॉलर हासिल कर लेता

है। पर मुद्राओं के विनिमय की दर निर्धारित कर देने के बाद सरकार या रिजर्व बैंक इस विषय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती और मुद्राओं की अदला-बदली या खरीद-बिक्री अनियंत्रित तथा अबाधित रूप से हुआ करती है।

पर असाधारण समय में—विशेषतः ऐसे महासमर के समय में—यह स्थिति नहीं रह सकती। कई कारणों से सरकार के लिए इस विनिमय को नियन्त्रित करना—इसपर प्रतिबन्ध लगाना—आवश्यक हो जाता है। आधुनिक लड़ाई जिन उपायों से लड़ी जाती है उनमें आर्थिक व्यवस्था या योजना का बहुत ऊंचा स्थान है। इस व्यवस्था या योजना के लिए बड़ी तैयारियां करनी पड़ती हैं—बड़ी बंदिशें बांधनी पड़ती हैं। सामान जुटाने में जो पिछड़ गया, समझ लीजिए, उसकी हार हो चुकी। और इतने बड़े पैमाने पर सामान जुटाना कोई आसान काम नहीं। यथासंभव एक देश को दूसरे से सहायता लेनी ही पड़ती है—जिसका अर्थ है कि उनके बीच लेन-देन के भुगतान के लिए मुद्राओं का विनिमय अनिवार्य हो जाता है।

पर यह विनिमय पहले की तरह अनियंत्रित रूप से होता रहे तो कोई भी देश अपनी आर्थिक स्थिति को अपने काबू में नहीं ला सकता। इंगलैण्ड का उदाहरण देते हैं। उसे अमेरिका में तरह-तरह के सामान खरीदने के लिए डॉलर चाहिए। ऋण लेने की बात छोड़ दी जाय तो डॉलर प्राप्त करने का प्रधान उपाय यही हो सकता है कि जिन लोगों ने वहां माल बेच रखा है और जिन्हें वहां की मुद्रा में भुगतान मिला है उन्हें अपने डॉलर सरकार के हवाले कर देने को मजबूर किया जाय। अगर ऐसा नहीं होता तो वे अपने डॉलर बाजार में बेच देंगे और इनका संभवतः ऐसा उपयोग होगा जिसे राष्ट्रीय दृष्टि से दुरुपयोग कहा जा सकता है। हो सकता है कि कोई पैसेवाला अपना पैसा इंगलैण्ड से उठा कर अमेरिका ले जाना चाहता था और उसने स्टर्लिंग देकर इन डॉलरों को खरीद लिया। हो सकता है कि किसी व्यापारी ने अमेरिका से कुछ ऐसा माल मंगा रखा था जो अमीरों के ठाटबाट को और भी बढ़ाने वाला था और उसने इन डॉलरों को खरीद कर अपना देना चुका दिया। हो सकता है, कोई शख्स सैर-सपाटे के लिए अमेरिका जाना चाहता था या

वहां पहुंच चुका था और उसने स्टर्लिंग के बदले उन डॉलरों को लेकर उनका मनमाना उपयोग किया। हर हालत में नतीजा यह हुआ कि नियन्त्रण न होने के कारण वे डॉलर सरकार को न मिल सके—उनसे उस आवश्यकता की पूर्ति न हो सकी जो सरकार महसूस करती थी—और उलटा उनका उपयोग ऐसे काम में हुआ जो युद्ध-प्रयास की सफलता की दृष्टि से अवांछनीय था।

नियन्त्रण क्यों आवश्यक था, यह हमारे पाठक समझ गए होंगे। अब उसके रंग-ढंग के बारे में कुछ कहने की जरूरत है।

नियन्त्रण का श्रीगणेश इस नियम से हुआ कि अब एक्सचेंज—अर्थात् विदेशी मुद्रा में भुगतान की रकम – की खरीद-बिक्री कुछ खास बैंकों की ही मार्फत हो सकेगी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, न्यूफौंडलैण्ड और हांगकांग के डॉलरों को छोड़ और मुद्राओं के विनिमय या खरीद-बिक्री पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। पर साम्राज्य के बाहर की मुद्राओं के सम्बन्ध में यह नियम कर दिया गया कि वे उन्हींको प्राप्त हो सकेंगी जिन्हें व्यापार के सिलसिले में कोई भुगतान करना था या सफर-खर्च के लिए उनकी जरूरत थी या जिन्हें ज़ाती खर्च के लिए छोटी-मोटी रकमें कहीं बाहर भेजनी थीं।

तब से यह नियन्त्रण उत्तरोत्तर व्यापक और कठोर होता गया है। इस समय परिस्थिति यह है:—

नियन्त्रण की दृष्टि से संसार को दो प्रधान क्षेत्रों में विभाजित समझिए। एक तो 'स्टर्लिंग क्षेत्र' है जिसके अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच लेन-देन का भुगतान स्टर्लिंग मुद्रा-द्वारा होता है। दो-एक देशों को छोड़ (जिनमें मुख्य कनाडा है) सारा ब्रिटिश साम्राज्य और उसके आश्रित देश (जैसे मिस्र, ईराक आदि) सभी इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। दूसरा प्रधान क्षेत्र वह है जिसमें अमेरिका की मुद्रा 'डॉलर' का बोलबाला है।

भारतवर्ष से जो माल बाहर जाता है उसके दाम का भुगतान प्रधानतः या तो स्टर्लिंग में होता है या डॉलर में या रुपए में। रिजर्व बैंक ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम बना दिए हैं और माल भेजनेवाले को उनका पालन

करना पड़ता है। जबतक वह निर्दिष्ट रीति से यह आश्वासन नहीं देता कि वह नियमों की पूरी पाबन्दी कर चुका है या करने जा रहा है तबतक उसे बाहर माल भेजने की इजाजत ही नहीं मिल सकती। अगर आश्वासन देने के बाद वह किसी नियम का उल्लंघन करता है तो कठोर दण्ड का भागी बन जाता है। उसे आरम्भ में ही यह बताना पड़ता है कि दाम के भुगतान के बारे में क्या तय पाया है और यह भुगतान कौन-सी बैंक के द्वारा हुआ है या होनेवाला है। फिर उसे विदेश में माल मंगानेवाले के पास सारे कागजात किसी निर्दिष्ट बैंक की मार्फत ही भेजने पड़ते हैं। माल मंगानेवाला जब भुगतान कर देगा तब बैंक सारे कागजात उसके हवाले कर देगी और वह जहाज से माल छुड़ा सकेगा। वह बैंक फिर रिजर्व बैंक को यह सूचित कर देगी कि भुगतान मिल चुका और उस विदेशी मुद्रा का रिजर्व बैंक जो उपयोग मुनासिब समझेगी, करेगी। ऐसे नियन्त्रण के कारण न तो कोई यहां से माल के रूप में अपना पूंजीपल्ला ही बाहर भेज सकता है, न भुगतान में मिली हुई विदेशी मुद्रा का मनमाना उपयोग ही कर सकता है।

यह नियन्त्रण दो-तरफा है, अर्थात् माल भेजनेवाले को ही नहीं, माल मंगानेवाले को भी अब रिजर्व बैंक-द्वारा अनुशासित होना पड़ता है। माल भेजनेवाला तो सरकार को विदेशी मुद्रा दिलाता है, पर माल मंगानेवाला उससे विदेशी मुद्रा मांगता है— इसलिए आयात-सम्बन्धी नियन्त्रण को निर्यात-सम्बन्धी नियन्त्रण से भी कठोर समझना चाहिए। १९४० में ही यह नियम कर दिया गया कि बिना सरकार से अनुमति प्राप्त किए कोई भी व्यापारी अमुक-अमुक वस्तु को विदेश से यहां न मंगा सकेगा। व्यापार के अलावा और कामों के लिए पैसा बाहर भेजने पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १९४२-४३ में आयात-सम्बन्धी नियन्त्रण और भी सख्त कर दिया गया। अब सरकार जिस चीज को मौजूदा हालत में जरूरी समझती उसीको मंगाने की अनुमति मिल सकती थी। इसका उद्देश केवल इतना ही नहीं था कि विदेश में जो धन प्राप्त हो उसका अनावश्यक वस्तुओं के दाम चुकाने में दुरुपयोग न होने पावे। और प्रकार के दुरुपयोगों को रोकने के उद्देश से भी आयात-सम्बन्धी नियन्त्रण कठोर

कर दिया गया। अनावश्यक वस्तुओं के निर्माण में अमेरिका की उत्पादन-शक्ति का दुरुपयोग संभव था। फिर, यह भी संभव था कि ऐसी वस्तुओं को वहां से यहां लाने में उस स्थान का दुरुपयोग हो जो जहाजों में मिल सकता था। वास्तव में जहाजों की बड़ी कमी हो रही थी; जितने जहाजों की जरूरत थी उतने मिल नहीं रहे थे। ऐसी स्थिति में आयात को उन्हीं वस्तुओं तक परिमित कर देने का नियम हो गया जो सरकार की दृष्टि में आवश्यक* थीं—बल्कि इस आवश्यकता का भी श्रेणी-विभाजन कर दिया गया और जिस वस्तु की आवश्यकता ऊंचे दर्जे की न हो उसका आना असम्भवप्राय हो गया।

बैंक आव् इंगलैण्ड ने डॉलर तथा कुछ दूसरी मुद्राओं में पौंड का विनिमय-मूल्य बांध दिया था। पर यह विनिमय-मूल्य ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही मान्य हो सकता था। साम्राज्य के बाहर पौंड का मूल्य इन बातों पर निर्भर था कि उसकी मांग के मुकाबिले उसकी 'बिकवाली' कैसी थी और लड़ाई के नतीजे के बारे में बाहरी दुनिया का खयाल क्या था। इसलिए पौंड की दो दरें रहने लगीं— एक तो बैंक आव् इंगलैण्ड-द्वारा नियंत्रित या निर्धारित दर, दूसरी वह दर जो न्यूयार्क-जैसे अनियंत्रित या स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित थी। इस स्वतन्त्र बाजार में पौंड की दर नियन्त्रित दर से नीची या सस्ती रहने लगी—मसलन, जिस समय बैंक आव् इंगलैण्ड-द्वारा निर्धारित दर ४.०३॥ डॉलर थी उस समय न्यूयार्क की बाजार-दर सिर्फ ३.०२ डॉलर थी। इसका एक नतीजा यह हुआ कि भारतवर्ष से अमेरिका जानेवाले माल का दाम डॉलर-मुद्रा में न चुक कर स्टर्लिंग में चुकने लगा। मान लीजिए किसीने यहां से १३।-)। अर्थात् १ पौंड का माल अमेरिका भेजा। वहां अगर सरकारी दर से भुगतान होता है तो माल मंगानेवाले को ४.०३॥ डॉलर देने पड़ते हैं। इस हालत में डॉलर

*यह दूसरी बात है कि क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक, इस सम्बन्ध में सरकार का निर्णय कभी-कभी वास्तविकता से दूर—बहुत दूर रहता है।

तो सरकार ले लेगी और यहां से माल भेजनेवाले को रुपए मिल जायंगे। पर चूंकि न्यूयार्क में बाजार-दर से पौंड ३.०२ डॉलर में ही मिल रहा है, इसलिए वहां माल मंगानेवाला उतने में एक पौंड खरीद कर इंगलैण्ड में दाम चुका देता है और यहां के व्यापारी को १३।~)। मिल जाता है। इस तरीके से भुगतान होने पर सरकार को डॉलर नहीं मिलते और उस हद तक उसकी भुगतान-सम्बन्धी अपनी कठिनाई बढ़ जाती है। यही कारण है कि कुछ समय बाद सरकार ने विभिन्न उपायों का अवलम्बन कर उन छिद्रों को प्रायः बन्द कर दिया जिनके द्वारा डॉलर-मुद्रा उसकी पहुंच से बाहर निकलती जा रही थी।

ब्रिटिश भारत की प्रजा की जो रकम डॉलर के रूप में जमा थी उसे सरकार ने दिसम्बर १९४० में स्वायत्त कर ली। जिनके डॉलर ले लिए गए उन्हें बदले में यहां रिजर्व बैंक से रुपए दिला दिए गए। निर्ख था १०० डॉलर = ३३० रुपए। १० मार्च १९४१ को सरकार इस दिशा में एक कदम और आगे बढ़ी। जिन लोगों ने अमेरिका में कुछ खास सिक्यूरिटीज खरीद रखी थीं उनके लिए भी यह लाजिमी कर दिया गया कि वे अपने कागज सरकार के हवाले कर दें और बदले में उसी निर्ख से रुपए ले लें। पिछले दिन के बाजार-भाव से उन सिक्यूरिटीज की डॉलरों में जो कीमत हुई उसका यहां रुपयों में भुगतान कर दिया गया।

रुपए के विनिमय-मूल्य में सरकार ने किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं किया है और हुंडी की दर प्रायः १८ पेंस रहती आई है। चांदी का दाम काफी ऊँचा होते हुए भी एक्सचेंज बढ़ा कर इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं की गई है। पाठकों को याद होगा कि पिछली लड़ाई में चांदी की तेजी का नाम लगाकर रुपए के विनिमय-मूल्य को १६ से २४ पेंस (सोना) कर दिया गया था। कहा गया था कि जब रुपए की चांदी की कीमत बढ़ रही है, तब उसका विनिमय-मूल्य बढ़ाए बिना वह चलन में किस प्रकार रखा जा सकता है? वास्तव में रुपया प्रतीक-मुद्रा का काम करता था, इसलिए चांदी चाहे जितनी महँगी हो रुपए की कीमत में हेर-फेर नहीं होना चाहिए था। जैसा कि उस समय भी सरकारी नीति के आलोचकों ने कहा था—

अगर चांदी महँगी हो चली है तो कुछ समय के लिए या तो रुपए में चांदी की मात्रा घटा दीजिए या कागजी रुपए से ही काम चलाइए। अगर गज लोहे के छड़ का हो और लोहा महँगा हो जाय तो गज किसी और सस्ती चीज का काम में लाया जायगा या समस्या हल करने के नाम पर गज की नाप ही सोलह से बत्तीस गिरह कर दी जायगी? मगर उस समय सरकार पर इस दलील का कुछ भी असर नहीं हुआ और वह अपने मनकी ही करके रही। इस बार भी चांदी का वही हाल है, पर रुपए के विनिमय-मूल्य ने उससे बाजी ले जाने की कोशिश नहीं की है। पहले रुपए में १६५ ग्रेन खालिस चांदी होती थी। अब वह ९० ग्रेन कर दी गई है—अर्थात् लम्बाई नापनेवाला गज कुछ हद तक लोहे का बना रहा, पर लोहा महँगा होने के कारण उसकी चौड़ाई या मुटाई आधी कर दी गई*। किसी भी हालत में चांदी के दाम के घटने-बढ़ने का कोई असर हमारे प्रतीक के विनिमय-मूल्य पर नहीं पड़ना चाहिए। गनीमत है कि इस बार वह मूल्य बढ़ाया नहीं गया है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस महासमर में हमारी आर्थिक स्थिति की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि विदेश में हमने अपना ऋण चुकाकर अब कुछ पूंजी-पल्ला इकट्ठा कर लिया है।

पहले हम इंगलैण्ड के कर्जदार थे—अब इंगलैण्ड हमारा कर्जदार है। यह परिवर्तन इस कारण हुआ है कि इंगलैण्ड हमसे जो कुछ ले रहा है उसकी पूरी कीमत चुकाने में असमर्थ है, लेहाजा उसने हमसे उधार लेना शुरु किया है। हमने इस सिलसिले में पहले अपना कर्ज उतारा, फिर उसे उधार देते गए। यों इस लड़ाई के जमाने में हम कर्जदार से साहूकार बन गए।

स्टर्लिंग में हमारा कर्ज या देना कब कितना था यह नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा। इसमें १८ पेंस के हिसाब से पौंड स्टर्लिंग के रुपए कर दिए गए हैं:—

---

*देखिए फुटनोट, पृष्ट १७२ और १७३

मार्च के अन्त में—	करोड़ रुपए
१९१४	२६५.८१
१९१९	३०४.०८
१९२४	३९३.७६
१९२९	४७२.३८
१९३४	५१२.१५
१९३९	४६९.१०
१९४३	५३.४१

अर्थात् लड़ाई छिड़ने से पहले जहां लन्दन में हमारा देना प्रायः ४६९ करोड़ था वहां मार्च १९४३ के अन्त में प्रायः ५३॥ करोड़ ही रह गया था। बाकी देना या कर्ज हम अपने सिर से उतार चुके थे। और इसके बाद लन्दन में हमारा जो पावना हो चला था उसके भी, उसी १८ पेंस की दर से, मार्च १९४३ के अन्त में प्रायः ५११ करोड़ रुपए होते थे। जबसे लड़ाई छिड़ी तबसे ३१ मार्च १९४३ तक का हिसाब इस प्रकार था :—

जमा	करोड़ रुपए
१—अगस्त १९३९ में रिजर्व बैंक के पास स्टर्लिंग	६४
२—समय-समय पर रिजर्व बैंक ने जो स्टर्लिंग बाजार में खरीदा	३८७
३—ब्रिटिश सरकार से जो भुगतान स्टर्लिंग में मिला	५७१
	१,०२२

खर्च	
१—मार्च १९४३ के अन्त तक भारतवर्ष का कर्ज चुकाने में स्टर्लिंग लगा	३८०
२—दूसरी देनदारी चुकाने में स्टर्लिंग लगा	१३१
	५११

बाकी ५११ करोड़ रुपए का स्टर्लिंग मार्च १९४३ के अन्त में रिजर्व बैंक के पास लन्दन में जमा था।

ऊपर के जमा-खर्च में रिजर्व बैंक-द्वारा स्टर्लिंग की खरीद ३८७ करोड़ रुपए दिखाई गई है। बाजार में स्टर्लिंग बेचनेवाले वे ही हो सकते हैं जिन्होंने अपना माल या श्रम बेच कर इंगलैण्ड में उसे हासिल किया है। साधारणत: यहां जितने रुपए का माल बाहर से आता है उससे अधिक का माल यहां से बाहर जाता है। ऐसी स्थिति में जिस हद तक वह आधिक्य होता है उस हद तक दूसरे देश हमारे देनदार बन जाते हैं। अगर बात इतनी ही होती तो हम आरम्भ से ही साहूकार होते और कभी हमारे इंगलैण्ड के कर्जदार बनने की नौबत न आती। पर होता यह रहा कि व्यापार में हमारा जो कुछ पावना निकला उसे तो इंगलैण्ड ने ले ही लिया, जमा-खर्च के मुताबिक हमें उलटा देनदार बना दिया!

ईस्ट इंडिया कम्पनी की अपनी पूंजी उसके कारोबार के लिए काफी नहीं थी, इसलिए बंगाल में उसे बराबर जगत्सेठ की कोठी से कर्ज लेना पड़ता था। अन्त में जगत्सेठ के लाखों रुपए डूब भी गए, क्योंकि प्रभुता हो जाने पर कम्पनी के संचालकों ने अपना देना चुकाने से इनकार कर दिया। अब इस देश का बाकायदा दोहन होने लगा—हमारे विदेशी शासक हमारी पराधीनता से जहां तक फायदा उठा सकते थे उठाने लगे। फिर एक दिन कम्पनी को रंगमंच से हटना पड़ा और शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने खुद अपने हाथ में ले ली। पर अब हमारा बोझ और भी भारी हो चला। कम्पनी को जो हर्जाना दिया गया, इस देशके आधिपत्य की जो कीमत चुकाई गई और परिस्थिति को काबू में लाने के लिए इंगलैण्ड को जो खर्च करना पड़ा उस सारी रकम के देनदार हम ठहराए गए! और फिर तो यह सिलसिला चला कि हम साल-ब-साल इंगलैण्ड से लेने की अपेक्षा कहीं अधिक माल इंगलैण्ड को देते गए, और फिर भी ऋण से हमारा पिण्ड न छूटा, बल्कि हम देनदारी के दलदल में फंसते ही गए।

श्रीबिड़लाजी ने इस विषय का विवेचन करते हुए एक जगह दिखाया है कि १८६४ और १९२९ के बीच हमने बाहर से जितने

रुपए का माल लिया उससे प्रायः २८ अरब रुपए अधिक का माल बाहर भेजा। इस माल में सोना-चांदी शामिल नहीं है। इतने समय में बाहर से प्रायः १४ अरब की सोना-चांदी यहां आई। तो इस हिसाब से हमारा, १४ अरब पावना रहा। पर असलियत में हम इस रकम से हाथ धो चुके थे और इंगलैण्ड के काफी बड़े देनदार बन चुके थे। १९२९ में हमारी इस देनदारी का तखमीना प्रायः १० अरब रुपया किया गया था। यह देनदारी स्टर्लिंग-ऋण के ही रूपमें नहीं रही है। अंगरेजों ने हमें यहां भी जो कुछ उधार दे रखा है या यहां वाणिज्य-व्यवसाय में जो कुछ लगा रखा है उस सबको इस देनदारी के अन्तर्गत समझिए।

जब से यह सिलसिला चला हम उस स्टर्लिंग को जो, आयात से निर्यात अधिक होने के कारण, हमें भुगतान में मिलता गया है, भारत-सचिव को यह कह कर अर्पित करते आए हैं कि—

"लीजिए—अपनी दरिद्रता को बरकरार रखते हुए हम जो कुछ बचा सके हैं उसे स्वायत्त कीजिए। हमारे देश में जितनी सरकारी नौकरियां अपने भाईबन्द को दे सकते हैं, देते जाइए और इस रकम से उनकी पेन्शनें चुकाइए—उन्हें ऊंचे से ऊंचा भत्ता दीजिए। यह जरूरी नहीं कि सरहदी लड़ाइयों का ही खर्च हमसे वसूल किया जाय, क्योंकि हमारे देश की सरहद वहीं है जहां इंगलैण्ड को लड़ाई लड़नी हो। ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार या हित-रक्षाके लिए भारतवर्ष के बाहर लड़ी हुई कितनी ही लड़ाइयों का खर्च हमसे वसूल किया जा चुका है—आगे भी ऐसे सिलसिले में आप जो चाहें हमारे नाम लिख कर वसूल कर सकते हैं। वेतन, पेन्शन, पुरस्कार, भत्ता, लड़ाई-खर्च—इनके अलावा और भी जिस मद में चाहें इस स्टर्लिंग का उपयोग कर सकते हैं। लाल-समुद्र या भारत-समुद्र में काम करनेवाली किसी ब्रिटिश कम्पनी को हर्जाना देना है? इंगलैण्ड में किसी पागलखाने को इमदाद पहुंचाना है? लन्दन में आए हुए तुर्की के सुल्तान के मनोरंजन के लिए नाच-रंग का आयोजन करना है? आपके बस की बात है कि जो बोझ चाहें हम पर लाद दें, जिस रकम के लिए चाहें हमें देनदार बना दें और सूद लगा कर उसे हमसे पाई-पाई वसूल कर लें।"

रिजर्व बैंक ने समय-समय पर जो स्टर्लिंग खरीदा वह कहां से आया और कहां गया यह अब स्पष्ट हो गया होगा। इतने समय में आयात से निर्यात का जो आधिक्य हुआ उसकी कीमत स्टर्लिंग में चुकी और वह स्टर्लिंग हमें रिजर्व बैंक की मार्फत, अपने शासकों के हवाले कर देना पड़ा। उन्होंने उसका उपयोग हमारी बाहर की 'देनदारी' चुकाने में किया। ऊपर की मदों में एक है—'दूसरी देनदारी चुकाने में स्टर्लिंग लगा १३१ करोड़ रु०'। यह 'देनदारी' वही है जो हमें हर साल लन्दन में चुकानी पड़ती है और जिसे अंगरेजी में Home Charges कहा जाता है। वास्तव में यह वह रकम है जो हमें अपने शासकों की 'सेवाओं' के पुरस्कार-स्वरूप हर साल इंगलैंड को देना पड़ता है। सितम्बर १९३९ से मार्च १९४३ तक इस मद में हमें १३१ करोड़ रुपए देने पड़े। स्थायी ऋण चुकाने में जो स्टर्लिंग लगा उसके ३८० करोड़ रुपए अलग थे!

वास्तव में अगर ब्रिटिश सरकार से भुगतान में हमें ५७१ करोड़ रुपए न मिले होते तो न तो हमारा इतना कर्ज चुका होता और न हमारे पास इतनी बचत होती। यह भुगतान उन चीजों की कीमत का है जो इंगलैंड, अपने और दूसरे मित्र-राष्ट्रों के लिए, हमसे लेता आया है।

इस बार धन-जन से इंगलैंड की सहायता के लिए हमें जो त्याग करना पड़ा है वह अभूतपूर्व है। लड़ाई-सम्बन्धी विभिन्न कामों के लिए हम इतने बड़े पैमाने पर सामान और आदमी जुटाते आए हैं—और वह भी ऐसी कठिनाइयों के बीच—कि उस दिशा में आगे बढ़ना अब हमारे लिए बहुत मुश्किल हो रहा है। हमारी सरकार भी यह कहने लगी है कि यहां के लोग काफी थक चुके हैं, अब हमें उनकी थकावट और न बढ़ाकर, उन्हें सुस्ताने का, कुछ हद तक अपनी भी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का अवकाश देना चाहिए। बात यह हुई है कि हमने अपने आप को आवश्यक-से-आवश्यक वस्तुओं से बंचित रखकर इंगलैंड के लिए सामान मुहैया किया है और उसकी तरह-तरह की सेवाएं करते आए हैं। अगर वस्तुओं की प्राप्ति का अर्थ सुख है और उनके अभाव का अर्थ दुख, तो इसमें तनिक भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं हो सकती कि

आज भारतवर्ष लड़ाई से पहले की अपेक्षा अधिक दीन और दुखी है। अपने को भूखा रखकर हमने मित्र-राष्ट्रों को अन्न दिया है—अपने को नग्न रखकर हमने उनके लिए वस्त्र जुटाया है। यही बात और दिशाओं में भी समझनी चाहिए। हमारे कारखाने बड़ी ही कठिनाइयों का सामना करते हुए चल रहे हैं। विशेषज्ञों की कमी है। जो कच्चा माल मिलता भी है उसे कारखाने तक पहुँचाने में सौ-सौ दिक्कतें उठानी पड़ती हैं। कल-पुरजों की घिसाई का कोई ठिकाना नहीं। और नियंत्रण के नाम पर तरह-तरह की अड़चनें अलग डाली जाती हैं। फिर इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी कारखानेवाले जो माल तैयार कर पाते हैं उसका काफी बड़ा अंश सरकार ले लेती है। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि हमें स्वयं उपवास कर अपने भोजन की सामग्री दूसरों को दे देनी पड़ती है।

उस सामग्री की कीमत हमें न तो जिन्सों में मिली है, न सोने-चांदी में। उलटा हमारी ही चांदी इंगलैंड को बेच दी गई है। हमें जो डॉलर प्राप्त होते हैं वे भी हमसे ले लिए जाते हैं। हमें कीमत चुकाई जाती है स्टर्लिंग में, क्योंकि इंगलैंड उसे किसी भी दूसरे रूप में चुकाने में असमर्थ है। ३१ मार्च १९४३ तक हमें ५७१ करोड़ रु० का भुगतान मिल चुका था। इधर और भुगतान मिला है। सब ले-देकर ३१ दिसम्बर १९४३ को रिजर्व बैंक के नोट-प्रसार-विभाग में प्रायः ७३५ करोड़ रुपए का स्टर्लिंग जमा था। इसके अलावा उसके बैंकिंग विभाग में, इस देश के बाहर, प्रायः १२० करोड़ रुपए रोकड़ और सिक्यूरिटीज के रूप में थे। याद रखने की बात है कि हमने अपना प्रायः सारा स्टर्लिंग-ऋण चुका दिया है, और अब हम इंगलैंड के कर्जदार नहीं बल्कि साहूकार हैं। जब तक लड़ाई जारी रहेगी, इंगलैंड का उधार लेना जारी रहेगा और हमारे पावने की रकम बढ़ती ही जावेगी।

अब हमारे सामने प्रश्न यह उपस्थित है कि हमने वहां जो कुछ जमा किया है या करते जायेंगे उसे कब और किस रूप में यहां ला सकेंगे?

जब हम इंगलैंड के कर्जदार थे तब उसे यह चिन्ता रहती थी कि कहीं शक्तिशाली होने पर भारतवासी अपना देना चुकाने से इनकार न कर दें, और उसकी ओर से बराबर इस बात पर जोर दिया जाता था कि स्वराज्य-सम्बन्धी विधान या संघटन में उसके हित के संरक्षण के लिए खास व्यवस्था होनी चाहिए। अब वह तो निश्चिन्त हो गया और तरह-तरह की चिन्ताएं हमको होने लगी हैं। आर्थिक क्षेत्र में इंगलैंड की आज तक की करतूतों को देखते हुए, हमारा यों चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। पर इस विषय के विवेचन में हम यह मानकर ही आगे बढ़ सकते हैं कि इंगलैंड न तो जोर-जबर्दस्ती करेगा न टाट उलटेगा—बल्कि हमसे जो कुछ ले चुका है या लेता जा रहा है उसे एक दिन पाई-पाई वापस कर देगा।

श्रीबिड़ला जी ने 'कर्जदार से साहूकार' नामक पुस्तिका* में बताया है कि इस सिलसिले में हमारी मांग क्या होनी चाहिए। वह लिखते हैं:—

"ब्रिटिश सरकार से हमारी पहली मांग यह होनी चाहिए कि हमारी स्टर्लिंग की बचत रकम, जो अभी है या बाद को इकट्ठी होगी, किसी तरह नष्ट न की जायगी, इसका वह हमें आश्वासन दे।

"पिछली लड़ाई का अनुभव इस सिलसिले में सर्वथा सुखद नहीं कहा जा सकता। यह बात छिपी नहीं है कि पिछली लड़ाई के बहुत से खर्च, जो ब्रिटिश सरकार को देने चाहिए थे वे हिन्दुस्तान के मत्थे मढ़े गए। अगर हिन्दुस्तान अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर सकता, तो जितनी रकम उसे लड़ाई के खर्च के हिसाब में मिली थी उससे कहीं ज्यादा रकम मिलती। परन्तु जो मिला था वह भी बाद में योंही बन्दर-बांट में गायब हो गया।

"...अगर हिन्दुस्तान सावधान न रहा तो इतिहास की पुनरावृत्ति हो सकती है। अतः हमें बराबर सावधान रहना चाहिए और यह मांग करना चाहिए कि जिस खर्चे से हमारी अपनी सीमाओं की रक्षा का सीधा

---

* प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल

सम्बन्ध नहीं है वह हिन्दुस्तान के नाम न लिखा जाय; न तो भविष्य में पेंशन चुकाने के लिए आज ही ब्रिटिश सरकार को एक मोटी रकम दे दी जाय और न युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण के लिए कोई रकम अलग कर दी जाय। हमारी रकम पर हमारा पुरा कब्जा रहे, क्योंकि हमारी रकम हमारी अपनी है। किसीको हमसे यह कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि अपने धन का हम क्या उपयोग करें, और क्या न करें। इस मामले में इससे कम कुछ भी हमको स्वीकार नहीं हो सकता।

"परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात इस बात की सावधानी रखना है कि भविष्य में हमारे बचे हुए स्टर्लिंग की कीमत कम न हो जाय।"

इस विषयको कुछ विस्तार से समझाने की आवश्यकता है।

मान लिया कि स्टर्लिंग के बदले हमें स्टर्लिंग ही मिलेगा, पर हो सकता है कि आज स्टर्लिंग की जो क्रय-शक्ति है वह कल न रहे—आज स्टर्लिंग से जितना माल खरीदा जा सकता है कल उतना न खरीदा जा सके। उस हालत में हमको बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। जब हमने इंगलैंड को कर्ज दिया उस समय स्टर्लिंग की जिन्सों के रूप में जो कीमत थी वह कीमत बनी रही तब तो चिन्ता की कोई बात नहीं; पर अगर वह कीमत गिर गई—अर्थात् स्टर्लिंग के बदले जिन्सें कम मिलने लगीं—तो हमको क्षतिग्रस्त होना पड़ा। श्रीबिड़लाजी का कहना है कि उस अवस्था में ब्रिटिश सरकार को हमारी क्षतिपूर्ति करने को तैयार रहना चाहिए। इसकी व्यवस्था यों हो सकती है कि हमारा जो स्टर्लिंग जमा हो उसकी मालियत जिन्सों में मुकर्रर कर दी जाय और कर्ज चुकाने के समय अगर वह मालियत कम हो तो हमें और रकम देकर वह कमी पूरी कर दी जाय ताकि हमें कोई घाटा उठाना न पड़े। स्टर्लिंग की क्रय-शक्ति में क्या कमी हुई है यह 'इण्डेक्स नम्बर्स' अर्थात् 'सूचक अंकों' से जाना जा सकता है और तदनुसार क्षति-पूर्ति की जा सकती है। मान लीजिए, जिस समय इंगलैंड को हमने कर्ज दिया उस समय वहां जिन्सों के दामों का 'इण्डेक्स नम्बर' १२५ था, और जिस समय वह कर्ज चुका उस समय 'इण्डेक्स नम्बर' था २५०। तो इसके माने हुए कि इस बीच में

स्टर्लिंग की क्रय-शक्ति आधी हो गई। ऐसी स्थिति में हमारा स्टर्लिंग में जो पावना था उसका दुगुना मिलने से ही हमारे साथ न्याय हो सकता है और हम क्षति-ग्रस्त होने से बच सकते हैं।

कहा जा सकता है कि स्टर्लिंग की मालियत का घटना ही नहीं उसका बढ़ना भी संभव है। दाम तेज हो गए तो जिन्सों में स्टर्लिंग की मालियत घट गई। पर अगर दाम मन्दे हुए तो वह मालियत बढ़ गई। अगर श्रीबिड़लाजी के प्रस्तावानुसार हमारे स्टर्लिंग की मालियत बांध दी जाती है तो हम उतनी ही पाने के हकदार होते हैं और जब दाम चढ़ते हैं—अर्थात् वह मालियत घटती है तब हमारे देनदार को हमें और स्टर्लिंग देकर अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। पर अगर दाम गिर गए—अर्थात् जिन्सों में स्टर्लिंग की मालियत बढ़ गई तब ? चूंकि हमें तो वही मालियत मिल सकती है जो निश्चित हो चुकी है, स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में हमें कम स्टर्लिंग से ही सन्तोष करना पड़ेगा। क्या यह बेहतर न होगा कि हम अपने स्टर्लिंग की मालियत को निश्चित कराने की मांग पेश न करें—उसे अनिश्चित ही रहने दें और उसकी मालियत बढ़ने की सूरत में उस परिस्थिति से लाभ उठावें ?

इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि निकट भविष्य में उस मालियत के घटने की—अर्थात् दामों के चढ़ने की ही विशेष संभावना है। लड़ाई बन्द होते ही आज की स्थिति बहुत कुछ बदल जायगी। नियंत्रण-सबन्धी बन्धन या तो रहेंगे ही नहीं, या रहेंगे भी तो शिथिल रूप में। तरह-तरह की चीजों की चारों ओर से मांग होने लगेगी। आज नियंत्रण के कारण लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने से रह जाते हैं। जो चीजें उन्हें चाहिए वे मिल नहीं सकतीं। उनकी क्रय-शक्ति दबी पड़ी है। पर कल यह अवस्था न रहेगी। सरकार की खरीदारी बन्द होने का अर्थ होगा लोगों की खरीदारी के मार्ग का खुल जाना। आज जो क्रय-शक्ति दबी पड़ी है कल वह स्वच्छन्दतापूर्वक चलने-फिरने लगेगी—और इसके फलस्वरूप दाम बढ़े बिना न रहेंगे। पुनर्निमाण का काम बरसों चलेगा और उसके लिए बहुत ही बड़े पैमाने पर चीजों की मांग

होगी। यंत्रादि-जैसे साधनों के दाम ऊंचे रहने की तो और भी अधिक संभावना हैं, क्योंकि ऐसी चीजें इंगलैण्ड से विशेषतः बाहर जानेवाली हैं। और भारतवर्ष को अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिए—नए कल-कारख़ाने खोलने के लिए इंगलैण्ड से प्रायः ऐसी ही चीजें चाहिए।

पर हम मालियत की ऐसी घटा-बढ़ी के झमेले में पड़ें ही क्यों? राष्ट्र की ओर से जुआ खेलने या दांव लगाने का किसीको अधिकार नहीं है। हमारी मांग तो यही होनी चाहिए कि हमने मालियत के रूप में जो कुछ दिया है हमें वह वापस मिलना चाहिए—न कम, न ज्यादा। जहां आग लगने या जहाज डूबने की संभावना कम—बहुत कम—होती है वहां भी कुशल व्यवसायी या व्यापारी बीमा कराए बिना नहीं रहते। वे कभी ऐसा तर्क नहीं करते कि जब संभावना इतनी कम है तब बीमा कराने के खर्च का बोझ क्यों उठाया जाय? फिर हमारी मांग यह क्यों न हो कि इंगलैण्ड में जमा होनेवाली हमारी रकम का ब्रिटिश सरकार बीमा कर दे—अर्थात् स्टर्लिंग की मालियत घटने की सूरत में हमारी क्षति-पूर्ति करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ले। कौन कह सकता है कि यह प्रस्ताव किसी भी अंश में अनुचित या अनुपयुक्त है?

इंगलैण्ड का स्टर्लिंग ऋण तो हमने चुका दिया। पर इस देश में उसने अपना जो धन वाणिज्य-व्यवसायमें लगा रखा है—और इस प्रकार हमें कर्ज दे रखा है—वह अभीतक हम नहीं चुका पाए हैं। कनाडा, दक्षिण अफ्रीका जैसे साम्राज्यान्तर्गत दूसरे देशों ने, ऐसी ही परिस्थिति से लाभ उठाकर, अपने इस प्रकार के ऋण को बहुत बड़ी हद तक चुका दिया है। पर वहां की तरह यहां भी यह तभी हो सकता है जब कि सरकार ब्रिटिश व्यवसायियों या पूंजीपतियों को अपना-अपना भुगतान लेकर हमारा बोझ हलका करने को बाध्य करे।

मुख्य बात यह है कि सारा ऋण चुका देने के बाद हमारा जो पावना निकले वह हमें जिन्सों के —अर्थात् उत्पादन-सम्बन्धी साधनों के—रूप में अनतिविलम्ब चुका दिया जाय। इसमें न कोई अड़चन डाली जाय, न कोई आनाकानी हो।

१३

सिंहावलोकन

अंगरेज यहां व्यापार के द्वारा धनोपार्जन के उद्देश से आए थे। उस काम में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे वे तुलाधार से शासन-सूत्र ार बन बैठे। पर शासक हो जाने पर भी वे लक्ष्मी के आराधक पूर्ववत् ही बने रहे—कहना चाहिए कि उनकी धनलिप्सा की आग में नई परिस्थिति ने घी की आहुति का काम किया। उसके तेज और विस्तार दोनों में कहीं-से-कहीं वृद्धि हो गई।

अंगरेजों के पूर्ववर्ती भारत-विजेता स्थायी रूपसे भारत-निवासी बन गए थे और हमारा-उनका आर्थिक स्वार्थ एक हो गया था। अंगरेजों ने हमारे साथ अपनी ऐसी एकता कभी स्थापित नहीं की। हमारे शासन की बागडोर अपनें हाथ में रखते हुए भी उन्होंने भारतवर्ष को अपना देश नहीं बनाया। उनका देश—उनका 'घर' इंगलैण्ड ही बना रहा।

भारतवर्ष के सम्बन्ध में उनकी नीति हो चली इसको इंगलैण्ड के खेत या खान की तरह बरतने की—यहां से जितना धन-धान्य खींच सकते थे, खींचकर इंगलैण्ड पहुंचा देने की। उनकी इस नीति के कारण दोनों देशों के आर्थिक हित या स्वार्थ परस्पर-विरोधी बन गए। और चूंकि यहां भक्षक से रक्षक भिन्न नहीं था, उस पारस्परिक विरोध या संघर्ष में इस देश के साथ न्याय होना असंभव हो गया।

रुपए की कहानी वास्तव में इस बात की कहानी है कि भारतवर्ष की मुद्रा-नीति का संचालन किन विविध उपायों से और किस हद तक इंगलैण्ड के हित-साधन के लिए किया गया है। अगर हम पराधीन न होते तो जो इतिहास हम पिछले अध्यायों में सुना चुके हैं वह और ही प्रकार का होता, अर्थात् उस हालत में—

(१) हमारी मुद्रा-नीति का प्रधान लक्ष्य यहां के किसानों को तथा अन्य उत्पादकों को अधिक-से-अधिक लाभ पहुंचाना होता—न कि ब्रिटिश व्यवसायियों या कर्मचारियों को।

(२) १८९३ में चांदी की टकसाल बन्द न की जाती।

(३) कभी सोने का मान या स्टैण्डर्ड ग्रहण भी किया जाता तो दूसरे देश को लाभ पहुंचाने के उद्देश से किसी विकृत रूप में नहीं।

(४) सोना भारतवर्ष में संचित किया जाता, सात समुद्र-पार इंगलैण्ड में नहीं। और इस बात का बराबर ध्यान रखा जाता कि हमारे नोटों की पुश्ती के लिए हमारे पास अधिक-से-अधिक सोना हो।

(५) भारतवर्ष में ब्रिटिश माल की खपत बढ़ाने तथा ब्रिटिश कर्मचारियों को लाभान्वित करने के उद्देश से रुपए का विनिमय-मूल्य कृत्रिम उपायों से ऊंचा न किया जाता। और इन प्रयत्नों की सफलता के लिए वह भयानक गिरावटी नीति काम में न लाई जाती जिससे समय-समय पर हमारी अमित हानि हुई है।

(६) रुपए का विनिमय-मूल्य १८९३ में १६ पेंस (सोना) न किया जाता, पर एक बार कर देने पर उसमें ये हेरफेर हर्गिज न किए जाते :—

१९१९ में २४ पेंस (सोना)
१९२७ में १८ पेंस (सोना)

(७) २४ पेंसवाली दर को टिकाने के लिए उन दामों उलटी हुंडियां न बेची जातीं और गिरते हुए को उठाने के प्रयत्न में हमारे करोड़ रुपए बरबाद न किए जाते।

(८) १९३१ में जब रुपए का सोने से पल्ला छूट गया तब उसका स्टर्लिंग से गंठबन्धन न किया जाता।

(९) मन्दी का दौर-दौरा होने पर ऐसी मुद्रा-नीति बरती जाती जो दामों को ऊपर उठाने में सहायक होती—न कि वैसी जिसने उन्हें और भी नीचे गिरा दिया।

(१०) अरबों रुपए का सोना इस देश से बाहर न जाने दिया जाता।

बाजार में बिक्री के लिए आनेवाले सोनेको सरकार खरीदती जाती और इंगलैण्ड, अमेरिकादि देशों की तरह उन्हें, नोटों की पुश्ती के लिए, अपनें कोष या रिजर्व में रखती जाती।

(११) इस देश के रुपए गला-गला कर चांदी न बेच दी जाती, और अगर बेची भी जाती तो उसकी जगह कोष या रिजर्व में सोना खरीद कर रख दिया जाता !

यह कोई पूरी सूची या तालिका नहीं है; केवल भारत की मुद्रा-नीति के इतिहास की कुछ मोटी बातों को उदाहरण-स्वरूप देकर यह बताया गया है कि स्वतंत्र होने पर हम अपनी भलाई के लिए क्या करते और क्या न करते।

हमारे शासकों की दृष्टि संकीर्ण न होकर व्यापक होती तो वे हमारे हित में अपना अहित न देखते और इस देश में ऐसी नीति बरतते जिससे हमारी ही नहीं, उनकी अपनी भी विशेष भलाई होती। भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति का तात्कालिक फल चाहे जो हो, अन्त में उससे इंगलैण्ड को लाभ-ही-लाभ पहुंचेगा। यह सच है कि जब यहां नए उद्योग-धंधे खुलेंगे तब इंगलैण्ड को उनकी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा और संभवतः उस प्रतियोगिता से उसकी कुछ हानि भी होगी। पर दूसरी ओर, भारतवर्ष की उत्पादन-शक्ति, और इसके साथ उसकी क्रय-शक्ति, बढ़ने से इंगलैण्ड के कपड़े के नहीं तो और कितनी ही चीजों के नए खरीदार पैदा हो जायंगे। इंगलैण्ड में ऊंचे दर्जे की व्यवसाय-बुद्धि होती तो वह हमारे मार्ग में रोड़े न अटका कर आगे बढ़ने में हमारा सहायक होता और हमारे हृदय पर अधिकार जमाता हुआ, अपने कल-कारखानों की पैदावार के लिए, यहां बहुत बड़ा बाजार तैयार कर लेता। इस सिलसिले में मि० ग्राहम के शब्द दोहराने लायक हैं :—

"चांदी के और एक्सचेंज के गिरने से स्वयं मुझे नुकसान पहुंचा है। पर मेरा विश्वास है कि यह नुकसान थोड़े समय के लिए है। लोग मुझसे पूछते हैं कि आप कपड़े के इम्पोर्टर होते हुए चांदी की टकसाल

खोल देने के पक्ष में कैसे हैं ? मैं उत्तर देता हूं कि यह प्रश्न एक्सपोर्ट या इम्पोर्ट का नहीं, यह तो देश की भलाई का प्रश्न है। देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाय तो एक्सपोर्टर और इम्पोर्टर दोनों ही फायदे में रहेंगे। फर्क इतना ही है कि एक्सपोर्टर फौरन फायदा उठा लेगा और इम्पोर्टर को—अर्थात् मुझको कुछ देर ठहरना पड़ेगा।"* पर मि० ग्राहम-जैसे विचार रखनेवाले ब्रिटिश व्यापारी या पदाधिकारी विरले ही हुए हैं। कलकत्ते से लन्दन तक उदारता अथवा दूरदर्शिता का नितान्त अभाव-सा रहा है। इंगलैण्ड के दृष्टिकोण में ऐसी संकीर्णता न होती तो वह, इस देश में, छोटे स्वार्थ के सामने अपने बड़े स्वार्थ को देखने में असमर्थ न होता और भारतवर्ष को खुशहाल बना कर अपनी खुशहाली की नींव को आज से कहीं ज्यादा मजबूत बना लेता।

असलियत यह है कि उसने इस देश में ऐसी नीति से काम लिया जो हमारी खुशहाली को आगे न बढ़ाकर पीछे धकेलनेवाली थी। खासकर यहां की मुद्रा-नीति ऐसी रखी गई जो इंगलैण्ड की अपनी दृष्टि से श्रेयस्कर थी, न कि भारतवर्ष की।

अगर भारतवासी अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ा लेते हैं तो यह इंगलैण्ड के हक में आर्थिक ही नहीं, राजनैतिक दृष्टि से भी बुरा होना है—इस कुविचार ने यहां की मुद्रा-नीति वैसी न होने दी जिससे यहां के उत्पादक-वर्ग को यथेष्ट सहायता मिल सकती थी—जो उद्योग-धंधों का मुद्रा-सम्बन्धी अभाव दूर कर उन्हें आगे बढ़ने के लिए उत्साहित कर सकती थी, जिससे मरुभूमि में भागीरथी बहाई जा सकती थी और बालू को सोने में परिणत किया जा सकता था। पर यह सब न होकर हुआ कुछ और ही, कारण कि "रोपै पेड़ बबूल को, आम कहा ते होय ?"

उस मुद्रा-नीति का उद्देश हो गया रुपए की मालियत—चाहे जैसे हो—ऊंची-से-ऊंची रखना, जिससे यहां रुपए कमानेवाले ब्रिटिश कर्मचारी या व्यापारी अपनी-अपनी कमाई को अधिक-से-अधिक स्टर्लिंग में तबदील

---

* पृष्ठ १३४

कर सकें—जिससे ब्रिटिश माल यहां सस्ता बिक सके और उसकी अधिक-से-अधिक खपत हो सके।

पर इंगलैण्ड के लाभ का अर्थ था भारतवर्ष की हानि। जब रुपए की मालियत बढ़ती है तब यहां दाम गिरते हैं। यह संभव नहीं कि नुकसान से बचने के लिए हम अपने दाम बढ़ा सकें। विदेश में मांग नहीं बढ़ी है या हमारे प्रतियोगी पुराने दामों में ही माल बेच रहे है तो हमें ऊंचे दाम मिल ही कैसे सकते हैं ? तो बाहर दाम तो पुराने ही बने रहे और हमारे प्रतीक की कीमत या मालियत बढ़ जाने से हमारे उत्पादकों को कम रुपए मिलने लगे। उनकी लागत प्रायः वही बनी रही जो पहले थी। लगान वही देना पड़ता है, कर वही देने पड़ते हैं, महाजन को सूद वही देना पड़ता है। और सबसे बड़ी बात यह कि मजूरी भी वही देनी पड़ती है। अगर उत्पादक मजूरों से यह कहते हैं कि रुपए का विनिमय-मूल्य बढ़ने के कारण यहां दाम गिर गए हैं, अब आप लोग अपनी मजूरी में कटौती मंजूर कीजिए तो वे मानते नहीं। झगड़ा बढ़ता है तो हड़तालें होती हैं, कल-कारखाने बन्द हो जाते हैं। यों भी उत्पादक ऐसी अवस्था में एक हद तक ही अपना काम-काज जारी रख सकते हैं। जब वे देखेंगे कि बोझ बेहद भारी हो गया तब वे उसे जमीन पर पटक देंगे और उत्पादन के धंधे से हाथ खींच लेंगे। उद्योग-धंधों के बन्द होने से बेकारी बढ़ेगी, धन-धान्य की पैदाइश घटेगी, लोग और भी दीन-हीन-विपन्न हो जायंगे। सरकार की मुद्रा-नीति के कारण यहां ऐसी स्थिति एक नहीं, अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है।

जब-जब यहां सरकार ने मुद्रा की मालियत—या यों कहिए कि हुंडी की दर—ऊंची बांधी है तब-तब उसे अभीष्ट-सिद्धि के लिए गिरावट-नीति का अवलम्बन करना पड़ा है। किसी चीज की बाजार-दर १२ पेंस है, और सरकार चाहती है कि वह १६ पेंस हो जाय, तो यह कैसे हो सकता है ? स्पष्ट है कि अगर उस चीज की पैदाइश सरकार के अपने हाथ में है तो वह उसमें कमी करके—उस वस्तु को दुर्लभ बनाके—बाजार में अपनी ऊंची दर चला सकती है।

बरसों से रुपए के सम्बन्ध में सरकार यही करती आई है। १८९३ में चांदी की टकसाल का दरवाजा सर्व-साधारण के लिए बन्द कर दिया गया। अब मुद्रा का प्रसार सरकार की अपनी मर्जी पर रह गया। जब चाहे जितना करे, न करे। रुपए की वह जो कीमत मांगती है, अगर लोग उसे देने को तैयार नहीं हैं तो उन्हें अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रुपए मिलने के नहीं। हां, मुद्रा-प्रसार रोक कर ही सरकार सन्तुष्ट नहीं हुई। जब उसने देखा कि हाथ खींच लेने से ही काम नहीं चलता तब उसने, गिरावट की दिशा में और आगे बढ़कर, तरह-तरह की कारसाजियां शुरू कर दीं। उद्देश था मुद्रा के प्रसार को समेट लेना—चलन से जहां तक हो सके रुपयों को खैंच लेना। ऊंचे-से-ऊंचे व्याज पर कर्ज लेकर, बाजार में रुपए की भीषण टान या तंगी पैदा कर दी गई। जो रुपए नोटों के रूप में आए वे जला दिए गए—जो चांदी के रूप में आए वे गला दिए गए।

मुद्रा के अभाव के कारण दाम गिरे, और दाम गिरने से तरह-तरह के संकट उपस्थित हो गए। उत्पादन की गति या तो बन्द हो गई या बिलकुल रुक गई, किसानों की मुसीबत खास तौर से बढ़ गई। आय कम हो जाने के कारण लोगों की क्रय-शक्ति क्षीण हो गई और देश भर में दुःख-दारिद्य का विस्तार हो गया। ऐसी स्थिति में सरकार की अपनी आय कम हुए बिना कब रह सकती थी? पर जब उसकी आय घटी तब करों के रूप में प्रजा का बोझ और भी भारी कर दिया गया। इस प्रकार हर ओर से वही तंग-तबाह की गई।

पर इस गिरावट-नीति के अवलम्बन का एक कुफल और हुआ। जब रुपए की दर ऊंची कर दी जाती है अर्थात् स्टर्लिंग सस्ता कर दिया जाता है तब स्वभावतः स्टर्लिंग की मांग बढ़ जाती है। यह मांग उस हालत में और भी अधिक होती है जब लोग समझते हैं कि इतनी ऊंची दर को टिकाने में सरकार कभी सफल न होगी।

मान लीजिए, आज १ रुपए के बदले सरकार ३० पेंस स्टर्लिंग देने को तैयार है और बाजार का विश्वास है कि यह दर ठहरनेवाली नहीं

है। उस हालत में जिन्हें कल स्टर्लिंग खरीदना है वे आज ही उसे खरीदने को दौड़ेंगे; बल्कि बहुत-से खरीदार ऐसे होंगे जो आज स्टर्लिंग लेकर लन्दन में छोड़ देंगे और दर गिरने पर—मसलन १५ पेंस हो जाने पर—घर बैठे एक रुपए के दो रुपए कर लेंगे। यह कृत्रिम मांग पूरी करने के लिए सरकार ने समय-समय पर करोड़ों के स्टर्लिंग और सोने को काफूर हो जाने दिया है। २४ पेंस (सोना) की दर को टिकाने के प्रयत्न में ही हमें ५५,५३२,००० स्टर्लिंग से हाथ धोना पड़ा था और प्रायः ३६ करोड़ रुपए की हानि उठानी पड़ी थी।

जब-जब यहां मुद्रा की मालियत बढ़ाई गई है तब-तब उससे होनेवाले लाभों का हमारे शासकों-द्वारा बड़ा ही आकर्षक चित्र खींचा गया है। पर इस सम्बन्ध में आज भी एक बात पूछी जा सकती है। अगर मुद्रा की मालियत बढ़ाने से सचमुच ऐसा हित-साधन हो सकता था तो क्या कारण है कि किसी भी दूसरे देश ने आज तक उस मार्ग का अनुसरण नहीं किया ? पृष्ठ २१२ पर जो तालिका है उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। उससे पता चलता है कि किस हद तक संसार में विभिन्न मुद्राओं की मालियत कम की जा चुकी है। स्वयं इंगलैण्ड ने १९२५ में गोल्ड स्टैण्डर्ड का पल्ला फिर-से पकड़ते समय अपनी मुद्रा की सोने में वही मालियत रखी जो लड़ाई से पहले थी। यह गौरव सिर्फ हमको प्राप्त हुआ कि जहां उस लड़ाई से पहले हमारे रुपए की मालियत १६ पेंस थी वहां लड़ाई के बाद वह पहले तो २४ और फिर बाद १८ पेंस हो चली। यह बात समझाने के लिए विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं कि अगर मालियत बढ़ानेवाला नुसखा इतना गुणकारी होता तो और देश भी उससे लाभ उठाए बिना न रहते।

अगर इंगलैण्ड को हमारे हित का ध्यान होता तो १९३१ में वह हमें अपना अनुकरण करने से न रोकता और रुपए को स्टर्लिंग के बन्धन से मुक्त हो जाने देता। मन्दी के उस दारुण समय में भी इस देश की मुद्रा-नीति दामों को उठानेवाली, किसानों के कर्ज का बोझ हलका करनेवाली, बुझे हुए दिलों में आशा और उत्साह को लौटानेवाली न हो सकी।

फिर एक बार लड़ाई छिड़ी और इंगलैण्ड भारतवर्ष से धन-जन-सम्बन्धी जितनी सहायता ले सकता था, लेने लगा। इंगलैण्ड हम से जो कुछ लेता है उसकी कीमत सोने-चांदी या डॉलर-जैसी मुद्रा में चुकाने में असमर्थ है, इसलिए वह सारा भुगतान कागजी स्टर्लिंग में करता है। भारत-सचिव को ब्रिटिश सरकार से जो स्टर्लिंग प्राप्त होता है वह उसे रिजर्व बैंक को देकर उससे यहां सरकार को रुपए दिला देते हैं। उस स्टर्लिंग से सिक्यूरिटीज खरीद कर रिजर्व बैंक की लन्दन-शाखा में रख दी जाती है और यहां उनके मद्दे नोट निकाल कर चलन में डाल दिए जाते हैं। लन्दन में प्राप्त होनेवाले स्टर्लिंग का एक हिस्सा भारतवर्ष के ऋण को चुकाने में खर्च कर दिया गया है, फिर भी इस समय वहां प्रायः ८५० करोड़ का स्टर्लिंग जमा है। यों भारतवर्ष कर्जदार से साहूकार बन गया है, और इस समय हमें चिन्ता है तो इस बात की, कि इंगलैण्ड से हमारा यह पावना कब और किस रूप में वसूल हो सकेगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि उस स्टर्लिंग के मद्दे यहां नोटों के रूप में रुपए जारी कर दिए गए हैं। इस समय नोट-प्रसार प्रायः ८५० करोड़ है। लड़ाई से पहले यह प्रायः २१३ करोड़ था। मुद्रा के परिमाण में यह वृद्धि 'फुलावट' कही जा सकती है या नहीं?

इसके उत्तर के लिए मीमांसा-भाग का तृतीय अध्याय देखना चाहिए। वहां फुलावट की परिभाषा यह दी गई है—"आवश्यकता से अधिक······हद से बाहर नोटों का चलण", और बताया गया है कि "यह तरीका तभी काम में लाया जाता है जब कि सरकार आर्थिक कठिनाइयों में फंसी हुई होती है या दिवालिया बनने की राह पर होती है।"

भारत-सरकार की स्थिति ऐसी नहीं कही जा सकती। न तो वह आर्थिक कठिनाइयों में फंसी हुई है, न दिवालिया बनने की राह पर है। यहां जो नोट-प्रसार हुआ है उसे मीमांसा-भाग के लेखक के शब्दों में "स्वाभाविक विस्तार" कहना ही उपयुक्त होगा। यहां भारत-सरकार को आर्थिक संकट से उबारने के लिए नोट नहीं छापे गए हैं। यहां तो इतना ही हुआ है कि इस देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ी है, दाम बढ़े हैं,

और आवश्यकतानुसार नोटों का प्रसार बढ़ा है। यह सच है कि रिजर्व में इन नोटों की पुश्ती के लिए सोने की जगह स्टर्लिंग है। पर स्टर्लिंग के पीछे ब्रिटिश सरकार की साख है और उसकी क्रय-शक्ति आज भी खासी अच्छी है।

नोटों के चलन के सम्बन्ध में दो-एक और बातें ध्यान में रखने की हैं। पहले नोटों के साथ चांदी के रुपए भी चलन में थे। अब चांदी के रुपयों का चलन नहीं के बराबर रह गया है। फिर नोटों की बहुत बड़ी तादाद बैंकों में या अन्यत्र अक्रिय पड़ी हुई है। बाजार में माल के खरीदार हैं, पर माल नहीं हैं। कहना चाहिए कि लोगों की क्रय-शक्ति दबी पड़ी है और उसका दामों पर कोई असर नहीं पड़ रहा है। यहां दामों का बढ़ना विशेषतः जिन्सों के अभाव के कारण हुआ है, न कि चलन के विस्तार के कारण।

रुपए से हमारी जो सेवा हो सकती थी उसे वह अभी तक नहीं कर पाया है। पर आशा की जाती है कि देश के भावी निर्माण में वह समुचित भाग ले सकेगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रुपया आखिर एक प्रकार का टिकट या चिह्न-मात्र है जिससे केवल यह सूचित होता है कि अमुक ने इतना श्रम किया या उत्पादन किया या इतने का माल बेचा। बड़े अफसोस की बात होगी अगर निर्माण का कार्य इसलिए स्थगित रहे कि सरकार के पास काफी टिकट या प्रमाणपत्र नहीं हैं। भारत-भूमि रत्नगर्भा है। उन रत्नों को बाहर निकालने के लिए करोड़ों श्रमिक मौजूद हैं। आवश्यकता है ऐसी मुद्रा-नीति की जो अक्रिय को सक्रिय बना सके, बेकार को काम में लगा सके, प्रकृति ने अपनी मुट्ठी में जो कुछ बन्द कर रखा है उसे बाहर निकाल कर सर्वसाधारण के लिए उपलभ्य कर सके।

पर यह तभी हो सकता है जब वह मुद्रा-नीति सचमुच हमारी अपनी हो। रुपए के इतिहास की सड़क अन्त में हमें इसी नतीजे पर पहुंचाती है कि स्वतंत्र हुए बिना हम न तो उसका अपने हित-साधन के लिए सदुपयोग कर सकते हैं, न दुःख-दारिद्र्य के इस दलदल से निकल सकते हैं।

परिशिष्ट

१

जिन्सों का आयात और निर्यात*

साल	आयात	निर्यात	आयात से निर्यात अधिक
		लाख रुपए	
१९०९–१० से १९१३–१४ तक का सालाना औसत	१४५.८५	२२४.१२	७८.२७
१९१४–१५ से १९१८–१९ तक का सालाना औसत	१४७,८०	२२४,११	७६,३१
१९१९–२० से १९२३–२४ तक का सालाना औसत	२५४,०५	३००,९६	४६,९१
१९२४–२५ से १९२८–२९ तक का सालाना औसत	२४१,४३	३५१,९२	११०,४९
१९२९—३०	२४०,८०	३१७,९३	७७,१३
१९३०—३१	१६४,८०	२२५,६४	६०,८४
१९३१—३२	१२६,३७	१६०,५५	३४,१८
१९३२—३३	१३२,५९	१३५,४९	२,९०
१९३३—३४	११५,३६	१५०,६७	३५,३१
१९३४—३५	१३२,२९	१५५,२२	२२,९३
१९३५—३६	१३४,४२	१६४,२९	२९,८७
१९३६—३७	१२५,२४	२०२,३७	७७,१३

---

*जो माल भारत-सरकार ने मंगाया या बाहर भेजा वह इस तालिका के बाहर है।

१९३७—३८ से बर्मा ब्रिटिश भारतवर्ष का अंग नहीं है।

१९३७—३८	१७३,७९	१८९,२१	१५,४२
१९३८—३९	१५२,३६	१६९,२२	१६,८६
१९३९—४०	१६५,२९	२१३,५८	४८,२९
१९४०—४१	१५६,७९	१९८,६७	४१,८८
१९४१—४२	१७३,०१	२५२,९१	७९,९०
१९४२—४३	११०,३४	१९४,५५	८४,२१

२

सोने का आयात (+) या निर्यात* (–)

साल	औंस में वजन	रुपयों में कीमत
१९००–०१ से १९०४–०५ तक का सालाना औसत	+ ९७६,२०६	+ ६,२३,४३,७७४
१९०५–०६ से १९०९–१० तक का सालाना औसत	+ १,८४४,७७९	+ ११,७४,५३,०६५
१९१०–११ से १९१४–१५ तक का सालाना औसत	+ ४,१११,३८८	+ २४,३४,२१,७१७
१९१५–१६ से १९१९–२० तक का सालाना औसत	+ २,१४५,८३४	+ १३,४१,४२,७७६
१९२०–२१ से १९२४–२५ तक का सालाना औसन	+ ४,५१९,८०७	+ २८,७०,९५,२८२

---

* भारत-सरकार और व्यापारियों-द्वारा जो सोना या चांदी यहां मंगाई गई या बाहर भेजी गई उसकी स्थिति इन दो तालिकाओं में दिखाई गई हैं। जोड़-बाकी के बाद जो आयात या निर्यात बचा वही संख्याओं-द्वारा सूचित किया गया है। जब से लड़ाई छिड़ी, सोने-चांदी के आयात या निर्यात से सम्बन्ध रखनेवाले आंकड़ों का प्रकाशन बन्द है।

१९२५–२६	+६,१३५,५८१	+३६,८२,८२,३९१
१९२६–२७	+३,३८५,५२१	+११,१०,०५,६६८
१९२७–२८	+३,६८१,३५१	+१८,१०,००,०२३
१९२८–२९	+३,७८५,६६१	+२१,११,८३,१७८
१९२९–३०	+२,५२३,५६२	+१८,२२,०८,३१६
१९३०–३१	+२,२६२,६५३	+१२,७५,१८,११५
१९३१–३२	−७,६२१,३७७	−५७,९७,२७,८६२
१९३२–३३	−८,३५३,८२१	−६५,५२,२७,१५६
१९३३–३४	−६,६१५,२१८	−५७,०५,३५,९६१
१९३४–३५	−५,६१४,८२०	−५२,५३,७४,६०७
१९३५–३६	−४,०११,२६२	−३७,३५,५१,१५५
१९३६–३७	−३,०११,०३६	−२७,८४,६१,१२१
१९३७–३८	−१,७६६,८१७	−१६,३३,१८,१२१
१९३८–३९	−२,३८७,६४७	−२३,२६,०२,०६८
१९३९–४०	−४,१५५,३४३	−४४,६४,३०,८२२
१९००–०१ से १९३०–३१ तक ३१ वर्षों का जोड़	+८९,२४४,५९२	+५,४७,७५,४७,८२१
१९३१–३२ से १९३९–४० तक ९ वर्षों का जोड़	−४३,७१३,४२९	−३,८२,५२,३८,०६९

३

चांदी का आयात (+) या निर्यात* (−)

साल	औंस में वजन	रुपयों में कीमत
१९००–०१ से १९०४–०५ तक का सालाना औसत	+५७,०४९,२७८	+१०,११,४१,९१४

* देखिए फुटनोट, तालिका २ (परिशिष्ट)

१९०५–०६ से १९०९–१० तक का सालाना औसत	+८७,०३७,३७२	+१५,४५,४४,०३०
१९१०–११ से १९१४–१५ तक का सालाना औसत	+६१,०११,३०१	+१०,६१,४१,३२३
१९१५–१६ से १९१९–२० तक का सालाना औसत	+१०६,७२५,६१५	+२७,९६,३८,६२५
१९२०–२१ से १९२४–२५ तक का सालाना औसत	+ ७३,६०८,६२३	+१५,७४,१३,८२७
१९२५–२६	+ ९३,३६३,७५४	+१७,१२,४१,१५०
१९२६–२७	+१२४,२४२,३४५	+१९,८६,८०,३३५
१९२७–२८	+ ९२,८२१,८१३	+१३,८३,६४,६२७
१९२८–२९	+ ६३,८२०,९०९	+ ९,७७,०६,९२६
१९२९–३०	+ ६२,५२०,५४४	+ ८,६२,१२,१९८
१९३०–३१	+ ८०,५३५,९३५	+१०,०७,९३,०५६
१९३१–३२	− ११,१४१,२८१	− ४२,१७,०८८
१९३२–३३	− २४,५१७,२९२	− २,०१,३०,९५१
१९३३–३४	− ५२,९८९,०९०	− ६,३५,७१,४२६
१९३४–३५	− ३८,६४३,८९४	− ५,४०,६४,८०२
१९३५–३६	+ १,५१६,०७८	− ५७,३४,७१९
१९३६–३७	+११०,१११,४६५	+१३,५९,१७,०२४
१९३७–३८	+ ११,९४५,२२३	+ १,५०,८२,८३५
भारतवर्ष	+ १५,७७८,९८४	+ १,५७,२८,२९०
बर्मा	− ६,०३१,९९२	− ४४,५९,५८९
१९३८–३९	+ ४,०३६,५७८	+ ५७,९१,६०६
भारतवर्ष	+ ११,८९९,९६०	+ १,६८,५२,७८०
बर्मा	− ८,३०३,२७५	− १,०७,९४,०६३
१९३९–४०	+ १३,८२२,०९६	+ १,४८,४४,२८७
भारतवर्ष	+ १४,८०६,१४१	+ ८५,६२,९७१
बर्मा	− ६०४,३६२	+ ८१,८०,९८६

४

नोट-प्रसार

लाख रुपए

(साल के अन्त में)	कुल नोट	सार्वजनिक चलन में
१८९९–१९००	२८,३४	२२,१०
१९०९–१०	५४,४१	३९,९९
१९१३–१४	६६,१२	४९,९७
१९१८–१९	१,५३,४६	१,३३,५८
१९१९–२०	१,७४,५२	१,५३,७८
१९२०–२१	१,६६,१६	१,४७.८८
१९२१–२२	१,७४,७६	१,५७,२३
१९२२–२३	१,७४,७०	१,६१,१०
१९२३–२४	१,८५,८५	१,६९,०६
१९२४–२५	१,८४,१९	१,६६,५५
१९२५–२६	१,९३,३४	१,६७,७१
१९२६–२७	१,८४,१३	१,६४.३१
१९२७–२८	१,८४,८७	१,७४,५३
१९२८–२९	१,८८,०३	१,७८,१०
१९२९–३०	१,७७,२३	१,५९,३०
१९३०–३१	१,६०,८४	१,४७,९३
१९३१–३२	१,७८,१४	१.६५,१७
१९३२–३३	१,७६,९०	१,५०,३४
१९३३–३४	१,७७,२२	१,६३,८८
१९३४–३५	१,८६,१०	१,६३.५६
१९३५–३६	१,९५,५८	१,६८,८२
१९३६–३७	२,०४,००	१,९४,३८

१९३७–३८	भारतवर्ष	२०६,२०	१७८,२०
	बर्मा	७,८३	७,८३
१९३८–३९	भारतवर्ष	१९६,४७	१७८,३६
	बर्मा	१०,७६	१०,७४
१९३९–४०	भारतवर्ष	२३८,४३	२२५,१०
	बर्मा	१३,७८	१३,४५
१९४०–४१	भारतवर्ष	२५१,८१	२४०,५५
	बर्मा	१७,४४	१७,११
१९४१–४२	भारतवर्ष	३९२,७१	३८१,७३
	बर्मा	२८,३५	२८,३३
१९४२–४३	भारतवर्ष	६५५,११	६४३,५८

५

टकसालों में कब कितने (पूरे) रुपए ढले

		रुपए
चतुर्थ विलियम	१८३५	१६,३९,७८,५७२
विक्टोरिया,	१८४०, पहली बार	३१,१६,७०,९२४
”	१८४०, दूसरी बार	७६,६५,६०,९३७
”	१८६२	७०,६९,१२,१७९
”	१८७४	४,३५,२२,४००
”	१८७५	३,०९,९१,५४८
”	१८७६	४,०९,५०,३०१
”	१८७७	१३,४८,०६,०१२
”	१८७८	९,६५,८५,०३३
”	१८७९	८,८७,२८,२२९
”	१८८०	७,२१,८५,५१८
”	१८८१	५५,९७,५७७

"	१८८२		७,१४,८७,५६७
"	१८८३		२,३१,४६,१६१
"	१८८४		४,८४,८८,३२७
"	१८८५		९,९०,३०,२०३
"	१८८६		५,२०,२४,५३२
"	१८८७		८,८६,००,१४८
"	१८८८		७,०७,६८,०००
"	१८८९		७,४६,६८,३१०
"	१८९०		११,७६,४१,८६५
"	१८९१		६,४१,६९,९०३
"	१८९२		१०,४६,५५,१२०
"	१८९३		७,८७,३०,३१०
"	१८९७		१५,२४,७७७
"	१८९८		७५,१९,४१३
"	१९००		११,८१,३९,४९९
"	१९०१		१०,९१,३५,९६१
"	१९०१	(१९०२ में ढले)	९,३१,३९,३८४
सप्तम एडवर्ड	१९०३		२५,०००
"	१९०३		१०,२३,४७,५०६
"	१९०४		१६,०२,७८,९०८
"	१९०५		१२,७४,६०,१०६
"	१९०६		२६,३७,५० ४३३
"	१९०७		२५,२२,४९,८१६
"	१९०८		३,०९,३२,४९८
"	१९०९		२,२२,९७,३२६
"	१९१०		१,७६,८८,६७३
"	१९१०	(१९११ में ढले)	५८,२३,२८६
पंचम जॉर्ज	१९११		९४,४३,०४९

"	१९१२	१२,४१,८९,२०६
"	१९१३	१६,३२,६५,९५१
"	१९१४	४,८३,७०,१५०
"	१९१५	१,५२,७२,११८
"	१९१६	२१,२९,००,२१०
"	१९१७	२६,४७,८२,८७६
"	१९१७ (१९१८ में ढले)	१७,७४,०२५
"	१९१८	४१,१८,७६,६०३
"	१९१८ (१९१९ में ढले)	४०,९४,००६
"	१९१९	४२,३५,१२,२७८
"	१९१९ (१९२० में ढले)	१,४४,००,०३१
"	१९२०	९,४५,३६,६२९
"	१९२० (१९२१ में ढले)	६४,००,०६४
"	१९२० (१९२२ में ढले)	५,६४,०००
"	१९२० (१९२३ में ढले)	४९,३६,०५०
"	१९२१	५१,१५,१२१
"	१९२२	२०,५१,१५०
षष्ठ जॉर्ज	१९३८ (१९४० में ढले)	९८,०२,१७८
"	१९४०	२,३५,००,००२
"	१९४१	२४,११,००,००१
"	१९४२	२३,७१,००,००१
	जोड़	६९८,७५,९७,९६१

१९२२ और १९४० के बीच नए रुपयों की ढलाई नहीं हुई।

ढलाई के जो आंकड़े ऊपर दिए गए हैं उनमें ऐसे सिक्के भी शामिल हैं जो समय-समय पर देशी रियासतों के लिए ढाले गए हैं।

६

चलन की घटा-बढ़ी

हर साल के अन्त में यह हिसाब किया जाता है कि कितने नोट या रुपए चलन में गए (Absorption of currency) और कितने चलन से निकल आए (Return of currency)। चलन से यहां मतलब सार्वजनिक चलन से है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले इसे निश्चित करने का यह तरीका था :—

(१) नोटों के सम्बन्ध में यह देखा जाता था कि कितने नोट जारी किए जा चुके थे और साल के अन्त में कितने सरकारी खजाने (Treasuries) और इम्पीरियल बैंक की प्रधान शाखाओं में रह गए थे। जो बाकी बचता वह (सार्वजनिक) चलन में समझा जाता।

उदाहरण—१९२८-२९ के आरम्भ में (सार्वजनिक) चलन में १,७४,५३ लाख रुपए के नोट थे। उसके अन्त में चलन में थे १,७८,१० लाख रुपए के नोट। तो इसके माने यह हुए कि उस साल और ३,५७ लाख रुपए के नोट चलन में गए।

१९३४-३५ के आरम्भ में (सार्वजनिक) चलन में १,९३,८८ लाख के नोट थे। उसके अन्त में चलन में १,९३,५६ लाख के नोट थे। तो इसके माने यह हुए कि उस साल चलन से ३२ लाख के नोट वापस आ गए।

नोट ज्यादा जारी किए गए—उनका प्रसार बढ़ा—लेकिन नए नोट सरकार के अपने खजाने में ही पड़े रहे तो (सार्वजनिक) चलन में कोई वृद्धि नहीं हुई। इसी प्रकार अगर चलन से नोट वापस आए और करेन्सी रिजर्व में न जाकर सरकारी खजाने में पड़े रहे तो नोट जितने जारी किए जा चुके थे उतने ही खड़े रहे—उनके प्रसार में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।

(२) रुपयों के सम्बन्ध में यह देखा जाता था कि कितना सरकारी खजाने (Treasuries) और करेन्सी रिजर्व में बच रहा, कितना टकसाल

में ढल कर आया और कितना गलाने या फिर से ढालने के लिए टकसाल भेजा गया। इस जोड़-बाकी हिसाब से यह पता चल जाता कि चलन में कितना गया या चलन से कितना वापस आया। (इम्पीरियल बैंक की प्रधान शाखाओं में जो रुपया रहता वह इस हिसाब में नहीं लिया जाता था, क्योंकि उसका परिमाण बहुत कम होता था।)

उदाहरण—१९३२-३३ के आरम्भ में रोकड़ इस प्रकार थी :—

सरकारी खजाने में	१,००	लाख रुपए
करेन्सी रिजर्व में	१,०१,९६	,, ,,
जोड़	१,०२,९६	,, ,,

साल के अन्त में रोकड़ इस प्रकार थी :—

सरकारी खजाने में	९३	लाख रुपए
करेन्सी रिजर्व में	९६,३४	,, ,,
जोड़	९७,२७	,, ,,

अर्थात् ५,६९ लाख रुपए (सार्वजनिक) चलन में गए। पर उसी साल १३,२५ लाख रुपए टकसाल में गलाने या फिर से ढालने के लिए भेजे गए। तो निष्कर्ष यह निकला कि उस साल (१३,२५—५,६९) अर्थात् ७,५६ लाख रुपए चलन से निकल आए।

रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद से यह हिसाब इस प्रकार होने लगा है :—

अब सरकारी खजाने (Treasuries) के नोट सार्वजनिक चलन के अन्तर्गत माने जाते हैं। कितने नोट चलन में गए या कितने वापस आए, यह पता लगाने के लिए सिर्फ रिजर्व बैंक के प्रसार-विभाग (Issue Department) के नोटों की घटा-बढ़ी पर ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार, कितने रुपए चलन में गए या कितने वापस आए—इसका पता अब रिजर्व बैंक के प्रसार-विभाग की रोकड़ की घटा-बढ़ी से ही चलता है।

कब कितनी करेन्सी चलन में गई और कब कितनी उसमें से वापस आ गई (–) उसका लेखा नीचे दिया जाता है :—

	[illegible]		
	रुपया*	नोट	जोड़
१९१४-१५ से १९१८-१९ तक ५ वर्षों का औसत	२२.०८	१६.३२	३८.८०
१९१९-२०	२७.०२	२२.२०	४०.२२
१९२०-२१	२५.३८	-५.९०	-३१.५८
१९२१-२२	-१०.८३	२.३५	-१.११
१९२२-२३	-२.५३	३.८७	-५.३९
१९२३-२४	७.३२	७.९३	११.५८
१९२४-२५	३.३५	-२.५१	१.१४
१९२५-२६	-८,१७	१.९३	-३.०१
१९२६-२७	-११.७३	-३.४०	-२३.९३
१९२७-२८	-३.७५	१०.२२	३.८७
१९२८-२९	-३,०३	३.५७	७४
१९२९-३०	-२१,७१	-१८,८०	-४०.५१
१९३०-३१	-२१,५८	-११,३७	-३२.९५
१९३१-३२	३,९३	१७.२४	२१.१७
१९३२-३३	-७,५३	-१४,८३	-२२.३९
१९३३-३४	-३०	१३,५४	१३,२४
१९३४-३५	-३,२१	-३२	-३,५३
१९३५-३६	-९,६१	५,२३	-४,१५
१९३६-३७	-२,४९	२५,५३	२३,०४
१९३७-३८	-६,५२	-८,२३	-१४,७५
१९३८-३९	-१२,६०	२,९८	-९.६२
१९३९-४०	१०,०८	४९,४५	५९,५३

*इसमें रेजगारी शामिल नहीं हैं। पर इधर भारत-सरकार-द्वारा जारी किए गए एक रुपए के नोट शामिल हैं।

१९४०–४१	३३,२३	१९,११	५२,३४
१९४१–४२	७,१८	१५२,४०	१५९,५८
१९४२–४३	४४,९७	२६१,८५	३०६,८२
(केवल भारतवर्ष)			
१९१९–२० से १९३८-३९ तक २० वर्षों का जोड़	—१,३०,५५	५२,०८	—७८,४७
१९१९–२० से १९३८–३९ तक २० वर्षों का औसत	—६,५३	२,६०	—३,९३
